Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

NAGRI PRACHARNI PATRIKA

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

LIB. G.K.V.

P २
८०
का २५ना
वर्ष - ६२

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

110768

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

विषय संख्या
पुस्तक संख्या
आगत पंजिका संख्या

पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

स्टाक प्रमाणीकरण १९८४-८५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

CHECKED 1973

वर्ष ६३ संवत् २०१५ अंक १

★

संपादकमंडल

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : श्री करुणापति त्रिपाठी

डा० बच्चनसिंह (संयोजक)

सहायक संपादक

श्री राधाविनोद गोस्वामी

★

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वार्षिक मूल्य १०) : : इस अंक का २॥)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्रिका के उद्देश्य

१ – नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।
२ – हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।
३ – भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।
४ – प्राचीन अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

सूचना

१ – प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२ – पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३ – पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४ – लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५ – पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

110768
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
110768

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६३
संवत् २०१५
अंक १

संपादकमंडल

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
श्री करुणापति त्रिपाठी
डा० बच्चनसिंह (संयोजक)

सहायक संपादक

श्री राधाविनोद गोस्वामी

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयसूची

१. लोकवार्ता और नृतत्व—श्री गोपालशरण १
२. कालिदास और गुप्त सम्राट्—डा० डोलरराय रंगीलदास मांकड ... ५
३. समर्थ रामदास और उनके अप्रकाशित हिंदीपद—श्री विनयमोहन शर्मा ३०
४. हिंदी भाषा के कोशनिर्माण की कुछ समस्याएँ—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ४३
५. नरहरि महापात्र का सोनेलोहे का झगड़ा—श्री अगरचंद नाहटा ... ५४

विमर्श

'नवकर वाली मणिअड़ा' पद्य का वास्तविक अर्थ—श्री अगरचंद नाहटा ... ५६
निरनुनासिक न और म—श्री रमापति शुक्ल ६०
चयन ६२
निर्देश ७१

समीक्षा

परती परिकथा—डा० बच्चनसिंह ७२
शैवमत—श्री पं० बलदेव उपाध्याय ७४
बांसुरी बज रही—श्री ठाकुरप्रसाद सिंह ७७
शिक्षा की समस्या तथा तालीम की बुनियादें—श्री मोतीसिंह ... ७८
रेती के फूल—श्री विजयशंकर मल्ल ८२
हिंदी साहित्य का विकास और कानपुर—श्री विजयशंकर मल्ल ... ८२
हिंदी गद्य : विकास और विमर्श—प्रदीप ८३
बंगला की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ—अजात शत्रु ८४
साहित्य के साथी—क ख ग ८४
तत्वज्ञान—श्री गोपालचंद्रदास ८५
अंगारे और फूल—अजय ८६
हिंदी गद्य का विकास—प्रदीप ८६
हमारे संगीतरत्न—चंद्रहास ८७
साहित्यपरिचय—श्री जगन्नाथ पुच्छरत ८७

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६३] संवत् २०१५ [अंक १

लोकवार्ता और नृतत्व

गोपालशरण

नृतत्व का शाब्दिक अर्थ है वह विज्ञान (तत्व या लॉगस) जो मानव (नृ या एंथ्रोपॉस)—सभ्य और असभ्य, आदिकालीन और वर्तमान, सुसंस्कृत और असंस्कृत—समूहों तथा उनके क्रियाकलापों, आचारविचारों का अध्ययन करता है, अथवा कम से कम ऐसा करने का दावा तो अवश्य ही करता है। संक्षेप में, नृतत्व का उद्देश्य मानवमात्र का सर्वांगपूर्ण अध्ययन करना है। नृतत्व की उपर्युक्त परिभाषा नृतत्ववेत्ता को छोड़ अन्य किसी भी विज्ञ और मननशील व्यक्ति को अत्यंत दंभपूर्ण प्रतीत हो सकती है। यद्यपि यह सच है कि मानवमात्र और उसके संपूर्ण क्रियाकलापों, आचारविचारों तथा ज्ञानविज्ञानों का सविस्तर अध्ययन इस युग में किसी एक विषय के अंतर्गत संभव नहीं है, फिर भी यह प्रदर्शित करना अत्यंत दुरूह नहीं होगा कि नृतत्व की उपर्युक्त परिभाषा अर्थहीन नहीं है। यतः नृतत्व के विषयक्षेत्र का विस्तार बताना इस लेख का उद्देश्य नहीं है अतः इस दिशा में प्रयत्न भी नहीं किया गया है।

वैसे तो पाश्चात्य नाविकों, यात्रियों, मिशनरियों तथा शासनाधिकारियों के द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व लिखे गए ऐसे अनेक विवरण उपलब्ध हैं जिनमें इन लेखकों से अपरिचित विभिन्न प्रकार के लोगों के 'विचित्र' (इन लेखकों के मतानुसार) रीतिरिवाजों की एक झलक मिल जाती है। इन 'अवैज्ञानिक' विवरणों ने वैज्ञानिक नृतत्व के प्रारंभिक विषय-क्षेत्र के निर्धारण में चाहे सहायता दी हो किंतु इनको ही आधार मानकर नृतत्व के उत्पत्ति-काल को सुदूर भूतकाल तक ले जाना कठिन होगा। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चार्ल्स डार्विन ने प्रांगिक उद्विकास (आरगैनिक इवोल्यूशन) का सिद्धांत प्रतिपादित किया। किंतु बृटेन के सुप्रसिद्ध नृतत्ववेत्ता मैरेट के साथ स्वर में स्वर मिलाकर यह कहना संभव नहीं है कि 'नृतत्व डार्विनवाद का शिशु है'। इसमें संदेह नहीं कि इस सिद्धांत ने जैविक नृतत्व (फिजिकल ऐंथ्रोपोलोजी) तथा सामाजिक - सांस्कृतिक नृतत्व (सोशल - कल्चरल ऐंथ्रोपोलोजी) दोनों पर काफी प्रभाव डाला, यद्यपि दूसरे पर इसका प्रभाव अपेक्षाकृत अल्पकालिक रहा। इंग्लैंड में टाइलर, मैक्लेनन और मेन तथा अमरीका में मॉर्गन इस युग के अग्रणी नृतत्ववेत्ता थे। इनमें से प्रथम (टाइलर) तथा अंतिम (मॉर्गन) ने पृथक - पृथक सामाजिक उद्विकास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(सोशल इवोल्यूशन) के सिद्धांत बनाए जो साधारणतः उद्‌विकास के एकमार्गीय (युनीलीनियर इवोल्यूशन) सिद्धांत के नाम से प्रसिद्ध हैं। उद्‌विकास के एकमार्गीय सिद्धांतों के प्रभाव के कारण ही उन्नीसवीं शताब्दी में तथाकथित आदिम जातियों (प्रिमिटिव पीपुल्स) के रीति-रिवाजों और प्रथाओं का अध्ययन एक विशेष उद्देश्य से किया जाता था। तत्कालीन मान्यताओं के अनुसार आदिमजातीय सामाजिक संस्थाएँ उस श्रृंखला की प्रारंभिक और सर्वाधिक अविकसित कड़ी मानी गईं जिसका अंतिम और पूर्ण विकसित स्वरूप विक्टोरियायुगीन सामाजिक संस्थाओं में देखा गया। अन्य शब्दों में, उन्नीसवीं शताब्दी में आदिम समाजों में रुचि का कारण उनमें मानव की सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति ढूँढ़ना था जब कि पूर्व-वर्ती सामाजिक और राजनैतिक दार्शनिक इनमें 'प्राकृतिक अवस्था (स्टेट आफ नेचर) में मानवजीवन' की झलक पाते थे। प्रायः प्रत्येक आधुनिक सभ्य समाज में ऐसी सामाजिक प्रथाओं की विद्यमानता आश्चर्यजनक नहीं कही जा सकती जो वर्तमान सामाजिक संस्थाओं की प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं और उनसे तादात्म्य नहीं रखती हैं। किंतु वही प्रथाएँ आधुनिक आदिम समाजों (कंटेंपररी प्रिमिटिव सोसायटीज) में अपना विशिष्ट और समुचित स्थान रखती हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के दो प्रमुख नृतत्ववेत्ताओं, टाइलर और लैंग, ने सभ्य समाजों के लिये इन अनुपयुक्त प्रथाओं को अवशेष (सर्वाइवल्स) कहा। उनका मत था कि ये प्रथाएँ आदिकालीन (प्राइमोर्डियल) असभ्य समाजों में उत्पन्न हुईं, उनके प्रतिरूप आधुनिक आदिम समाजों में भी उनका विशिष्ट स्थान है, तथा उच्च एवं परवर्ती सभ्य समाजों में भी वे अपेक्षाकृत अपरिवर्तित अवशेषों के रूप में विद्यमान हैं। यह उल्लेखनीय है कि इन उद्‌विकासवादियों ने आदिकालीन (प्राइमोर्डियल) तथा आधुनिक आदिम (कंटेंपररी प्रिमिटिव) समाजों में कोई भेद नहीं किया। यह एक महान भूल थी।

हिंदी भाषाभाषियों के लिये लोकगीत (फोक सॉंग), लोक-संगीत (फोक-म्यूजिक), लोक-कथा (फोक टेल) आदि शब्द नए या अपरिचित नहीं हैं। अंग्रेजी का फोकलोर शब्द सभी लोकसामग्री को एक साथ व्यक्त करने के लिये व्यवहृत होता है। 'लोर' शब्द का अर्थ है विद्या, ज्ञान, पांडित्य, या वैदुष्य। किंतु 'लोक' शब्द के साथ इनमें से किसी एक को जोड़ने से जो संयुक्त शब्द बनेगा – उदाहरणार्थ, लोकविद्या, लोकज्ञान लोकवैदुष्य आदि – वह उस अर्थ का द्योतक नहीं होगा जो अर्थ अँग्रेजी के 'फोकलोर' शब्द से निकलता है। इसीलिये किसी सर्वमान्य पर्यायवाची शब्द के गढ़े जाने तक फोकलोर के लिए इस लेख में 'लोकवार्ता' शब्द प्रयुक्त किया गया है।

फोकलोर शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग २२ अगस्त १८४६ ई० को उन्नीसवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध पुराविद् श्रीविलियम जेम्स थाम्स ने किया। लोकवार्ता (फोकलोर) के अंतर्गत उन्होंने पुराने युग की रीतियों, प्रथाओं, रिवाजों, अंधविश्वासों, प्रेमगीतों और मुहावरों का समावेश किया। इन्हें वे अलिखित भूतकाल के मृतप्राय अवशेष मानते थे। साधारणतः पहले लोकवार्ता शब्द सभ्य राष्ट्रों के अपेक्षाकृत असंस्कृत (अन्कल्चर्ड) वर्गों की परंपराओं, प्रथाओं और अंधविश्वासों के लिये ही प्रयुक्त किया जाता था। किंतु बाद में पश्चिमी देशों के कृषकवर्गों की पादार्थिक (मैटीरियल) और बौद्धिक संस्कृतियाँ भी लोकवार्ता के अध्ययन का विषय बन गईं। इस दिशा में टाइलर, फ्रेजर और लैंग का योगदान उल्लेखनीय है। इन अंग्रेज नृतत्व-वेत्ताओं ने यूरोपीय कृषकवर्ग के अंधविश्वासों और परंपरागत प्रथाओं की व्याख्या (नान-लिटरेट) लोगों के विश्वासों और क्रियाकलापों से उनकी समानता दिखाकर की। इसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणामस्वरूप लोकवार्ता का अध्ययनक्षेत्र न केवल विस्तृत हुआ वरन् उसको सामाजिक-सांस्कृतिक नृतत्व से पृथक् करना भी दुरूह हो गया। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के चौदहवें संस्करण में लोकवार्ता के बारे में लिखते हुए श्री विलियम रेगिनल हैलिडे ने यह मत व्यक्त किया है कि लोकवार्ता और सामाजिक नृतत्व के विषयक्षेत्र को पृथक करना कठिन है और एक की सहायता बिना दूसरे का अध्ययन कदाचित संभव नहीं है। इस कथन के उपरांत भी हैलिडे लोकवार्ता के क्षेत्र को सभ्य समाजों के पिछड़े तत्वों की संस्कृति के अध्ययन तक ही सीमित रखना चाहते हैं। अमरीकी नृतत्ववेत्ता स्वर्गीया सुश्री रुथ बेनेडिक्ट के मतानुसार भी लोकवार्ता कही जाने वाली अधिकांश नृतात्विक सामग्री सभ्य जगत् की ग्रामीण जनता से ही प्राप्त होती है। नृतत्व का परंपरागत विषयक्षेत्र अनाक्षर संस्कृतियों का ही अध्ययन मान भी लिया जाय—नृतत्ववेत्ता आज यह तथ्य स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हैं—तो भी लोकवार्ता स्वभावतः ही उसके अध्ययन के लिये उपयुक्त सामग्री है; क्योंकि लोकवार्ता की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार यूरोपीय कृषकसंस्कृति का यही क्षेत्र आदिम जातियों के सांस्कृतिक लक्षणों के स्वतः समान कहा जा सकता है। अनाक्षर लोगों की लोकवार्ता के अंतर्गत उनके पुरावृत्त (मिथ्स), कथाएँ, मुहावरे, लोकोक्तियाँ और गीत तथा उनके संगीत का भी समावेश किया जाता है। ये सब उनके ललित-कला-दर्शन (इस्थेटिक्स) के प्रमुख अंग हैं और उनकी अपादार्थिक संस्कृति (नान - मैटीरियल कल्चर) का प्रतिबिंब दिखलाते हैं। किंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि नृतत्ववेत्ता किसी भी व्यक्तिसमूह की संपूर्ण (पादार्थिक और अपादार्थिक दोनों अंशों की) संस्कृति के अध्ययन में रुचि रखता है।

विख्यात लोकवार्ताविशेषज्ञ श्री स्टिथ थाम्प्सन का यह कथन निर्विवाद है कि सभी प्रकार के परंपरागत विश्वास एवं अंधविश्वास, कला एवं हस्तकला, नृत्य एवं मनोरंजन तथा परंपरागत वाद्यसंगीत का अध्ययन लोकवार्ता और नृतत्व दोनों के ही वैध विषय हैं। कदाचित् इसी कारण लोकवार्ता का अध्ययन करनेवाले परंपरागत सामाजिक संगठन और पादार्थिक संस्कृति में भी अप्रत्यक्ष रूप से रुचि दिखलाते हैं, लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि ये उनके अध्ययन के विषय नहीं हैं। लोकवार्ता के अध्येताओं के लिये यह संभव भी नहीं है कि वह अपनी सामग्री को साहित्यिक दृष्टिकोण से परीक्षण करने की उद्देश्यपूर्ति के निमित्त उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की भी छान बीन करे। इसीलिये उसे नृतत्व का सहारा लेना पड़ता है क्योंकि उसमें लोकवार्ता को संस्कृति का एक अंग मानकर अध्ययन किया जाता है। लोकपरंपरा का अध्ययन इस संबंध में विशेष रूप से उपयोगी है। परंपरा किसी संस्कृति विशेष की थाती नहीं होती। प्रत्येक संस्कृति की अपनी परंपरा होती है। इन परंपराओं को सुरक्षित रखना या उन्हें क्रमबद्ध करना मात्र ही पर्याप्त नहीं है। यह जानना भी आवश्यक है कि एक समूह की परंपरा विश्व के अन्य समूहों की परंपराओं से किस प्रकार भिन्न है और इन परंपराओं में साम्य क्या है। दूसरे शब्दों में लोकवार्ता के सम्यक अध्ययन के लिये आवश्यक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का ज्ञान विभिन्न परंपराओं के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा ही संभव है। आरंभ से ही नृतत्व तुलनात्मक पद्धति का उपयोग करता रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक उद्विकास-सिद्धांत के प्रवर्तकों ने तुलनात्मक पद्धति का एक स्वरूप अपनाया था। तब से अब तक नृतत्व में इस पद्धति के एक या दूसरे स्वरूप को सर्वदा अपनाया जाता रहा है। इसी कारण आज संबंधित सामाजिक विज्ञानों (सोशल सायंसेज) में नृतत्व की विशिष्टता उसकी तुलनात्मक पद्धति (कंपैरेटिव मेथड) और समग्रात्मक (हालिस्टिक) दृष्टिकोण के कारण हैं। हम ऊपर यह स्थापित कर चुके हैं कि लोकवार्ता का सम्यक अध्ययन तुलनात्मक दृष्टिकोण और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बिना संभव नहीं है। इसी कारण नृतत्व की सहायता अनिवार्य हो जाती है। ऐसा मत व्यक्त करते समय नृतत्ववेत्ता यह भूलते नहीं हैं कि लोकवार्ता, लोगों की कलात्मक और साहित्यिक अभिरुचियों को भी व्यक्त करती है; अतः इस दृष्टिकोण से भी उसका अध्ययन वांछनीय है। किंतु अनाक्षर और निरक्षर समाजों में लिखित साहित्यिक परंपरा और साहित्य के अभाव के फलस्वरूप मौखिक परंपरा और संस्कृति में ही उपर्युक्त अभिरुचियों की संपूर्ण और समुचित अभिव्यक्ति संभव है अतः इन्हीं (परवर्ती) के अध्ययन द्वारा ही कलात्मक एवं साहित्यिक अभिरुचियों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

लोकवार्ता के अंतर्गत हमें लोगों की साहित्यिक अभिव्यक्ति की अपेक्षा उनके प्राकृतिक और सांस्कृतिक वातावरण का अधिक स्पष्ट चित्रण प्राप्त होता है। साधारणतः हम इसमें लोगों के तत्कालीन जीवन की दैनिक घटनाओं की झाँकियाँ देख सकते हैं। इसमें प्रतिदिन होनेवाली दुर्घटनाओं एवं दुःखों तथा सब प्रकार की मानवीय वासनाओं, गुणों और दुर्गुणों का विशद वर्णन एक साधारण सी बात है। इसकी एक अपनी विशेषता और अपना ढंग है। जीवन की अनेक दैनिक घटनाएँ अत्यंत दुरूह और प्रायः असाध्य होती हैं। इस तथ्य को वास्तविक जीवन में भुलाया नहीं जा सकता अतः उसे अंगीकार करना ही पड़ता है। किंतु लोक-वार्ता-सामग्री के निर्माण में कल्पना का यथेष्ट स्थान है। कल्पनाजगत में कठिन से कठिन समस्याओं का मनोवांछित समाधान और कष्टमय परिस्थितियों से निवारण अत्यंत सरल है। इस प्रकार जनसाधारण कठिनाइयों, असमानताओं तथा अन्यायों से काल्पनिक त्राण पाते हैं। ऐसी मनोवैज्ञानिक शांति प्रदान करने के कारण ही लोकवार्ता को चेतन और अचेतन दोनों ही स्तरों पर आत्माभिव्यक्ति का बहुमुखी साधन माना गया है।

लोकवार्ता लोगों के सामाजिक जीवन और वृत्तियों का स्वच्छतम दर्पण है। यदि हम इसे उनकी आत्मकथा कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। लोकवार्ता ही वह माध्यम है जिससे लोगों के व्यवहार एवं आचारविचार केवल मुखरित ही नहीं होते, स्थायी भी बनते हैं। इसी कारण लोकवार्ता में दैनिक जीवन के विशिष्ट क्रियाकलापों के वर्णन के वाह्यावरण के अंदर छिपे हुए उन साधारण तथ्यों और सिद्धांतों को भी पाया जा सकता है जो उस समाज को स्थायित्व के साथ साथ गतिशीलता और क्रियाशीलता प्रदान करते हैं। अन्य शब्दों में लोकवार्ता में हम लोगों के आदर्श, लक्ष्य और उद्देश्य की अभिव्यक्ति पाते हैं। अतः इस दृष्टिकोण से इसमें उस समाज के सदस्यों को निर्धारित संस्थान (पैटर्न) के अनुरूप आचरण कराने की शक्ति का भास पाना कठिन नहीं है। उपर्युक्त व्याख्या का यह अर्थ कदापि नहीं है कि लोकवार्ता का साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन असंभव है। फिर भी इतना तो सच है कि इस क्षेत्र में साहित्यिक और कलात्मक अभिव्यक्तियों को सांस्कृतिक संस्थानों से पृथक् और असंबद्ध मान लेना महान् च्युति होगी। सांस्कृतिक संस्थानों और परंपराओं का अध्ययन नृतत्व का विषय रहा है और आज भी है। अतः लोकवार्ता के समुचित एकांगी या सर्वांगी अध्ययन के निमित्त नृतात्विक (सांस्कृतिक) दृष्टिकोण अपनाना अनिवार्य है। संक्षेप में, लोकवार्ता के सभी प्रकार के अध्ययन नृतत्व की सहायता के बिना अपूर्ण और अधूरे रहेंगे।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास और गुप्तसम्राट *

डोलरराय रंगीलदास मांकड

प्राचीन भारत के इतिहास के अधिकांश विद्वानों का विचार है कि कालिदास चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में हुए। पर आश्चर्य इस बात का है कि विक्रम, महेंद्र और समुद्र आदि शब्दों के अतिरिक्त गुप्तसम्राटों के विषय में महाकवि के ग्रंथों में अभी तक उनको और कुछ नहीं मिल सका है। ज्ञात होता है इस विषय में पर्याप्त सूक्ष्म अध्ययन नहीं किया गया। यह असंभव नहीं कि उस महाकवि ने, जिसने 'शकुन्तलावरण्यं पेक्ख' जैसा द्व्यर्थक वाक्य प्रयुक्त किया है, अपने संरक्षक सम्राटों के विषय में भी संकेत किया हो। इस विषय में गंभीर दृष्टि से देखने की आवश्यकता है।

मालविकाग्निमित्र (अंक ५) में दो कथन अति साभिप्राय हैं। जिस समय देवी मालविका को राजा को सौंपती है, उस अवसर पर विदूषक कहता है—'अथवा देव्याः प्रणय-विशेषं दत्तदेवी शब्दां[1] मालविकामत्र भवान् प्रतिग्रहीतुमिच्छति'। उत्तर में रानी का कथन है–'एतस्या राजदारिकाया अभिजनेनैव दत्तो देवी शब्दः किम्पुनरुक्तेन'।

पहले कथन में दत्तदेवी शब्द साभिप्राय है और स्पष्टतः समुद्रगुप्त की महादेवी दत्तदेवी के नाम की ओर संकेत करता है। यदि कालिदास गुप्तों के समकालीन थे तो उनकी सम-सामयिक परिषदें विशेषतः राजसभा, जिनके लिये और जिनकी उपस्थिति में संभवतः मालविकाग्निमित्र का अभिनय किया गया था, दत्तदेवी के उस संकेत को सरलता से समझ लेती थी। विदूषक के वाक्य में इस शब्द का प्रयोग और पुनः महादेवी के वाक्य में उन्हीं शब्दों का आग्रह बताता है कि कालिदास को यहाँ दत्तदेवी के नाम का संकेत इष्ट था।

इस संकेत से यह व्यंजना होती है कि कालिदास ने दत्तदेवी को ही मालविका के रूप में प्रस्तुत किया है। ऐसा हो तो समुद्रगुप्त को अग्निमित्र के रूप में प्रस्तुत किया गया होगा। नाटक के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास का यही अभिप्राय था और इसके लिये उन्होंने श्लेष से उसके नाम के संकेत किए हैं।

अब मुझे यह कहना होगा कि इस दृष्टिकोण से ज्यों ज्यों मैं कालिदास के ग्रंथों को पढ़ता गया, मैंने देखा कि कालिदास ने ऐसी श्लेषमयी उक्ति अन्य गुप्तराजाओं के विषय में भी अपने ग्रंथ में की है। मैंने देखा कि पुरुरवा और उर्वशी के चरित्र चित्रण में कालिदास

* अनुवादक—श्री रामशंकर भट्टाचार्य; प्रेषक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल।

१. कुछ प्रतियों में 'कृतदेवीशब्दां' यह पाठांतर है, जो अवश्य ही अपपाठ है, क्योंकि दूसरे वाक्य में 'दत्तो देवीशब्दः' पूर्ववाक्य में भी दत्तदेवी प्रयोग सूचित करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने चंद्रगुप्त द्वितीय तथा ध्रुवदेवी का भी निर्देश किया है। मैंने यह भी देखा कि उन्होंने समुद्रगुप्त द्वितीय, चंद्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम तथा स्कंद गुप्त का निर्देश रघुवंश के विभिन्न स्थानों में किया है तथा शाकुंतल नाटक में पुरुगुप्त के एक वंशज का निर्देश भी मिलता है। पर इन सब श्लिष्ट शब्द प्रयोगों पर विचार करने के पहले, मैं कुछ अन्य राजाओं के विषय में विचार करूँगा।

१. अपने पहले नाटक की विषय वस्तु में कालिदास ने अग्निमित्र की जीवनी को ही क्यों चुना? अग्निमित्र एक ऐसा राजा है, जिसका कुछ भी महत्त्व नहीं है। इस नाटक को छोड़कर भी, यदि हम अग्निमित्र के चरित पर विचार करें, तो हम उनको एक अख्यात व्यक्ति ही पाएँगे। उनके पिता पुष्यमित्र एक महान् सम्राट् और ब्राह्मण परंपरा के प्रबल समर्थक थे, और इतना होने पर भी उनके विषय में हमें कुछ भी अधिकृत विवरण नहीं मिलता; अग्निमित्र के विषय में पुराणों में कुछ भी सामग्री उपलब्ध नहीं होती। ऐसे एक साधारण राजा को कालिदास ने नायक के रूप में क्यों चुना? मेरी समझ में इसके हेतु इस प्रकार है--

(क) मैं समझता हूँ कि बुधगुप्त के काल तक कालिदास जीवित थे और स्कंदगुप्त के साथ उन्होंने अपना यौवन काल व्यतीत किया था। यदि ऐसा हो तो पुष्यमित्र के विरोध में स्कंदगुप्त ने जो कुछ किया था, कालिदास अवश्य ही उसको जानते थे। पुष्यमित्र के विरोध में, अपने समय घटित उस युद्ध ने कालिदास के मन में पुष्यमित्र या उसके वंशजों के विषय पर कोई नाटक लिखने की प्रेरणा दी थी।

(ख) परंतु अपने प्रथम नाटक को लिखने के लिये उन्होंने स्वभावतः अपने पृष्ठपोषक गुप्त राजाओं के प्रति अभिनंदन ज्ञापन करने के लिये इच्छा की। यह प्रतीत होता है कि गुप्त राजाओं पर साक्षात रूप से कुछ लिखना वह पसंद नहीं करते थे, अतः (नाटक के) पात्रों के लिये उन्होंने शुंग राजाओं के नामों का ग्रहण किया। संभवतः उन्होंने देखा होगा कि जैसे पुष्यमित्र के काल में ब्राह्मणधर्म का पुनरुज्जीवन हुआ, समुद्रगुप्त तथा अन्य गुप्त राजाओं के काल में भी वैसा ही हुआ। इतना होने पर भी समुद्रगुप्त का प्रतिनिधित्व करने के लिये उन्होंने पुष्यमित्र को ग्रहण नहीं किया, क्योंकि गुप्तवंश में चंद्रगुप्त प्रथम प्रथम सम्राट् थे और समुद्रगुप्त द्वितीय सम्राट्। इसीलिये, उसी क्रम के संरक्षण के लिये उन्होंने पुष्यमित्र को चंद्रगुप्त प्रथम का प्रतिनिधि बनाया तथा अग्निमित्र (जो उनके वंश में दूसरा था) को समुद्रगुप्त (जो अपने वंश में दूसरा था) का प्रतिनिधि बनाया।

(ग) पर उस अवस्था में अग्निमित्र और समुद्रगुप्त के जीवन में कोई सादृश्य नहीं था तथा कालिदास के उद्देश्य के लिये यह आवश्यक भी नहीं था। शुंग राजाओं के नाम का आश्रय लेकर गुप्त सम्राटों के जीवन की कुछ घटनाओं को वह चित्रित करना चाहता था। अग्निमित्र की जीवनी के कोई विस्तृत विवरण कालिदास को ज्ञात नहीं थे, जैसा कि हम आज भी नहीं जानते। अतः अग्निमित्र को नायक के रूप में ग्रहण करना सहज था।

मेरे विचार में कालिदास के लिये अपने प्रधान पात्रों के चुनने का यही हेतु था और बाद में मैं यह भी दिखाने की आशा रखता हूँ कि अपने नाटक में कालिदास ने गुप्तों के इतिहास की ज्ञात दो एक घटनाओं का आश्रय (उल्लेख) लिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. मेरा यह भी विचार है कि पुरुगुप्त के नाम से ही कालिदास को पुरूरवा के चरित का इंगित मिला था। पुरुगुप्त कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र था। पर यह प्रतीत होता है, कि जैसा उन्होंने समुद्रगुप्त को अपने पहले नाटक के नायक के रूप में व्यंजना से लक्ष्य किया (जो उपर्युक्त दत्तदेवी के संदर्भ से स्पष्ट है और समुद्रगुप्त के संदर्भ से भी स्पष्ट होता है, जैसा हम आगे देखेंगे), वैसा समुद्रगुप्त के पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय को अपने दूसरे नाटक के नायक के रूप में उपस्थित किया। निम्नोक्त विचारों से यह बात प्रमाणित होगी—

(क) मेरे विचार में कालिदास ने पुरूरवा के द्वारा उर्वशी की मुक्ति के दृश्य का आधार चंद्रगुप्त द्वितीय के द्वारा ध्रुवदेवी की मुक्ति संबंधी समान घटना को रक्खा है। यदि हम पुरूरवा और उर्वशी की कथा के विभिन्न आधारों का अन्वेषण करें तो हम देखते हैं कि इस कथा के आधे दर्जन से भी अधिक आधारभूत ग्रंथों में केवल मत्स्य पुराण में ही उर्वशी की मुक्ति से संबंधित यह दृश्य मिलता है। अन्य सब आधारभूत ग्रंथ इस घटना के विषय में पूर्णतः मौन हैं। इसलिये मेरा यह विचार है कि जैसे पद्म पुराण ने शकुंतला की कथा को संक्षिप्त किया और कुमार की कथा को शिवपुराण ने, उसी प्रकार मत्स्यपुराण ने विक्रमोर्वशीय की कथा का संक्षेप किया है। मत्स्यपुराण में जो दानव केशी, पुरूरवा का वायव्यास्त्र, लक्ष्मी स्वयंवर नामक नाटक का प्रदर्शन, भरत का अभिशाप तथा चित्रलेखा का वर्णन है वे सब विक्रमोर्वशीय पर आधारित हैं। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो हम लोगों को यह सोचना होगा कि मत्स्य पुराण के रचयिता के पास कोई ऐसी प्राचीन अविकृत परंपरा थी, जो अन्य शाखा (परंपरा) से मूलतः भिन्न थी। पर ऐसी कल्पना के लिये कोई आधार नहीं है। इसलिये मेरा विचार है कि मत्स्य पुराणीय विवरण विक्रमोर्वशीय का संक्षेप है और इसीलिये उर्वशी की मुक्ति से संबंधित दृश्य कालिदास की निजी उपज्ञा है। यदि ऐसा हो, तो यह स्पष्ट है कि कालिदास से वर्णित इस घटना का आधार चंद्रगुप्त द्वितीय से संबंधित कोई सदृश घटना होगी। यदि हम यह भी मान लें कि मत्स्यपुराणीय विवरण विक्रमोर्वशीय से प्राचीन है, और कालिदास ने पुराण से ही अपनी कथा को लिया है, तब भी हम यह कह सकते हैं कि मत्स्यपुराणीय विवरण को ही चुनने का उद्देश्य (अन्य किसी पुराण के विवरण को छोड़कर) चंद्रगुप्त द्वितीय से संबंधित घटना के प्रति इंगित करना ही था। किसी भी परिस्थिति में मैं यह स्पष्ट समझता हूँ कि उर्वशी की मुक्ति से संबंधित दृश्य का आधार चंद्रगुप्त द्वितीय के द्वारा ध्रुवदेवी की मुक्ति ही है।

(ख) हम जानते हैं कि कोई शक या खस राजा थे, जिन्होंने रामगुप्त की पत्नी ध्रुवदेवी को चाहा था और रामगुप्त ध्रुवदेवी को देने के लिये प्रस्तुत भी हो गए थे, परंतु ध्रुवदेवी के वेश में चंद्रगुप्त द्वितीय ने शत्रुशिविर में जाकर शत्रु की हत्या की थी। अतः इस नाटक में केशिन् को शत्रु राजा के रूप में, उर्वशी को ध्रुवदेवी के रूप में और पुरूरवा को चंद्रगुप्त द्वितीय के रूप में चित्रित किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह निश्चित है कि ध्रुवदेवी का वस्तुतः अपहरण नहीं हुआ था, पर कालिदास ने आधारभूत घटना का यथावत् चित्रण न कर ठीक ही किया है, क्योंकि जिस रूप से उन्होंने दृश्य को उपस्थापित किया है, वह आधारभूत वास्तव घटना से अधिक चमत्कारजनक है। और हम अच्छी तरह समझ सकते हैं कि कालिदास अपने विवरण में रामगुप्त का नाम नहीं लेना चाहते थे। अच्छा हुआ कि रामगुप्त विस्मृत हो गए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) इस दृष्टिकोण से यह सहेतुक है कि हेमकूट पर्वत के ऊपर ही इस दुराचार का दृश्य उपस्थापित किया गया। यह प्रतीत होता है कि यह पर्वत कैलास की अंतिम सीमा से हिंदुकुश के पाद पर्यंत विस्तृत था। हम जानते हैं कि ध्रुवदेवी से संबंधित घटना भी किसी एक उतरदेशीय पर्वत पर घटी थी। मजमल-उत्-तवारिख में लिखा है कि रामगुप्त जब किसी पर्वत में था, तब उस पर आक्रमण हुआ था। काव्यमीमांसा और शृंगारप्रकाश में उद्धृत श्लोक में इस दृश्य का स्थान हिमालय पर्वत कहा गया है। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि विक्रमोर्वशीय का साम्य रामगुप्त और ध्रुवदेवी की कथा का अनुरूप है। इससे यह भी निश्चित होता है कि किसी उत्तरदेशीय पर्वत पर ही यह असदाचरण हुआ था।

उर्वशी की मुक्ति का दृश्य वस्तुतः ध्रुवदेवी की मुक्ति से संबंध रखता है। कालिदास ने इस पर इंगित भी किया है, ऐसा प्रतीत होता है। जब उर्वशी और उसकी सखी के साथ पुरूरवा हेमकूट पर्वत पर पहुँचते हैं, तब राजा उर्वशी से कहते हैं—

एताः सुतनु मुखं ते सख्यः पश्यन्ति हेमकूटगताः।
उत्सुकनयना लोकाश्चन्द्रमिवोपप्लवान् मुक्तम् ॥१।१२

इस श्लोक के दूसरे भाग से सहज ही यह ध्वनित होता है कि शत्रु शिविर से चंद्रगुप्त द्वितीय के बाधाहीन प्रत्यावर्तन के लिये लोग उत्कंठित होकर अपेक्षा कर रहे थे। 'उपप्लवान् मुक्तश्चंद्रः' से यथार्थ रूप से ही चंद्रगुप्त द्वितीय का बोध हो जाता है, जो शत्रुओं से कृत महान् विप्लव से सफलता पूर्वक निकल आए। कालिदास ने कुशलता पूर्वक चंद्र (गुप्त) शब्द का व्यवहार किया है।[२]

३. मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय में समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय का निर्देश है तथा विक्रमोर्वशीय में नायक के रूप में पुरूरवा का चरित्र कालिदास में पुरुगुप्त के नाम से ही सूचित किया है। इस निर्देश में यदि मेरा कथन यथार्थ हो तो मैं पुनः यह भी सूचित करना चाहता हूँ कि शाकुंतल नाटक के नायक को पुरुगुप्त के किसी वंशज (पुत्र या पौत्र) के प्रतिनिधि के रूप में लिया गया है। संपूर्ण शाकुंतल में हम बार बार पुरुवंश और पौरव शब्द सुनते हैं और यही हमारे अनुमान की पुष्टि करता है। इस संबंध में हमको स्मरण करना चाहिए कि चंद्रगुप्त प्रथम की जो मूल वंश परंपरा थी, वह स्कंदगुप्त में आकर समाप्त हो गई थी जो अपुत्रक रह कर ही मर गए, जैसा हम जानते हैं कि स्कंदगुप्त के बाद पुरुगुप्त और उसके वंशजों ने राज्य किया था। अतः दूसरे अर्थ में यह कहा जा सकता है कि चंद्रगुप्त प्रथम से

२. वस्तुतः यह कालिदासीय व्यंग्यार्थ-प्रकाशन-पद्धति के दो विचित्र प्रकारों में अन्यतर है। मैंने देखा है कि अपने विभिन्न ग्रंथों में कालिदास ने गुप्तकालीन इतिहास की विभिन्न घटनाओं का व्यवहार किया है और ये घटनाएं मूलतः किसी गुप्तराजा के जीवन से संबंधित थीं। इसको ध्वनित करने के लिये, उन्होंने उन घटनाओं के वर्णन में, श्लिष्ट रूप से राजा के नाम का प्रयोग कौशलपूर्वक किया है। यही प्रतीत होता है मानो कालिदास ने राजा के नाम की मुद्रा को उनके जीवन से संबंधित घटनाओं पर अंकित कर दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवर्तित चंद्रवंश स्कंदगुप्त तक चला आया था और पुरुगुप्त से एक नई परंपरा पुरु (गुप्त) का वंश (या पौरववंश) चली (क्योंकि स्कंदगुप्त के उत्तराधिकारी उनके पुत्र के स्थान पर उनके भाई हो गए)। इसीलिये मेरा कहना है कि शाकुंतल नाटक का नायक जिसे बार बार पौरव शब्द से पुकारा गया है, पुरुगुप्त के किसी वंशज के प्रतिनिधि के रूपमें लिया गया है।

मेरे उपर्युक्त विचार यदि ग्राह्य हों, तो मैं अवश्य ही कहूँगा कि अपने प्रत्येक नाटक में कालिदास ने अपने पृष्ठपोषकों (समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त द्वितीय तथा पुरुगुप्त के वंशज) के विषय में शिलष्ट उक्तियां की हैं। इस प्रश्न पर और विस्तृत विचार उचित होगा।

मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र के प्रति पहली उपमा समुद्र से दी गई है और विक्रमोर्वशीय में पुरूरवा के प्रति पहली उपमा चंद्र से दी गई है, यथा—

(क) न चन परिचितो न चाप्यगम्य
चकितमुपैमि तथापि पार्श्वमस्य।
सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे
भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः।
(मालविका० १।११)

यहाँ अग्निमित्र की तुलना सलिलनिधि (समुद्र) से दी गई है।

(ख) जब उर्वशी एकादश श्लोक (अंक १) को सुनती है, वह कहती है—

अमृतं खलु ते वचनम्। अथवा चंद्रादमृतमिति किमाश्चर्यम्।

यहाँ पुरूरवा की तुलना चंद्र से की गई है।

(ग) उसी प्रकार हम शकुंतला में देखते हैं कि दुष्यंत को प्रथम बार पुरु-वंश-प्रदीप तथा पुरुवंशीय कहा गया है (अंक १, श्लोक ११)—

सदृशमेतत् पुरुवंश प्रदीपस्य
जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव।
पुत्रमेव गुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि ॥ १।११

यह निश्चित है कि समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त द्वितीय तथा पुरुगुप्त के वंशजों के प्रति यह व्यंग्यार्थ (प्रथम अंक के ११वें श्लोक में ही प्रत्येक स्थल के लिये) आकस्मिक नहीं हो सकता; यह स्वेच्छा से किया गया है। आगे हम देखेंगे कि कालिदास के व्यंग्य तथा अर्थनिर्देश की एक विशिष्ट रीति है। पर यदि हम ऐसी किसी रीति को न भी मानें, तो भी स्पष्ट है कि कालिदास ने समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त द्वितीय तथा पुरुगुप्त के एक वंशज का निर्देश किया है। अग्निमित्र पौरव तथा दिलीप के रूप में इन राजाओं से संबंधित निर्देशों पर अब हम विचार करेंगे।

मालविकाग्निमित्र के विदूषक और प्रधान महिषी के वाक्यों के बाद जो श्लोक कहा गया है (जो पहले उद्धृत है, और जिसमें दत्तदेवी के नाम के प्रति इंगित है), उसमें अग्निमित्र की तुलना समुद्रगुप्त से की गई है—

प्रति पक्षेणापि पतिं सेवंते भर्तृवत्सला साध्व्यः।
अन्यसरितां शतानि हि समुद्रगाः प्रापयंत्युदधिम् ॥

यहाँ 'समुद्रगाः' का लक्ष्य समुद्रगुप्त की रानियां हैं। यह विशेषरूप से स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि इसका पाठ दत्तदेवी से संबंधित संदर्भ के ठीक बाद में किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मालविकाग्निमित्र में एक और श्लोक है, जिसका संबंध समुद्रगुप्त से है—ऐसा प्रतीत होता है, पर यह उतना स्पष्ट नहीं है। गणदास कहता है—

पात्र विशेषे न्यस्तं गुणांतरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्र शुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ॥ १।६

मेरे विचार में इस श्लोक का लक्ष्य यह है कि जैसे समुद्रशुक्ति में पतित जल मुक्ता में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार मालविका जब समुद्रगुप्त में मिलित होगी, तब वह वस्तुतः रत्नभूत होगी। यह निश्चय है कि मेरा ऐसा कहना अस्वारसिक है, परंतु समकालीन श्रोताओं के लिये समुद्र से संबंधित संदर्भ उतना क्लिष्ट प्रतीत नहीं होता था, जैसे आज हमलोगों के लिये होता है।

पुनः मालविकाग्निमित्र के चतुर्थ अंक में राजा और मालविका के मिलनस्थान को समुद्रगृह कहा गया है और यह शब्द एकाधिक बार आया है। इस शब्द का लक्ष्य भी शायद समुद्रगुप्त का नाम है। मालविकाग्निमित्र में समुद्रगुप्त से संबंधित अन्य संदर्भ हम नहीं पाते क्योंकि (जहाँ तक मेरे देखने में आया है) उस नाटक में समुद्रगुप्त के एक विशेषण (अशोकादित्य) से संबंधित अनेक संदर्भ हैं, जो आजतक अनिरूपित रहे हैं। पर इस विषय पर मैं यहाँ कुछ नहीं कहूँगा।

विक्रमोर्वशीय में चंद्रगुप्त द्वितीय से संबंधित संदर्भ (अर्थात् चंद्रसंबंधी उपमाएँ) बहुत हैं तथा बार बार आई हैं। ऊपर मैंने पहले अंक में प्रयुक्त दो उपमाओं का संकेत किया है। इस अंक में चंद्र के प्रति एक अन्य उपमा भी है। पर्वत पर जब अप्सराएँ राजा को देख रही हैं, तब रंभा कहती है—

सखि चित्रलेखाद्वितीयां प्रियसखीमुर्वशीं गृहीत्वा।
विशाखासहित इव भगवान् सोमः समुपस्थितो राजर्षिः॥

यहाँ भी श्रोताओं को चंद्रगुप्त द्वितीय का स्मरण कराने के लिये पुरूरवा की तुलना चंद्र से की गई है। पहले अंक के ये तीन स्थान जहाँ पुरूरवा की तुलना चंद्र से की गई है, तथा उसी अंक में विक्रम और महेंद्र शब्द—इनसे इस विषय में कुछ भी संशय नहीं रह जाता कि कवि पुरुरवा के चरित्र के माध्यम से अपने श्रोताओं को चंद्रगुप्त द्वितीय का स्मरण कराना चाहता है।

उसके बाद जब द्वितीय अंक में उर्वशी और चित्रलेखा राजा को पहली बार देखती हैं, तब उसकी तुलना चंद्र से की जाती है। चित्रलेखा कहती है—

सखि एष प्रथमोदित इव भगवांश्चन्द्रः कौमुदीमिवावेक्षते त्वाम्। ऐसी ही एक चंद्र और कौमुदी संबंधी उपमा २।१५ में है **(तां कौमुदीमिव समागमयेंदुबिंबैः)।**

आगे पूरा तृतीय अंक चंद्र शब्द से भरा पड़ा है। मेरा यह अनुमान है कि चंद्रपूजा और प्रियप्रसादनव्रत से संबंधित पूरा विवरण श्रोताओं को चंद्रगुप्त द्वितीय का स्मरण दिलाने के लिये ही मुख्यतः रचा गया था। यह पूरा दृश्य कवि का आविष्कार है। पूरे संस्कृत साहित्य में यह दृश्य ही सर्वाधिक कौतूहलोद्दीपक और मनोहारी है और इसका प्रधान उद्देश्य नाटक के कथानक में काव्यसौंदर्य की वृद्धि करना है। पर मेरे विचार में इसके साथ कवि चंद्रगुप्त द्वितीय के स्वरूप को ध्वनित भी करना चाहता है। इस अंक से मैं कोई वचन उद्धृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं करूँगा, क्योंकि उनकी संख्या बहुत अधिक है। मूलग्रंथ से ही इसका पूर्णरूप से अध्ययन करना चाहिए, जिससे मेरे कहने का तात्पर्य समझ में आ जाय। पर जिस व्यक्ति ने पूरे दृश्य को पढ़ा है और यह जानता है कि कवि ने पहले अंक में ही चंद्रगुप्त द्वितीय के प्रति लक्ष्य किया है—वह मेरे कथन की सत्यता की अवश्य ही उपलब्धि करेगा। मैं तो इसको सर्वथा स्पष्ट ही समझता हूँ कि चंद्रगुप्त द्वितीय के स्वरूप को ध्वनित करने के लिये ही कवि ने ऐसे दृश्य को निर्वाचित किया है।

मैं यहाँ कालिदास को उपमाओं के एक असाधारण वैशिष्ट्य के प्रति पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। क्योंकि वे विक्रमोर्वशीय में पुरूरवा के द्वारा चंद्रगुप्त द्वितीय को लक्ष्य करना चाहते थे, अतः उन्होंने जहाँ संभव हो सका, वहाँ पुरूरवा की उपमा चंद्र से दी है। मालविकाग्निमित्र में वे अग्निमित्र के द्वारा समुद्रगुप्त को लक्ष्य करना चाहते हैं, अतः उन्होंने अग्निमित्र की तुलना सभी संभव स्थानों पर समुद्र से की है। हम देखेंगे कि रघुवंश में वे कुमारगुप्त और स्कंदगुप्त को लक्ष्य करना चाहते थे, अतः सभी संभव स्थलों पर उन्होंने कुमार या कार्त्तिकेय को ही उपमान माना है। यह भी लक्षणीय है कि अग्निमित्र की साक्षात् तुलना कभी भी चंद्र से और पुरूरवा की तुलना कभी भी समुद्र से नहीं की गई है। उसी प्रकार रघुवंश में कदाचित् ही समुद्र या चंद्र को उपमान माना गया है (यद्यपि दो-एक स्थलों पर ऐसे उपमान भी हैं क्योंकि कवि वहाँ समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त को लक्ष्य करना चाहता था) और कुमार तथा स्कंद को बहुत स्थलों पर उपमान माना गया है। क्या ये सब आकस्मिक हैं? सादृश्य के बल पर जब वे ऐसे स्थलों पर कुछ लक्ष्य करना चाहते हैं, तब उनका कथन बार बार पुनरुक्ति (अर्थात् समान उपमेय के लिये समान उपमा) से श्रुतिकटु हो जाता है। साधारणतया जो कालिदास एक ही शब्द की बार बार आवृत्ति नहीं करते (शकुंतला के प्रथमांक में अश्व और प्रग्रह के पर्याय शब्द) वे इन स्थलों पर उसी उपमेय के लिये उसी उपमान का बार बार प्रयोग करते हैं। यहाँ मैं साग्रह कहना चाहता हूँ कि यदि ऐसा करने में उनका कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं होता, तो वे अवश्यमेव ऐसा नहीं करते। यदि कोई व्यक्ति कालिदास की इन उपमाओं के विलक्षण वैशिष्ट्य पर गंभीर रूप से विचार करे, तो वह अवश्य ही अनुभव करेगा कि इन स्थलों पर गुप्त सम्राटों से संबंधित साभिप्राय संदर्भ के दिखाने के लिये ही उन्होंने इन उपमाओं का बार बार व्यवहार किया है।

अब दूसरे दृष्टिकोण से हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे। मालविकाग्निमित्र की विषय-वस्तु में निम्नोक्त घटनाएँ हैं–१ - एक राजकुमारी राजा के अंतःपुर में सेविका की तरह काम करती है और राजा उसके प्रेम में आबद्ध होकर उससे विवाह करता है, २ - विदर्भ संबंधी घटना, ३ - अशोकदोहद दृश्य, ४ - अश्वमेध यज्ञ और ५ - सिंधु नदी के तीर पर वसुमित्र का पराक्रम। चूँकि मालविकाग्निमित्र एक नाटक है अतः इसकी विषयवस्तु अवश्य ही प्रसिद्ध होगी अर्थात् वह कहीं न कहीं से ली गई होगी और हम यह भी देखते हैं कि कालिदास ने नायकों के नाम पुराणों से लिए हैं और पूर्वोक्त (१) का जो प्रधान विषय है, पूर्ण संभव है कि वह बंधुमती सदृश किसी कथा से लिया गया हो, जैसा कि कथासरितसागर में दिया गया है। पर उपर्युक्त अन्य चार घटनाओं के विषय में (अश्वमेध यज्ञ को छोड़कर) हम ऐसी एक भी घटना को नहीं जानते जो शुंगों से निश्चित रूप से संबंधित हो। अश्वमेध के विषय में भी पुराणों से या अन्य साहित्यिक आधार से हम कुछ भी नहीं जान पाते हैं। कोई भी साहित्यिक कृति हमें यह नहीं बताती कि पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया था। अभी हम जान पाए हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध यज्ञ किए थे। धनदेव का एक अभिलेख है, जो अपने को पुष्यमित्र से षष्ट पुरुष कहता है, और इस अभिलेख में पुष्यमित्र को दो अश्वमेध यज्ञ करने वाला कहा गया है। पर प्रश्न यह है कि कालिदास ने यह कैसे जाना कि पुष्यमित्र ने एक या दो अश्वमेध यज्ञ किए थे। यदि यह कहा जाय कि कालिदास उस अभिलेख को जानते थे या उनके पास ऐसे आधार थे, जो हमलोगों के पास नहीं हैं तो यह मूल प्रश्न से हटना ही है। पर यदि हम स्मरण करें कि समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ की पद्धति को पुनरुज्जीवित किया था और समुद्रगुप्त तथा कुमारगुप्त प्रथम – इन दोनों ने अश्वमेध यज्ञ किया था, जो अश्वमेध मुद्रा से ज्ञात होता है, तब हम यह कह सकते हैं कि कालिदास ने अश्वमेध संबंधी धारणा पुष्यमित्र की जीवनी से नहीं ली, प्रत्युत गुप्त सम्राटों की जीवनी से ही ली है।

हमारे विद्वान् ऐतिहासिक साधारणतया परंपरा पर विश्वास नहीं करते। नाटक जैसी कल्पित कथात्मक कृतियों को तो वे ऐतिहासिक सामग्री के आकर के रूप में स्वीकार ही नहीं करते और प्रस्तुत विचार में वे केवल इतना ही विश्वास नहीं करते हैं कि कालिदास पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ को जानते थे, बल्कि यह भी संभव प्रतीत होता है कि वे यह भी कहते हों कि कालिदास के पास शुंग राजाओं की गुप्त प्रमाण सामग्री भी थी, क्योंकि वे कहते हैं कि **'विगत रोष चेतसा'** शब्द, जो अग्निमित्र के प्रति पुष्यमित्र के पत्र में विद्यमान है, दोनों शुंग राजाओं के व्यक्तिगत और गार्हस्थ्य - जीवन - संबंधी किसी घटना की ओर इंगित करता है। अवश्य ही यह किसी बात की प्रामणिकता पर अधिक जोर देना ही है। दूसरे पक्ष में ऐसा विश्वास करना अधिक स्वाभाविक है कि गुप्त राजाओं के सभाकवि कालिदास ने गुप्तों के इतिहास से अश्वमेध की घटना ली है और इस **'विगत रोष चेतसा'** शब्द का किसी अश्वमेध यज्ञकारी गुप्त राजा और उसके पुत्र के गार्हस्थ्यजीवन की किसी घटना से संबंध है।

यदि हम इसे मान लें, तो हमें यह भी मानना होगा कि यज्ञीय अश्व की रक्षा के लिये युवराज के जाने की घटना तथा सिंधु तीर पर शत्रुओं के साथ युद्ध करने की घटना भी गुप्तों के इतिहास से ली गई है। यह पूर्ण संभव है कि ऐसी कोई घटना गुप्तों के इतिहास में हुई हो। ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास इस घटना से विशेषरूप से प्रभावित थे क्योंकि उन्होंने रघुवंश में इस घटना को उस समय पुनः कहा है जब युवराज रघु को यज्ञीय अश्व के साथ जाने के लिये तथा युद्ध करने के लिये कहा गया हैं। अतएव ये दो दृश्य संभवतः गुप्तों के इतिहास से लिए गए होंगे। व्यक्तिगत रूप से मेरी धारणा है कि ऐसी एक घटना स्कंदगुप्त को लक्ष्य करती है। मेरा विचार है कि जब कुमारगुप्त प्रथम ने अश्वमेध यज्ञ किया था, तब उन्होंने अपने युवक पुत्र स्कंदगुप्त को अश्व की रक्षा के लिये भेजा था। इस घटना का इंगित करने के लिये दोनों स्थानों पर (अर्थात मालविकाग्निमित्र और रघुवंश में) कालिदास ने किसी न किसी रीति से कुमार शब्द का प्रयोग किया है। मालविकाग्निमित्र में जब वसुमित्र की विजय का संवाद दिया गया है, तब उसे कुमार की तरह ही वर्णित किया गया है। रघुवंश में यह ध्वनि स्पष्टतर है। ३।४० में रघु की सेना को कुमार सैन्य कहा गया है। यह निम्नोक्त वाक्य में और भी स्पष्टरूप से ध्वनित हुआ है—

हरेः कुमारोऽपि कुमार विक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशांगुलौ (३।५५) यहाँ **'हरेः कुमारः'** का लक्ष्य है महेंद्र अर्थात महेंद्रादित्य (कुमारगुप्त प्रथम) का पुत्र और कुमार विक्रम का तात्पर्य शायद स्कंदगुप्त विक्रमादित्य से है। यहाँ कुमार शब्द से कुमारगुप्त प्रथम लक्षित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हो सकता, क्योंकि विक्रम शब्द के साथ इसका समास है। वस्तुतः उन्होंने स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के नाम के अभिज्ञान का प्रयोग किया है।

यदि यह तर्कप्रणाली यथार्थ हो तो यह सिद्ध होगा कि यज्ञीय अश्व की रक्षा करते हुए तथा शत्रुओं के साथ युद्ध करते हुए एक युवराज की घटना उन्होंने कुमारगुप्त प्रथम तथा स्कंदगुप्त की जीवनी से ली है।

अब इसके साथ अन्य एक घटना पर विचार किया जा रहा है। रघुवंश में रघु की दिग्विजय के वर्णन के प्रसंग में कालिदास ने हूणों के साथ युद्ध का वर्णन इस प्रकार किया है—

विनीताध्वश्रमास्तस्य सिंधुतीरविचेष्टनैः।
दुधुवुर्वाजिनः स्कंधाल्लग्नकुंकुमकेसरान्॥
तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्।
कपोलपाटनादेशि बभूव रघुचेष्टितम्॥

यहाँ युद्ध का दृश्य सिंधु के तीर पर दिखाया गया है, जहाँ कुंकुम उत्पन्न होता है। यह प्रमाणित है कि यह स्थान कश्मीर के आसपास होगा। अब इसके साथ सिंधुतीर पर संघटित वसुमित्र के संघर्ष को मिलाइए। मालविकाग्निमित्र में कहा गया है—

स सिंधोर्दक्षिणरोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनानां प्रार्थितः। यहाँ भी शत्रु को यवन कहा गया (हूणों के लिये यह संभवतः एक प्रचलित शब्द था) जिनके विषय में यह कहा जाता है कि उनके पदाति सैन्य शक्तिशाली हैं और यह दृश्य सिंधु के तीर पर उपस्थापित किया गया है। मैं तो यह सोचता हूँ कि इन दोनों संघर्षों का आधार स्कंदगुप्त के अनुरूप संघर्ष ही है। यहाँ भी कालिदास ने कौशलपूर्वक इस तथ्य को ध्वनित किया है। पूर्वोद्धृत श्लोकों में स्कंध और विक्रम शब्द इस अनुमान को स्पष्ट करते हैं। यह प्रमाणित करता है कि वह संघर्ष मूलतः स्कंदगुप्त विक्रमादित्य से संबंध रखता है (स्कंध-स्कंद) इस प्रकार यह घटना भी स्कंद (गुप्त) विक्रमा (दित्य) के नाम से अंकित है। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि इन तीन संघर्षों (सिंधुतीर पर यवनों के साथ वसु का समागम, इंद्र के साथ रघु का युद्ध, तथा हूणों के साथ उसका युद्ध) के आधार हूणों के साथ स्कंदगुप्त के वास्तव युद्ध ही हैं। इस दृष्टि से यह प्रतीत होगा कि स्कंदगुप्त ने कश्मीर के पास सिंधु के दक्षिण तीरस्थ किसी स्थान पर हूणों से युद्ध किया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि मालविकाग्निमित्र की विषयवस्तु (द्र० राजकुमारी और राजा का प्रेम) किसी लोककथा से ली गई है ऐसा प्रतीत होता है, तथापि अन्य गौण घटनाओं में से अश्वमेध और वसुमित्र के संघर्ष संबंधी कल्पना का आधार गुप्त-सम्राटों के इतिहास की सदृश घटना ही है। अन्यत्र मैं यह दिखाऊँगा कि अशोक संबंधी घटना भी गुप्तकालीन किसी व्यक्ति को लक्ष्य करने के लिये चित्रित की गई है। इस प्रकार चार गौण घटनाओं में तीन घटनाओं का आधार कालिदास ने गुप्त राजाओं के इतिहास पर माना है ऐसा प्रतीत होता है। मैं यह नहीं कह सकता कि विदर्भ संबंधी घटना का आधार भी गुप्तों के इतिहास में है या नहीं। आश्चर्य नहीं, यदि ऐसा ही हो जाय, पर अभी इस विषय में निश्चित रूप से कहने के लिये कोई निश्चयात्मक प्रमाण नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमने देखा है कि विक्रमोर्वशीय में उर्वशी की मुक्ति के अनुरूप घटना गुप्तों के इतिहास में है और मैंने पहले ही यह अनुमान किया है कि कालिदास ने चंद्रपूजा के दृश्य का निर्वाचन चंद्रगुप्त द्वितीय को लक्षित करने के लिये ही किया था। इसको छोड़कर विक्रमोर्वशीय की विषयवस्तु सरल है और प्राचीनतर आधार से ली गई है। यह प्रतीत होता है कि आयु की घटना कालिदास का आविष्कार है।

मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय में वर्णित घटनाओं का आधार गुप्तों के इतिहास में है इस संभावना को पृथक् रखकर, अब मैं रघुवंश की परीक्षा करूँगा। अभी मैं अंतिम दो सर्गों पर विचार नहीं करूँगा, क्योंकि मेरा विश्वास है कि मूलतः कालिदास ने अपने ग्रंथ की समाप्ति १७ सर्ग में ही की थी, और बाद में अन्य दो सर्गों को जोड़ दिया गया। इसलिये अंतिम दो सर्गों को छोड़कर यदि हम पहले १७ सर्गों पर विचार करें तो विदित होगा कि अनेक घटनाओं के वर्णन में कालिदास ने अपने पृष्ठपोषकों की जीवनी की कुछ विशिष्ट घटनाओं को चित्रित करने की चेष्टा की है।

और यदि यह सही है, तो उन्होंने इसे दिलीप, रघु, अज, कुश और अतिथि के रूप में किया है। राम और दशरथ के विषय में उनके पास रामायण थी और यह स्पष्ट है कि इन दोनों राजाओं से संबंधित प्रायः सभी घटनाएँ रामायण से ली गई हैं। परंतु अन्य राजाओं के विषय में कालिदास के पास ऐसा कोई आधार नहीं था, जिससे वे अपनी सामग्री का संकलन करते। बहुत संभव है कि उनका 'पूर्वसूरि' शब्द रामायण और रामायणाश्रित अन्य ग्रंथों की ओर इंगित करता हो। अतएव यह असंभव नहीं कि अपने नाटकों तथा रघुवंश में भी उन्होंने गुप्त राजाओं की जीवनी से घटनाओं को लिया। इसी दृष्टिकोण से ऐसा प्रतीत होता है कि दो या तीन घटनाएँ गुप्तों के इतिहास में अविकल हैं।

१६वें सर्ग में कुश के जीवन से संबंधित दो घटनाओं का वर्णन कालिदास ने किया है। १ - उनकी राजधानी का परिवर्तन तथा २ - नागराजकुमारी से उनका विवाह। और १७वें सर्ग के आरंभ में कहा गया है कि दानवों के साथ युद्ध में कुश की हत्याकी गई थी और उनकी अंतिम इच्छा को मानकर उनके मंत्री ने उनके पुत्र अतिथि को सिंहासनारूढ़ किया था। मेरा विचार है कि अंतिम घटना का आधार कुमारगुप्त प्रथम तथा स्कंदगुप्त की जीवनी है। विद्वानों का विश्वास है[3] कि कुमारगुप्त प्रथम की हत्या पुष्यमित्र के साथ युद्ध में हुई (द्र० ए हिस्ट्री अफ एंशियंट इंडिया, आर० एस० त्रिपाठी कृत)। अतः यह संभव है कि कुश के निधन की यह घटना कुमारगुप्त प्रथम के निधन पर आधारित है। कुश और अतिथि के जीवन की घटनाओं का और विवरणात्मक कोई आधार नहीं है और इसीलिये कालिदास ने इस घटना का आविष्कार

३. रायचौधरी कृत प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास, द्वि० संस्क० पृ० ३५५ – ३५७। कालिदास ने जो सूत्र दिया है, उससे पूरी समस्या का समाधान हो जाता है। पुष्यमित्र के साथ युद्ध में कुमारगुप्त प्रथम मारा गया था पर उन्होंने पहले ही अपनी मृत्यु के बाद स्कंदगुप्त को राजसिंहासन पर बैठाने की इच्छा व्यक्त की थी। और मंत्री ने जो स्कंदगुप्त के विजयी चरित को पहले ही देख चुके थे, अवश्य ही स्वेच्छा से कुमारगुप्त प्रथम की इच्छा को पूर्ण किया था (जैसा रघुवंश १७।५–८ में स्पष्ट कहा गया है)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया। कुश की मृत्यु से संबंधित इस विवरण के आविष्कार के लिये अवश्य ही कुछ न कुछ उद्देश्य था और मेरा अनुमान है कि यह उद्देश्य तभी चरितार्थ होता है, जब कुश को कुमारगुप्त प्रथम तथा अतिथि को स्कंदगुप्त के अनुरूप माना जाय।

इसके साथ राजधानी - परिवर्तन की घटना की भी परीक्षा करनी चाहिए। रघुवंश में यह कहा गया है कि कुश ने अपनी राजधानी को अयोध्या से कुशावती में स्थानांतरित किया था और इसीलिये अयोध्या की अधिष्ठातृ देवी कुश के पास स्वप्न में आविर्भूत हुई और उसने परित्यक्त राजधानी की वसतिशून्य अवस्था का वर्णन किया। उसने राजा से अपनी राजधानी में लौटने का अनुरोध किया और राजा ने उस अनुरोध का पालन किया। यह पूर्ण संभव है कि यह घटना भी गुप्तों के इतिहास से संबंध रखती हो। कुछ ऐतिहासिकों का विश्वास है कि चंद्रगुप्त द्वितीय ने अपनी राजधानी को उज्जैन में स्थानांतरित किया था। यह माना जाता है कि स्कंदगुप्त के साक्षात् उत्तराधिकारियों की राजधानी अयोध्या थी[४]। इस प्रकार रघुवंश में वर्णित राजधानी के परिवर्तन का विवरण गुप्तकालीन घटनाओं (राजधानी का परिवर्तन, पूर्व राजधानी में प्रत्यागमन तथा अयोध्या को राजधानी बनाना) पर आधारित है।

यह भी कहा जाता है कि कुश ने कुमुदवती नामक एक नाग राजकुमारी से विवाह किया, जो एक नाग राजा की बहन थी। और हम प्रभावती गुप्ता के दानपत्र से जानते हैं कि उनकी माता कुबेरनागा चंद्रगुप्त द्वितीय की महिषी नागवंशीया थी। इससे प्रमाणित होता है कि नागों के साथ गुप्त राजाओं का वैवाहिक संबंध था और यह प्रतीत होता है कि गुप्तों के इतिहास से कालिदास ने यह कल्पना ग्रहण की। कुश और नाग राजकुमारी के विवाह का लक्ष्य चंद्रगुप्त द्वितीय या कुमारगुप्त प्रथम की तदनुरूप घटना को ध्वनित करना है। यह कहना यद्यपि अभी सर्वथा संशयशून्य नहीं है, परंतु यदि कुश की मृत्यु का घटनाविवरण कुमार गुप्त प्रथम के साथ उसकी एकात्मता को अनुमानित करता है, तो इस विवाह का लक्ष्य भी वही है।

इस विमर्श से यह स्पष्ट हो जाता है कि रघु के दिग्विजय का आधार समुद्रगुप्त की विजय ही नहीं है जैसा कि साधारणतया माना जाता है, प्रत्युत वह चंद्रगुप्त द्वितीय और स्कंदगुप्त की महान् विजय पर भी आधारित है। उदयगिरि गुहाभिलेख से यह स्पष्ट है कि चंद्रगुप्त द्वितीय ने दिग्विजय का आरंभ किया था। हम जानते हैं कि स्कंदगुप्त अनेक युद्धों के विजयी नेता हैं। यह असंभव नहीं कि उन्होंने भी दिग्विजय की हो। रघुवंश में वर्णित रघु की अनेक विजय वर्णित हैं, और उनमें वर्णित हूण, कंबोज, पांड्य तथा चोलों पर विजय समुद्रगुप्त ने नहीं की थी यह हम जानते हैं। परंतु स्कंदगुप्त ने हूणों पर विजय की थी। अतः यह संभव है कि कालिदास ने यह विषय स्कंदगुप्त के जीवन से लिया हो। यदि मेरे इस अनुमान पर

४. रायचौधरी कृत प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास, दूसरा संस्करण, पृ० ३६३ "इस पहचान का महत्व इस तथ्य में है कि स्कंदगुप्त के साक्षात् उत्तराधिकारियों की एक राजधानी अयोध्या में भी थी"। रघुवंश से यह भी निश्चित होता है कि कुमारगुप्त प्रथम और स्कंदगुप्त की भी एक राजधानी अयोध्या में थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वास किया जाय कि अपने पिता के यज्ञीय अश्व की रक्षा के लिये स्कंदगुप्त बाहर गए थे, और उस समय उन्होंने हूणों को पराभूत किया था, तो हम यह भी विश्वास कर सकते हैं कि उस समय उन्होंने कंबोजों को भी पराभूत किया था, क्योंकि रघुवंश के वर्णन के अनुसार (यज्ञीय) अश्व सिंधु तीर के कुंकुमप्रसू स्थान (जहाँ हूण लोग रहते थे) से कश्मीर के उत्तर में स्थित कंबोज तक गया था। इस प्रकार यह पूर्ण संभव है कि पश्चिमीय हिमालय पर विजय स्कंदगुप्त के पराक्रम का संकेत करती है। और यदि हम इस अनुमान पर विश्वास कर सकते हैं तो यह भी मान सकते हैं कि किसी समय पांड्य तथा चोलों ने भी गुप्तों के शासन को स्वीकार किया था।

मैंने उतना ही विवरण संकलित किया है जो मेरी दृष्टि में संभव मालूम पड़ता है। अब मैं कुछ उन विषयों पर विचार करूँगा जिनकी संभावना निश्चित है। ऐसी सामग्री के लिये हमको तबतक अपेक्षा करनी होगी, जबतक भविष्य अनुसंधान उसको प्रमाणित या अप्रमाणित न करें।

हम जानते हैं कि रघुवंश में राम और दशरथ की कथा को कालिदास ने रामायण से लिया है, पर अन्य घटनाओं के स्रोत के लिये इस समय हमारे पास कोई साधन नहीं है। उन घटनाओं के नाम, यथा दिलीप की गोसेवा, इंद्र के साथ रघु का युद्ध और उसकी दिग्विजय, अज का विदर्भ राजकुमारी से विवाह, प्रतिद्वंदियों से उसका युद्ध, इंदुमती से उसका वियोग और उसकी मर्मतुद मृत्यु, कुश का राजधानी परिवर्तन, नाग राजकुमारी से उसका विवाह, रणक्षेत्र में उसकी मृत्यु, अश्वमेध वर्णन के साथ अतिथि का विस्तृत विवरण। मैंने इन विवरणों में दिखाया है कि रघु और कुश से संबंधित घटना के अनुरूप घटना गुप्तों के इतिहास में है। उसके बाद दिलीप, अज और अतिथि से संबंधित घटनाएँ अवशिष्ट रह जाती हैं। मेरे विचार में इन घटनाओं के अनुरूप घटनाएँ भी गुप्तों के इतिहास में हैं, यद्यपि ऐसा कहने के लिये कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। कुछ भी हो, मैं यहाँ कुछ उन प्रमाणों को उपस्थित करूँगा, जिनसे इन घटनाओं को गुप्तों के इतिहास से संबंधित किया जा सकता है—

१ – विक्रमादित्य से संबंधित एक रोचक कथा है कि एक गाय को इंद्र ने विक्रम की परीक्षा के लिये भेजा था। उस पंक में पतित गाय की रक्षा के लिये विक्रमादित्य ने एक रात अनावृत होकर बिताई थी। यदि गुप्त विक्रमादित्य (चंद्रगुप्त द्वितीय या स्कंदगुप्त) के जीवन में ऐसी कोई घटना घटी हो तो कालिदास के समकालीन चारण, राजा के ऐसे महान् कार्य के विषय में अवश्य ही गाया करते होंगे, और कालिदास ने ऐसे ही किसी गान से दिलीप की गो-सेवा-विषयक कल्पना की।

२ - कालिदास की उपमाओं की विचित्र प्रकृति के विषय में हमने पहले ही उल्लेख किया है। रघुवंश में हम अज के विषय में ऐसी उपमाएँ देखते हैं। प्रायः अज को कुमार कहा गया है तथा कुमार से उसकी तुलना की गई है—

(क) अज के जन्म के विषय में कहा गया है—**ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमार कल्पं सुषुवे कुमारम्** (४।३६)। यहाँ नवजात अज की तुलना कुमार या स्कंद से की गई है।

(ख) निम्नोक्त स्थानों पर अज के लिये कुमार शब्द का प्रयोग किया गया है – ५।३६, ५०, ५२, ७५; ६।३, ७८, ८६; ७।१६, २८, ६१ इत्यादि। इन स्थलों को देखने से पता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलता है कि अज को कुमार कहने के लिये कालिदास ने सभी संभाव्य उपायों का आश्रय लिया है।

ग – स्वयंवरसभा में जब अज ने आसन ग्रहण किया, तब उनके वर्णन में कहा गया है **भूयिष्ठमासीदुपमेयकांतिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणागुहेन** (६।४)। यहाँ अज की तुलना गुह या कार्त्तिकेय से की गई है।

घ – सुनंदा दासी ने अज के वर्णनमें कहा है—**असौ कुमारस्तमजोऽनुजातः** (६।७८)। यहाँ अज और कुमार का खास प्रयोग किया गया है।

ङ – स्वयंवर के बाद विदर्भ राजा जब अज को अपनी राजधानी में ले गया, तब सप्तम सर्ग के पहले श्लोक में ही कहा गया है—**अथोपयंत्रा सदृशेन युक्तां स्कंदेन साक्षादिव देवसेनाम्।** यहाँ अज की तुलना साक्षात्‌रूप से स्कंद से की गई है।

कुमार और स्कंद के इन बहुधा प्रयुक्त संदर्भों से यह प्रमाणित होता है कि कालिदास ने कुमारगुप्त प्रथम या स्कंदगुप्त को लक्ष्य करके अज का चित्रण किया है। यदि ऐसा हो तो विदर्भराजकुमारी से विवाह की यह घटना अवश्य ही कुमारगुप्त प्रथम या स्कंदगुप्त के जीवन में घटित हुई थी।

३ – अज के विषय में कालिदास ने कहा है कि जब वे दारक्रिया योग्य (अर्थात् लगभग २५ वर्ष के) हुए थे, तब वे स्वयंवर में आए थे (५।४०)। उसके बाद ८।१ में कहा गया है कि रघु ने अज को विवाह के बाद ही राज्याभिषिक्त कर दिया। उसके बाद इंदुमती की मृत्यु के बाद ही रघु की मृत्यु हो गई। कवि ने कहा है कि अज पत्नी के मरने के बाद ८ वर्ष तक जीवित रहे (८।९२) और उसके बाद मृत हुए। हमने यह देखा कि कालिदास अज के द्वारा कुमारगुप्त प्रथम या स्कंदगुप्त को लक्ष्य करता है। अब हमें यह देखना है कि पूर्ववर्णित अज का जीवन कुमारगुप्त प्रथम या स्कंदगुप्त की जीवनी में से किसकी जीवनी से अधिकतर संगत है। हम जानते हैं कि कुमारगुप्त प्रथम ने ४२ वर्ष दीर्घकालीन राज्य किया (गुप्त संवत् ९४ – १३६)। अतः कुमारगुप्त प्रथम अवश्य ही लगभग ६५ की वृद्धावस्था में मृत हुए थे। परंतु अज के जीवन का पूर्वोक्त विवरण सूचित करता है कि वे अपेक्षाकृत युवावस्था में ही मृत हुए थे। कहा जाता है कि वे किसी क्षय रोग से मृत हुए थे (जो युवावस्था में मृत्यु का ज्ञापक है) वृद्धावस्था के कारण नहीं। उन्होंने अपने वंश के अन्य राजाओं की तरह वृद्धावस्था में वानप्रस्थ का आश्रय नहीं लिया था। ऐतिहासिक कहते हैं कि स्कंदगुप्त भी युवावस्था में मृत हुए। यह समझा जाता है कि वे २५ वर्ष की उम्र में सिंहासनारूढ़ हुए और १२ वर्ष तक उन्होंने राज्य किया, इस प्रकार ३७ वर्ष उनकी आयु ठहरी। अतः यह संभव है कि अज के द्वारा स्कंदगुप्त को लक्ष्य किया गया है। यदि ऐसा हो तो यह हो सकता है कि अज की जीवनी में वर्णित सब या अधिकतर घटनाएँ स्कंदगुप्त की जीवनी से ली गई हैं। विशेषतः पत्नी की मृत्यु के बाद जीवित रहने की ८ वर्ष की निश्चित अवधि तथा उनके मरण की अस्वाभाविक अवस्था का संबंध अवश्य ही स्कंदगुप्त की जीवनी की किसी न किसी सदृश घटना से है। पर यह मत सर्वथा निश्चित नहीं है।

४ – कुश के जीवन की तीन घटनाओं को कुमारगुप्त प्रथम की जीवनी पर आधारित होने की संभावना हमने पहले ही की है। और इसी प्रमाण के आधार पर स्कंदगुप्त से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संबंधित अतिथि के जीवन की घटनाओं को मैं लेता हूँ। अपनी स्वाभाविक रीति के अनुसार दो एक स्थान पर कालिदास ने इसको ध्वनित किया है—

क – अतिथि के राज्याभिषेक के बाद ही कहा गया है—**बभौ भूयः कुमारत्वादधि राज्यमवाप्य सः** (रघु १७।३०)। यहाँ यह कहा गया है कि युवावस्था में ही अतिथि सिंहासनारूढ़ हुआ और स्कंदगुप्त ने ही युवावस्था में राज्यारोहण किया था।

ख – अतिथि की राज्यनीति के विषय में कालिदास ने कहा है—

सगुणानां बलानां च षण्णां षण्मुखविक्रमः।
बभूव विनियोगज्ञः साधनीयेषु वस्तुषु॥ (१७।६७)

यहाँ 'षण्मुख विक्रम' विशेषण स्कंदगुप्त विक्रमादित्य का ज्ञापक है, और इसके बाद के वाक्य में जो क्रम शब्द है, वह भी सार्थक है, क्योंकि वह स्कंदगुप्त की अन्य उपाधि (अर्थात् विक्रमादित्य) का ज्ञापक है। और यह विचार तथा विशेषतः रणक्षेत्र में पिता की मृत्यु के बाद अतिथि का राज्यारोहण, जो स्कंदगुप्त की राज्यप्राप्ति की अवस्था के अनुरूप है एवं षण्मुख विक्रम शब्द से ज्ञापित अर्थ, इन दोनों से यह प्रमाणित होता है कि कालिदास ने स्कंदगुप्त को चित्रित करने के लिये अतिथि को लिया है। यदि ऐसा हो, तो यह भी होगा कि स्कंदगुप्त ने भी अश्वमेध किया था, यद्यपि इसके निश्चयात्मक प्रमाण नहीं हैं।

निम्नोक्त श्लोक से एक अन्य अनुमान निकल सकता है। अतिथि की महत्ता के विषय में कालिदास कहते हैं—

प्रवृद्धौ हीयते चंद्रः समुद्रोऽपि तथाविधः।
स तु तत्समवृद्धिश्च न चाभूत् ताविव क्षयी॥ (१७।७१)

यहाँ चंद्र और समुद्र शब्द चंद्रगुप्त प्रथम या द्वितीय तथा समुद्रगुप्त को लक्ष्य करते हैं। ये श्लोक यह भी सूचित करते हैं कि चंद्रगुप्त प्रथम (अथवा चंद्रगुप्त द्वितीय) और समुद्रगुप्त अपने अंतिम दिनों में (राज्यसीमा के घट जाने से) कुछ कष्ट में पड़ गए थे, परंतु स्कंदगुप्त को ऐसा कोई कष्ट नहीं मिला, यद्यपि उनका उत्थान भी उतना ही महत्वपूर्ण था। चंद्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त तथा चंद्रगुप्त द्वितीय के अंतिम दिनों के विषय में हम कुछ भी निश्चितरूप से नहीं जानते, यद्यपि कुछ निर्देश मिलते हैं। संभवतः समुद्रगुप्त को अंतिम दिनों में शक या खसों के साथ युद्ध करना पड़ा था। कल्याणवर्मन् के द्वारा चंद्रगुप्त प्रथम वस्तुतः राज्य से भगाया गया था (कौमुदी महोत्सव के अनुसार इस विषय में मैं जायसवाल जी के मत को मानता हूँ)। यदि चंद्र शब्द चंद्रगुप्त द्वितीय को ही लक्ष्य करता है तो यह कहना होगा कि अपने अंतिम दिनों में उनको भी कुछ कष्ट मिला था। ऐसी एक कहानी है कि किसी सातवाहन राजा ने विक्रमादित्य को उनकी वृद्धावस्था में पराजित किया था। यह घटना चंद्रगुप्त द्वितीय को भी लक्ष्य कर सकती है। इस प्रकार यह असंभव नहीं कि चंद्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त तथा चंद्रगुप्त द्वितीय को उनके अंतिम दिनों में कुछ राजनैतिक कष्टों का सामना करना पड़ा था। अपने अंतिम दिनों में स्कंदगुप्त को कोई कष्ट नहीं मिला। उनके राज्यकाल के प्रथम २ या ३ वर्षों में सभी युद्ध समाप्त हो चुके थे, जिसके फलस्वरूप उनके अंतिम दिन शांतिपूर्ण थे।

अभी तक हमने यह दिखाया है कि कालिदास ने गुप्तराजाओं (समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम तथा स्कंदगुप्त) के काल की कुछ घटनाओं का चित्रण अपनी कृतियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में किया है। मुझे यह भी प्रतीत होता है कि कालिदास स्कंदगुप्त का मित्र और शायद पदाधिकारी था। मैंने ऊपर जो कुछ कहा है, वह यदि संगत हो तो यह स्पष्ट हो जाता है कि स्कंदगुप्त के प्रति कालिदास कुछ पक्षपात भी दिखाता है। मालविकाग्निमित्र में सिंधुतीर पर वसुमित्र का पराक्रम और रघुवंश में रघु का इंद्र के साथ संघर्ष तथा हूणों के साथ उनका युद्ध स्कंदगुप्त के पराक्रमों को लक्ष्य करते हैं। हमने देखा कि अज और अतिथि के जीवन की घटनाएँ संभवतः स्कंदगुप्त को लक्ष्य करती हैं। विशेषरूप से यह प्रतीत होता है कि अतिथि के वर्णन में कालिदास ने स्कंदगुप्त के चरित को वर्णित किया है। अतिथि के वर्णन में कालिदास ने अपनी सर्वोच्च वर्णन कला दिखाई है। रघुवंश (१०।३३ – ८१) के अध्ययन से विदित होगा कि कालिदास अतिथि की सर्वाधिक प्रशंसा करते हैं। अतिथि की इतनी उच्च प्रशंसा करने में कालिदास का कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य था, क्योंकि अतिथि स्वभावतः एक अज्ञातप्राय और यशोहीन नृपति है। क्या यह अतिथि (स्कंदगुप्त) के प्रति उनके पक्षपात का सूचक नहीं है? यह अवश्य ही प्रतीत होता है कि कालिदास की दृष्टि में स्कंदगुप्त वीरों का आदर्श था और स्कंदगुप्त के जीवन के विषय में स्पष्टरूप से कालिदास को ज्ञान था। यह असंभव नहीं कि उनकी विजयों में स्कंदगुप्त के साथ कालिदास भी जाते थे। प्रतीत होता है कि कालिदास कुमारगुप्त प्रथम (संभवतः उनके जीवन के एक या दो वर्ष तक) स्कंदगुप्त, पुरुगुप्त तथा पुरुगुप्तों के एक या अधिक वंशधरों की सभा में विद्यमान थे; परंतु उनकी दृष्टि में स्कंदगुप्त ही सर्वाधिक शूरवीर नायक था।

मेरे कथन की पुष्टि निम्नोक्त श्लोक से भी होती है—

इक्षुच्छायानिषादिन्यः तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमार कथोद्‌घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥ (रघुवंश ४।११)

इस श्लोक में रघु के विषय में सामान्य के अतिरिक्त मेरी दृष्टि में अन्यार्थ भी है, अर्थात् कालिदास ने अपनी विभिन्न कृतियों में गुप्तों (गोप्तुः) के यश का गान किया है, और प्रत्येक कृति में कुमार या स्कंद का कोई न कोई उल्लेख विद्यमान है। प्रत्येक ग्रंथ में स्कंद संबंधी किसी वाक्य से ग्रंथों का उपसंहार उन्होंने किया है। मालविकाग्निमित्र की समाप्ति पर वसुमित्र (जिसको कुमार कहा गया है) के पराक्रम का उल्लेख है। विक्रमोर्वशीय के अंत में आयु का उल्लेख है, जिसकी तुलना इंद्र के पुत्र (अर्थात् महेंद्रादित्य के पुत्र) और स्कंद (५, १४ तथा २३) से की गई है। शकुंतला के अंत में सर्वदमन का उल्लेख है, जिसकी तुलना भी इंद्र के पुत्र के साथ की गई है। इस प्रकार उनके प्रत्येक नाटक में एक युवा राजकुमार का निर्देश मिलता है जिसका लक्ष्य स्कंदगुप्त होता है। मेरा विश्वास है कि रघुवंश की समाप्ति भी १७वें सर्ग में हुई थी। मेरे मतानुसार उसमें स्कंदगुप्त की जीवनी दी हुई है। कुमारसंभव के विषय में यह विश्वास किया जाता है कि कुमारजन्म तक के अंश में उसकी समाप्ति हुई थी, और उसमें स्कंदगुप्त का निर्देश है—यह सिद्ध है। इस प्रकार माना जा सकता है कि एक विचित्र निर्धारित नियम के अनुसार कालिदास के ग्रंथों की समाप्ति स्कंदगुप्त के उल्लेख के साथ ही होती है। अतः यह ध्वनित होता है कि यद्यपि कालिदास एकाधिक गुप्त राजाओं के यश का वर्णन करते हैं, तथापि उनकी काव्यकला का यथार्थ केंद्र स्कंदगुप्त ही था।

मेरे विचार में कालिदास ने स्कंदगुप्त के जीवनकाल में मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय की रचना की थी। पुरुगुप्त से बुधगुप्त के काल तक उन्होंने कुमारसंभव,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शकुंतला और रघुवंश की रचना की थी। अवश्य ही उन्होंने शकुंतला की समाप्ति सबके अंत में की थी और वह भी बुधगुप्त के राज्यकाल के अंतिम २ या ३ वर्षों में। उसके पहले उन्होंने अवश्य ही रघुवंश की समाप्ति की थी। इस स्थिति में मेरा विश्वास है कि उन्होंने इसकी समाप्ति १७ सर्गों में की थी। इस सर्ग में अपने आश्रयदाता स्कंदगुप्त के प्रति श्रद्धांजलि के साथ उन्होंने सोचा कि गुप्तवंश के कथा कीर्तन की समाप्ति उन्होंने की है। प्रतीत होता है कि उन्होंने बाद में दो सर्ग जोड़ दिए (संभवतः बुधगुप्त की मृत्यु के अनंतर)। इस कथन का आधार यह है—

अंतिम दो सर्गों पर जब हम विचार करते हैं तो कुछ विशेष बात हमें आकृष्ट करती है। कालिदास ने १८वें सर्ग में २१ राजाओं की एक सूची मात्र दी है। इन २१ राजाओं में उन्होंने १८ या १९ राजाओं का अति संक्षिप्त विवरण दिया है। प्रायः उन्होंने उनके नामों का व्युत्पत्तिमूलक तात्पर्य ही दिया है, ऐसा कुछ विवरण नहीं दिया जिसे चित्ताकर्षक कहा जा सके। पर अंतिम ४ राजाओं के विषय में उन्होंने कुछ आकर्षक विवरण भी दिया है। पुष्य के विषय में कहा गया है कि वह जैमिनि का शिष्य बन गया। यह एक अवलोकनीय वर्णन है। ध्रुवसंधि के विषय में कहा गया है कि वह युवावस्था में ही सिंह से मारा गया। सुदर्शन सोलह वर्ष की किशोरावस्था में ही सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। १८वें सर्ग में १८ श्लोकों में कालिदास ने सुदर्शन के राज्य का वर्णन किया है। उसके बाद पूरे १९वें सर्ग में अग्निवर्ण का वर्णन है।

अब प्रश्न यह है कि क्यों कालिदास ने अतिथि के १८ वंशजों के जीवनवृत्तांत का कोई विशेष वर्णन नहीं किया और उसके बाद सुदर्शन और ध्रुवसंधि के विषय में कुछ अधिक वर्णन किया और अंत में एक पूरे सर्ग में अग्निवर्ण का विवरण दिया है? यह कहना अयुक्त होगा कि कालिदास ने जिस आधार का अनुसरण किया था, उसमें भी इसी प्रकार वर्णन था, क्योंकि ऐसा होना स्वाभाविक नहीं है। मेरी दृष्टि में एक संभव उत्तर हो सकता है। इस निबंध में जिस दृष्टि से विचार किया गया है, उसके अनुसार यह प्रतीत होता है कि अग्निवर्ण के रूप में कालिदास एक ऐसे गुप्त राजा का वर्णन करना चाहते थे जो वस्तुतः दुराचारी और व्यसनी था। वह गुप्त राजा कौन था? यह प्रतीत होता है कि कालिदास ने इस प्रश्न का एक समाधान दिया है। ध्रुवसंधि के वर्णन में उन्होंने उसको नृसिंह कहा है (१८।३५)। इससे यह ध्वनित होता है कि हम उसे नरसिंह गुप्त बालादित्य प्रथम समझें। यदि ऐसा हो, तो स्वभावतः पुष्य को पुरुगुप्त, ध्रुवस्वामी को नरबल प्रथम, सुदर्शन को कुमारगुप्त द्वितीय और अग्निवर्ण को बुध गुप्त (क्योंकि मैं मानता हूँ कि कुमारगुप्त द्वितीय के पुत्र विष्णुगुप्त ने बुधगुप्त के बाद राज्य किया) समझना चाहिए। अतएव रघुवंश के ४ अंतिम राजाओं का लक्ष्य स्कंदगुप्त के चार साक्षात उत्तराधिकारी ही हैं। पर यह पूछा जा सकता है कि यदि कालिदास स्कंदगुप्त के चार उत्तराधिकारियों को लक्ष्य करना चाहते थे, तो क्यों उन्होंने उन चारों को अतिथि (मेरे मत में जिसको कालिदास ने स्कंदगुप्त के रूप में लक्ष्य किया है) के चार साक्षात उत्तराधिकारियों के रूप में लक्ष्य नहीं किया? तथा क्यों उन्होंने उनके (अतिथि के) १९वें, २०वें, २१वें तथा २२वें उत्तराधिकारी के रूप में लक्ष्य किया, जिनके बीच में १८ राजाओं का व्यवधान है? बाद में इस प्रश्न का समाधान होगा, पर अभी हम स्कंदगुप्त के इन चार उत्तराधिकारियों की समकालीन स्थिति पर विचार करेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

110268
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास और गुप्तसम्राट

मेरा विश्वास है कि कालिदास स्कंदगुप्त के समकालीन थे। हम जानते हैं कि स्कंदगुप्त ने १३६ गुप्तसंवत से १४८ गुप्त संवत तक राज्य किया। मेरा मत है कि कालिदास का जन्म लगभग ११० गुप्त संवत में हुआ था। अतएव जब स्कंदगुप्त राजसिंहासन पर बैठा, तब कालिदास अवश्य ही २६ वर्ष के थे। यदि प्रचलित विश्वास के अनुसार स्कंदगुप्त २४वें वर्ष में सिंहासन पर आरूढ़ हुए, तो कालिदास का वय भी स्कंदगुप्त के समान था। कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के समय स्कंदगुप्त युवक हो गए थे। कुमारगुप्त प्रथम ने सिंहासन पर आरूढ़ होने के १० या १५ वर्ष के बाद नागराजकुमारी से विवाह किया था। कुमारगुप्त प्रथम ने १३६ गुप्त संवत पर्यंत, ४१ वर्ष तक राज्य किया। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि स्कंदगुप्त का जन्म अवश्य ही १११ गु० सं० के लगभग हुआ था और इसलिये स्कंदगुप्त और कालिदास प्रायः समवयस्क ही थे। यह तो निश्चित ही है कि स्कंदगुप्त की मृत्यु ३८ वर्ष में हुई थी और ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास वृद्धावस्था तक जीवित थे। इस प्रकार कालिदास आजीवन स्कंदगुप्त के एक अंतरंग मित्र रहे।

स्कंदगुप्त के बाद गुप्तराजाओं का इतिहास ह्रास और अपकर्ष का है। जैसा कि हम जानते हैं कि कई राजा हुए और मरे। पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त बालादित्य प्रथम तथा कुमारगुप्त द्वितीय ये सब एक के बाद दूसरे आते गए और स्कंदगुप्त की मृत्यु के ८ या ९ वर्ष के भीतर ही समाप्त हो गए। इसके बाद पुरुगुप्त के पुत्र बुधगुप्त हुए। बुधगुप्त पुरुगुप्त के ही पुत्र थे, कुमारगुप्त प्रथम के नहीं—यह अब निःसंदिग्धरूप से नालंदा मुद्रा से प्रमाणित हो चुका है (द्र० इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली १९१४)।

परवर्ती गुप्त राजाओं के काल के विषय में कालिदास ने जो कुछ कहा है, उसके विषय में मेरा मत इस प्रकार है। कालिदास स्कंदगुप्त के केवल सभाकवि ही न थे, बल्कि वे स्कंदगुप्त के काल में गुप्तों के ऐश्वर्य की पराकाष्ठा को स्वयं देख चुके थे। उन्होंने व्यक्तिगतरूप से स्कंदगुप्त की सैन्य व्यवस्था तथा नागरिक व्यवस्था को केवल देखा ही नहीं था, बल्कि उनमें भाग भी लिया था, और उन्होंने अपने अमर काव्यों में इन विस्मयकर विषयों का गान किया। मेरे विचार में स्कंदगुप्त की मृत्यु के समय कालिदास ४० वर्ष के अवश्य होंगे। इसके बाद १० या २० वर्ष तक गुप्तों की सभा में वे अवश्य ही जीवित थे पर अंतिम दिनों में वे निश्चय ही वानप्रस्थाश्रम में चले गए थे, जिसके लिये उनमें अनुराग उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। एकांत में रहकर उन्होंने अवश्य ही अपने स्वामी गुप्त राजाओं के परिवर्तनशील भाग्य को देखा था। उन्होंने गुप्त राजाओं के राजनैतिक ह्रास को नहीं देखा होगा, क्योंकि जैसा हम जानते हैं कि चार गुप्त राजाओं (पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त बालादित्य प्रथम, कुमारगुप्त द्वितीय तथा बुधगुप्त) ने अपने मूलभूत राज्य से भी अधिकविस्तृत देश पर शासन किया था और वे महाराजाधिराज पदवी की रक्षा में समर्थ थे। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने उन नैतिक और आध्यात्मिक आदर्श के ह्रास को देखा था, जिस आदर्श को समुद्रगुप्त और स्कंदगुप्त ने प्रतिष्ठित किया था। उन्होंने राजाओं को अपने राज्यारोहण के २ या ३ वर्ष के भीतर मरते हुए देखा और यह भी प्रतीत होता है कि उन्होंने बुध गुप्त को (विशेषकर उनके राज्यकाल के अंतिम ५ या ६ वर्ष) एक व्यसनी और विषयासक्त की तरह देखा होगा। अपने पृष्ठ-पोषकों के वंश में उत्पन्न एक व्यक्ति के इस प्रकार अधःपतन को देखकर अपनी अंतरात्मा में दुःख उत्पन्न होने के कारण उन्होंने रघुवंश के अंतिम दो सर्ग और शकुंतला नाटक की रचना की, ऐसा प्रतीत होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अग्निवर्ण (मेरे मतानुसार बुधगुप्त) के विषय में कालिदास कहता है—

सोऽधिकारमभिकः कुलोचितं काश्चन स्वयमवर्तयत्समाः ।
संनिवेश्य सचिवेष्वतः परं स्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत् ॥ (१९।४)

वंश परंपरा के अनुसार उन्होंने अच्छी तरह से शासन किया और उसके बाद उन्होंने अपने को ऐंद्रियिक सुख में निमग्न कर दिया। यदि मेरा अनुमान (अर्थात् अग्निवर्ण के रूप में बुधगुप्त का चित्रण) स्वीकार्य हो तो मेरा विचार है कि यहाँ कालिदास ने बुधगुप्त के परिवर्तित चरित्र का वर्णन किया है। मेरे मत में बुधगुप्त के चरित्र में परिवर्तन उनके राज्यकाल के अंतिम ५ या ६ वर्षों में हुआ था। मूल गुप्तसाम्राज्य के सभी स्थानों में प्रक्षिप्त मुद्राओं से प्रमाणित होता है कि बुधगुप्त ने अपने शासनकाल के कुछ वर्षों तक (१५ वर्ष तक) अच्छी तरह से राज्य किया, और उसके बाद उनका पूर्णतः नैतिक पतन होना प्रतीत होता है[५]। अग्निवर्ण के जिस लज्जाहीन और कामुकतापूर्ण चरित्र का वास्तव चित्रण कालिदास ने किया है, वह बुधगुप्त के प्रति प्रयोज्य है, ऐसा मैं समझता हूँ। मेरा विश्वास है कि कालिदास ने अग्निवर्ण को उनकी अत्यंत इंद्रिय परायणता के फलस्वरूप एक मुमूर्षु की तरह चित्रित किया है—भविष्य राजाओं को केवल यही दिखाने के लिये कि एक गुप्त राजा के लिये ऐसा पतित चरित शोभा नहीं देता। मेरे मत से यह भी जानना चाहिए कि गुप्तराजाओं की सभा में कालिदास ने (रघुवंश के) इन दो सर्गों को नहीं लिखा था। उन्होंने अपने अरण्यवास में इन दो सर्गों को लिखा था। वहाँ वे शासकीय बंधन से मुक्त थे और इसीलिये साहसपूर्वक लिख सकते थे। रघुवंश का १५वाँ सर्ग तथा पूरा शाकुंतल अभिभूत वेदना और पिता के उपदेश इन दोनों के संमिश्रितभाव से लिखे गए हैं। कालिदास की आत्मा में यह पीड़ा रही होगी, क्योंकि उन्होंने अपनी आँखों से गुप्तराजाओं के समृद्ध राज्य को देखा था और अब उन्हीं आँखों से उस वंश के पतन को देख रहे थे और उस वंश के एक शुभचिंतक होने के कारण वे शायद राजाओं को आत्म संयम के अभाव से उत्पन्न दुरितों से परिचित कराना चाहते थे।

यहाँ मैं एक विषय का स्पष्टीकरण करूँगा। १४८ गुप्तसंवत् में स्कंदगुप्त की मृत्यु हुई थी। लगभग १७३ गुप्त संवत् में बुधगुप्त की मृत्यु हुई थी अर्थात् स्कंदगुप्त की मृत्यु के २७ या २८ वर्ष के बाद बुधगुप्त की मृत्यु हुई। कालिदास ने अग्निवर्ण के रूप में बुधगुप्त को चित्रित किया है जो रघुवंश में अतिथि के बाद २२वाँ राजा है (जिसको मैं स्कंदगुप्त का रूपांतर समझता हूँ)। इससे यह ध्वनित होता है कि बुधगुप्त ने अपने चरित्र का परिवर्तन किया और स्कंदगुप्त की मृत्यु के २२ वर्ष के बाद दुराचारी हो गया। अन्यथा हम इसकी व्याख्या नहीं कर सकते कि क्यों १८ राजाओं के अति संक्षिप्त विवरण देकर कालिदास ने अंतिम ४ रघुकुलोत्पन्न राजाओं को स्कंदगुप्त के चार उत्तराधिकारियों के रूप में चित्रित किया है। कालिदास ने स्कंदगुप्त के इन चार उत्तराधिकारियों को अतिथि के चार साक्षात् उत्तराधिकारियों के रूपमें वर्णित नहीं किया, प्रत्युत बीच में १८ राजाओं के अति संक्षिप्त विवरण देकर उसके बाद के चार राजाओं के रूप में

५. कश्मीराधिपति जयापीड का चरित्र भी उनके राज्यकाल के अंतिम वर्षों में परिवर्तित हो गया और वे असंयत चरित्र हो गए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णित किया है। १८ राजाओं के काल की रिक्तता को लक्ष्य करने के लिये ही उन्होंने ऐसा किया है। इस प्रकार मेरा विचार है कि बुधगुप्त ने स्कंदगुप्त के मरने के १८+४=२२ वर्ष के बाद अपने चरित्र में परिवर्तन किया था, अर्थात् लगभग १७० गुप्त संवत् में (अर्थात् अपने राज्यकाल के अंतिम ५ या ६ वर्ष में)। संभवतः कालिदास ६ वर्ष की इस संख्या का **आत्मलक्षणनिवेदितान् ऋतून्** (१६।४७) कहकर निर्देश करता है। यहाँ शायद आत्मलक्षण का अर्थ है छह और ऋतु का अर्थ है वर्ष।

कालिदास ने इस सर्ग की समाप्ति अंतिम श्लोक में राजकुमार के जन्म के लिये उत्कंठा प्रकट करके आशापूर्ण स्वर के साथ की है। संभवतः गुप्तवंश में एक नवीन परिवर्तन देखने की इच्छा से कालिदास ने ऐसा किया है। पर दुर्भाग्य है कि वे ऐसा देख न सके। भानुगुप्त बालादित्य द्वितीय के समय तक ही गुप्तवंश की समृद्धि थी (जब उन्होंने मिहिरकुल को पराजित किया था), पर यह प्रतीत होता है कि भानुगुप्त के सिंहासनारोहण के पहले ही कालिदास की मृत्यु हो चुकी थी।

इस दृष्टिकोण से शकुंतला के विषय में मेरी धारणा इस प्रकार की है। इस नाटक की मुख्य समस्या यह है कि एक निरपराध बालिका से विवाह करने की प्रतिज्ञा कर एक राजा बाद में उसके विषय में सब कुछ भूल जाता है और उसके साथ अपने परिचय को भी अस्वीकार करता है। यदि गुप्तराजाओं के इतिहास में ऐसी कोई घटना हुई हो, तो वह उस गुप्त राजा (=बुधगुप्त) के काल में हुई होगी, जिसको अग्निवर्ण के द्वारा लक्ष्य किया गया है। इसीलिये मेरा विचार है कि रघुवंश के अंतिम दो सर्गों के पहले ही शाकुंतल की रचना हुई थी, अर्थात् उस काल में, जब बुधगुप्त की अधोगति का आरंभ हो रहा था। गुप्त साम्राज्य और स्वभावतः गुप्त शासन व्यवस्था में जो परिवर्तन आ रहा था, कालिदास ने अपनी अंतर्दृष्टि से उसको देखा था और इसीलिये परिवर्तित अवस्था की ओर राजा के ध्यान के आकर्षण के लिये उन्होंने शाकुंतल की रचना की थी। मेरा विचार है कि कालिदास ने शाकुंतल की रचना लगभग १७१ गुप्त संवत् में की थी। उस समय उनका वयस ६० या ६५ था। उसके बाद उन्होंने संसार का त्याग कर अरण्यजीवन (वानप्रस्थ) का आश्रय लिया। गुप्तवंश के भाग्य का परिवर्तन देखकर, और सिंहासन पर बुधगुप्त जैसे एक व्यसनी को देखकर कालिदास ने शकुंतला में न्यायसंगत कोप को प्रदर्शित करने की चेष्टा की। 'पौरव रक्षाविनयम्' इत्यादि वाक्य शकुंतला के मुख से कहलाए गए हैं, पर कवि स्वयं ही यहाँ गुप्त राजा को असत् पथ पर जाने से रोकने के लिये कह रहा है। मृगया का व्यसन, द्वितीय अंक में वर्णित सेनाध्यक्ष के माध्यम से वर्णित व्यसनी पदाधिकारी, षष्ठ अंक का श्याल, संततिहीन नागरिकों की संपत्ति के अवैध अपहरण का उपदेश देनेवाले मंत्री और सर्वोपरि शकुंतला के व्यक्तित्व की पवित्रता और अपमानित सरलता ये सब समकालीन जीवन से कालिदास ने लिए हैं—यह मेरा मत है। मृगया का प्रथम दृश्य जहाँ **'आश्रममृगोऽयं न हंतव्यो न हंतव्यः'** और **'राजरक्षितानि तपोवनानि नाम'** कहा गया है, यह सूचित करता है, कि बुधगुप्त के समय में तपोवन भी सुरक्षित नहीं थे।

पर मैं यह अवश्य ही कहूँगा कि शाकुंतल में कालिदास ने अपना स्थान गुप्तवंश से अधिक उच्च रखा है। यहाँ हम उनसे राजाओं के नामों को बारबार लेने की आशा नहीं रखते। शाकुंतल में वे एक उच्च मर्यादा में स्थित हैं तथा सांसारिक दुःख और दुरितों के प्रति उनका हृदय गंभीर दया से पूर्ण है। प्रथम तीन अंकों में वे एक राजा को दुराचार में आसक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में चित्रित करते हैं और उन्हीं तीन अंकों में एवं अंतिम चार अंकों में भी गुप्तवंश के शासनकारी वंशजों के सामने एक आदर्श रखते हैं। उन्होंने यह कार्य तिरस्कार तथा निंदा से नहीं किया, प्रत्युत उच्च से उच्चतर आदर्शों को दिखाकर किया है, जिससे सूचित होता है कि पतित राजकुल का वे संशोधन करना चाहते हैं, जिस कुल की अंतरंग सेवा उन्होंने एक दिन की थी।

तीनों नाटकों में भाषित भरत वाक्य यदि इस संबंध में पढ़े जाएँ, तो वे सोद्देश्य सिद्ध हो जाते हैं। मालविकाग्निमित्र में जहाँ नायक को समुद्रगुप्त के रूप में माना गया है, यह कहा गया है कि ईति (बहिराक्रमण) की कोई संभावना नहीं हो सकती। विक्रमोर्वशीय में चंद्रगुप्त द्वितीय के समृद्ध दिनों को लक्ष्य कर एक साधारण प्रार्थना मिलती है। परंतु शाकुंतल में निम्नोक्त भरत वाक्य है—

प्रवर्तताँ प्रकृति हिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम् ।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥

पहला चरण स्पष्टरूप से निर्देश करता है कि जब शाकुंतल की रचना हुई थी, तब राजा लोग यथानियम व्यवहार नहीं करते थे। बुधगुप्त के चरित्र के विषय में मैंने जो कुछ कहा है, तथा अंतिम गुप्तराजाओं के काल में राज्य और समाज की जो सदाचारपूर्ण स्थिति थी, यह वाक्य उसी से संबंध रखता है। अंतिम दो चरणों से सिद्ध होता है कि कवि वृद्धावस्था में थे, वे विश्वस्रष्टा के चरण में अपने को समर्पित करने वाले थे, अथवा क्या यह भी हो सकता है कि प्रचलित व्यवस्था में हताशा और अज्ञान का प्रवाह था, जिसके कारण उनको कहना पड़ा—**'ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः'**।

टिप्पणी–१

अब मैं कुछ ऐसे विषयों पर विचार करूँगा, जो साधारण रूप से कल्पित ही मालूम पड़ते हैं, पर मेरे मतानुसार उनका कुछ न कुछ तात्पर्य है—

१ – मेरा विचार है कि कवि ने कमसे कम अपने तीन ग्रंथों में स्वेच्छा से नायक की कालानुसार स्थिति पर कुछ इंगित किया है। मालविकाग्निमित्र में समुद्रगुप्त को चित्रित करने के लिये अग्निमित्र को ग्रहण किया है। गुप्तराजाओं में चंद्रगुप्त प्रथम सम्राट् थे, और समुद्रगुप्त द्वितीय सम्राट् थे। शुंगराजाओं में भी यही बात है। पुष्यमित्र प्रथम और अग्निमित्र द्वितीय राजा थे। इस प्रकार नाटक के यथार्थ नायक (अग्निमित्र) की वंशानुक्रमिक स्थिति लक्ष्य नायक (समुद्रगुप्त) की कालिक स्थिति के अनुसार ही है।

विक्रमोर्वशीय में भी यही बात दीख पड़ती है। विक्रमोर्वशीय के ५वें अंक में यह श्लोक है—

अमरमुनिरिवात्रिब्रह्मणोऽत्रेरिवेन्दु
र्बुध इव शिशिरांशोर्बोधनस्येव देवः ॥ ५२२ ॥

इस वाक्य में पौरवों की वंशावली इस प्रकार दी हुई है—ब्रह्मा, अत्रि, सोम, बुध तथा पौरवगण। इस प्रकार आदिम मूल (ब्रह्मा) से पौरव का स्थान अपने वंश में पंचम है और अपने वंश के प्रतिष्ठापक (सोम) से तृतीय है। उसी प्रकार चंद्रगुप्त द्वितीय (विक्रमोर्वशीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लक्ष्य नायक) की भी निम्नोक्त प्रकार की वंशावली है—श्रीगुप्त, घटोत्कच, चंद्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त तथा चंद्रगुप्त द्वितीय। इस प्रकार चंद्रगुप्त द्वितीय भी अपने आदि पुरुष (श्रीगुप्त) से अपने वंश में पंचम पुरुष होते हैं और आदिम प्रवर्तक (चंद्रगुप्त प्रथम) से तृतीय। यही कारण है कि विक्रमोर्वशीय में पौरव को **'सोमादेकान्तरः'** कहा गया है। पौरव और चंद्रगुप्त द्वितीय ये दोनों ही सोम और चंद्रगुप्त प्रथम के एकांतर थे। उसी प्रकार रघुवंश में एक श्लोक है—

पञ्चमं लोकपालानामूचुः साधर्म्ययोगतः।
भूतानां महतां षष्ठम् अष्टमं कुलभूभृताम्॥ १७।७४

यह अतिथि के विषय में कहा गया है, जिसको मैंने स्कंदगुप्त के रूप में लिया है। मेरा विचार है कि इस श्लोक में अपने सहज अर्थ के अतिरिक्त निम्नोक्त अर्थ भी लक्षित होता है। चंद्रगुप्त प्रथम से स्कंदगुप्त साक्षात रूप से पंचम पुरुष थे, सम्राट् (महाभूत या महाराजाधिराज रामगुप्त का अंतर्भाव कर) की दृष्टि में चंद्रगुप्त प्रथम से षष्ठ पुरुष थे और कुलभूभृत या राजा की दृष्टि से अपने वंश में श्रीगुप्त से (रामगुप्त को लेकर) अष्टम पुरुष थे। स्कंदगुप्त की यह वंशानुक्रमिक सूची अतिथि की वंशानुक्रमिक सूची से असाधारण रूप से मिल जाती है। यहाँ मैं दोनों वंशों की तुलनात्मक तालिका दे रहा हूँ।

(१)	(२)
[१] दिलीप	[१] श्री गुप्त
|	|
[२] रघु	[२] घटोत्कच
|	|
[३] (१) अज	[३] (१) १ चंद्रगुप्त प्रथम
|	|
[४] (१) २ दशरथ	[४] (२) २ समुद्रगुप्त
|	|
[५] (३) भरत [६] (४) ३ राम	[५] (३) रामगुप्त [६] ३ चंद्रगुप्त द्वितीय
|	|
[७] (५) ४ कुश	[७] (५) ४ कुमारगुप्त प्रथम
|	|
[८] (६) ५ अतिथि	[८] (६) ५ स्कंदगुप्त

यह ज्ञातव्य है कि इन दोनों वंशों में भरत और राम गुप्त ने अपने पिता की मृत्यु के बाद वस्तुतः राज्य किया था। अतिथि से दिलीप पर्यंत साक्षात् वंशपरंपरा में तथा श्रीगुप्त से स्कंदगुप्त पर्यंत वंशपरंपरा में हमें शायद भरत और रामगुप्त के नाम न मिलें पर उनके वंश में शासनकारी राजाओं की पूर्ण सूची में भरत और रामगुप्त के नाम अवश्य ही लेने होंगे। यदि हम इस तथ्य पर विचार करें, तो हम समझ सकते हैं कि किस रूप से अतिथि और स्कंदगुप्त दोनों ही अपनी वंश तालिका में पंचम, षष्ठ और अष्टम होते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास ने अंततः मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा रघुवंश में अपने नायकों (गुप्तवंशीय) की वंशानुक्रमिक स्थिति को प्रदर्शित किया है, और प्रत्येक का यह कालिक अवस्थान प्रत्येक यथार्थ नायक की स्थिति के अनुरूप ही है। रघुवंश के अंतिम दो सर्गों में शाकुंतल और कुमारसंभव में (जो कालिदास के जीवन की अंतिम अवस्था में लिखे प्रतीत होते हैं) कालिदास ने नाम और कुल के इस प्रकार उल्लेख करने की प्रवृत्ति का परित्याग किया है।[६]

(२) कालिदास के अन्य ग्रंथों की तुलना में कुमारसंभव में स्कंदगुप्त विषयक अत्यल्प निर्देश मिलते हैं। अवश्य ही यह प्रमाणसिद्ध है कि स्कंदगुप्त के द्वारा हूण या पुष्यमित्र के पराजय के बाद इस विषय को कालिदास ने चित्रित किया था। जिस प्रकार तारकासुर के नाश के लिये कार्त्तिकेय का जन्म हुआ था, उसी प्रकार हूणों के ध्वंस के लिये स्कंदगुप्त का जन्म हुआ था। समान कार्य को देखकर कालिदास ने कुमारसंभव के विषय की कल्पना की थी। अतएव यह भी सिद्ध होता है कि शिव को कुमारगुप्त प्रथम, पार्वती को कुमारगुप्त की महिषी तथा कार्त्तिकेय को स्कंदगुप्त की तरह चित्रित किया गया है। यह विषय इतना स्पष्ट प्रमाणित था कि श्लेष की सहायता के बिना भी कालिदास के समय की जनता इन निर्देशों को स्पष्टरूप से समझ सकती थी। कालिदास ने भी गौणरूप से उल्लेख (श्लेष) करने का कष्ट नहीं किया। यह सत्य है कि गुप्त शब्द लक्ष्यार्थवाचक के रूप में एकबार या तीन बार व्यवहृत हुआ है। केवल एक स्थान पर (मैंने केवल ८ सर्गों को ही लिया है) कालिदास ने यह ध्वनित किया है कि यह कथा कुमारगुप्त प्रथम तथा स्कंदगुप्त से संबंध रखती है। मैनाक-जन्म के विवरण में उन्होंने कहा है—

असूत सा नागवधूपभोग्यं मैनाकमम्भोनिधिबद्ध सख्यम्।
क्रुद्धेऽपि पक्षच्छिदि वृत्र शत्राववेदनाज्ञं कुलिशक्षतानाम्॥ (१।२०)

पहले मैंने कहा है कि रघुवंश में कालिदास ने यह सूचित किया है कि कुमारगुप्त प्रथम ने एक नागराज कुमारी से विवाह किया था। यहाँ पार्वती के ज्येष्ठ भ्राता मैनाक को नागवधूप-

६ शाकुंतल में संभवतः वंशानुक्रम संबंधी एक संशयास्पद सूचना है। ७वें अंक का २७वाँ श्लोक इस प्रकार है—**प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयोयत्तेजसः कारणम्।** यहाँ काश्यप को द्वादश आदित्य का जनक कहा गया है। मैंने बुधगुप्त को शाकुंतल का लक्ष्यभूत नायक माना है। स्कंदगुप्त से बुधगुप्त पंचम पुरुष था, जिसके अनुसार वंशानुक्रम इस प्रकार होगा—स्कंदगुप्त, पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त बालादित्य प्रथम, कुमारगुप्त द्वितीय, बुधगुप्त। हमने देखा कि कालिदास स्कंदगुप्त को श्रीगुप्त से अष्टम पुरुष कहता है। यदि ऐसा हो तो बुधगुप्त से श्रीगुप्त द्वादश पुरुष होगा और हम जानते हैं कि गुप्तराजाओं ने 'आदित्य' उपाधि ली थी। अतः क्या यह नहीं हो सकता कि बुधगुप्त द्वादश आदित्य था? ऐतिहासिकों के अनुसार वैन्यगुप्त की उपाधि द्वादशादित्य थी। क्या वैन्य और बुध एक ही है? मैं केवल यही निर्देश करना चाहता हूँ कि तीन स्वर्ण मुद्राओं में गुप्तराजाओं के नामों के जो पाठ हैं वे समान नहीं हैं और ये मुद्रा ही द्वादशादित्य संबंधी कथा का एक मात्र आधार हैं। विद्वान् इस नाम को वैन्य या चंद्र समझते हैं। क्या यह बुध नहीं हो सकता?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भोग्य कहा गया है, जिससे कुमारगुप्त प्रथम के नागश्यालक की ध्वनि मिलती है। इस श्लोक से यह भी ध्वनित होता है कि गुप्तराजाओं के साथ नागों की मैत्री (किसी शत्रु से रक्षित होने के कारण) थी। यहाँ मैनाक को इंद्र के विरोध में सहायता के लिये उदधि के साथ मैत्री करता हुआ वर्णित किया गया है (उदधि से समुद्रगुप्त या उनके वंशज ध्वनित होते हैं)। इससे सूचित होता है कि नागों ने किन्हीं शत्रुओं से रक्षा के लिये गुप्तराजाओं से मैत्री की थी, और यह सिद्ध है कि यह मैत्री वैवाहिक संबंधमूलक थी।

यहाँ और भी एक स्थल है, जहाँ इस प्रकार का ही लक्ष्यार्थ अभीष्ट है—

गोप्तारं सुरसैन्यानां यं पुरस्कृत्य गोत्रभित्।
प्रत्यानेष्यति शत्रुभ्यो वन्दीमिव जयश्रियम्॥ (२।५२)

यह श्लोक देवों से उस समय कहा गया, जब वे इंद्र की सेना के लिये एक सेनापति माँगने के लिये ब्रह्मा के पास गए थे। यहाँ गोप्तारम् स्कंदगुप्त[1] और गोत्रभिद् शब्द महेंद्रादित्य (कुमारगुप्त प्रथम) को लक्ष्य कर सकता है। इससे यह भी सूचित हो सकता है कि कुमारगुप्त प्रथम ने स्कंदगुप्त को पुष्यमित्र के विरोध में अपनी सेना के सेनापति के रूप में नियुक्त किया था। रघुवंश में गोप्ता और गोप्तृ शब्द प्रायः किसी विशेष अर्थ में व्यवहृत हुए हैं।

(३) इस निबंध के अनुसार यह विदित होगा कि कालिदास ने अपने ग्रंथों के कुछ नायकों के वर्णन में स्कंदगुप्त के जीवन की घटनाओं को लक्ष्य किया है। मेरा अनुमान है कि स्कंदगुप्त के जीवन में निम्नोक्त घटनाएँ वस्तुतः हुई थीं—

१ – जब कुमारगुप्त प्रथम ने अश्वमेध यज्ञ किया था, स्कंदगुप्त अश्व की रक्षा के लिये गए थे, और उन्होंने उस समय हूण तथा अन्य लोगों को पराभूत कर अपने को एक महान् योद्धा के रूप में प्रतिष्ठापित किया था (मालविकाग्निमित्र, रघुवंश)।।

२ – उसके बाद कुमारगुप्त प्रथम ने स्कंदगुप्त को अपनी सेना के सेनापति के रूप में नियुक्त किया, जब उन्होंने पुष्यमित्र के साथ युद्ध किया। विक्रमोर्वशीय के निम्नोक्त श्लोक में यह बात ध्वनित होती है—

आयुषो यौवराज्य श्रीः स्मारयत्यात्मजस्य ते।
अभिषिक्तं महासेनं सैनापत्ये मरुत्वता॥ ५।

इससे ध्वनित होता है कि इंद्र (अर्थात् महेंद्रादित्य कुमारगुप्त प्रथम) ने महासेन (स्कंदगुप्त) को अपना सेनापति नियुक्त किया।

३ – कुमारगुप्त प्रथम की अंतिम अभिलाषा के अनुसार स्कंदगुप्त को राज्य दिया गया। स्वयं कुमार गुप्त प्रथम पुष्यमित्र के साथ युद्ध में मर गया।

४ – युवराज होने के कारण स्कंदगुप्त ने (अश्वमेध के बाद परंतु पुष्यमित्र से युद्ध करने के पहले) स्वयंवर में विदर्भ राजकुमारी से विवाह किया। संभवतः स्वयंवर में उन्होंने अपने प्रतिद्वंद्वियों से युद्ध किया और उनको पराजित किया।

५—संभवतः २५वें वर्ष में वे सिंहासनारूढ़ हुए। राजा होने के बाद उन्होंने मुख्यतः शांतिपूर्ण तथा वैभवशाली जीवन बिताया। राजा होने के पहले ही [illegible] युद्धों की समाप्ति कर दी थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६ – प्रतीत होता है कि उन्होंने भी एक अश्वमेध यज्ञ किया था (तुलनीय अतिथि का यज्ञ)।

७ – उनकी (अतिथि की) स्वराष्ट्रनीति और परराष्ट्रनीति सुदृढ़ तथा समर्थ थी।

८ – यह प्रतीत होता है कि गार्हस्थ्य जीवन में विदर्भ राजकुमारी के साथ उन्होंने सुखमय दिन बिताए। पर उनके सिंहासनारोहण होने के कुछ ही दिन बाद (शायद केवल चार वर्ष के बाद) संभवतः विदर्भ राजकुमारी की मृत्यु हो गई। स्कंदगुप्त ने पुनः विवाह नहीं किया, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपुत्रक रहकर मृत हुए (अपनी प्रिया महिषी की मृत्यु के बाद उसके अभाव से) स्कंदगुप्त शोकातुर हो गए। पत्नी की मृत्यु के बाद स्कंदगुप्त तप और संयम में अत्यधिक तत्पर होते गए। वे 'वशिनामुत्तमः' हो गए। अतिथि के विषय में भी यही कहा जाता है—

अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः।
अतः सोऽभ्यन्तरान् नित्यान् षट् पूर्वमजयद्रिपून्॥ (१७।४५)

महाबली योद्धा स्कंदगुप्त भारत के महान् राजाओं में एक अग्रगण्य राजा थे। कालिदास के अनुसार पत्नी की मृत्यु के बाद अज ८ वर्ष तक जीवित रहे। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि केवल १२ वर्ष तक राज्य करनेवाले स्कंदगुप्त अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद ८ वर्ष और जीवित रहे और उसके बाद ३७ या ३८ वर्ष की यौवनावस्था में ही मृत हुए।

१० – रघुवंश (८।९३-९५) से प्रतीत होता है कि स्कंदगुप्त को कोई दुश्चिकित्स्य रोग हुआ था और शायद पत्नी के शोक से ही यह क्षयकारी रोग उत्पन्न हुआ था। प्रतीत होता है कि उन्होंने इस मर्त्य शरीर को सरयू और गंगा के पवित्र संगम पर प्रायोपवेशन पूर्वक छोड़ दिया (शायद उनके समय अयोध्या भी एक राजधानी हो गई थी)। इस प्रकार गुप्त सम्राटों में सर्वश्रेष्ठ सम्राट् की मृत्यु के साथ गुप्तराजाओं की समृद्धि का भी अंत हो गया।

टिप्पणी—२

१ – इस निबंध में सर्वत्र अनेक घटनाओं के निर्देश में गुप्त संवत् के अनुसार तिथिओं का उले[illegible] [illegible]गया है। यह इसलिये कि मैं गुप्तराजाओं के काल का आरंभ ३१९-२० ई० में [illegible] [illegible]ा कि आधुनिक ऐतिहासिक मानते हैं बल्कि लगभग ३१२-३१० ई० पू० में [illegible] शाकुंतल [illegible]रंभ मानता हूँ। अतएव मेरे मत में स्कंदगुप्त (जिसकी मृत्यु तिथि १४८ [illegible] श्लोक) का काल १६२ ई० पू० होगा। अतः कालिदास का काल भी लगभग २०० १३० ई० पू० होगा। पर मेरे लिये यह भी कहना उचित होगा कि गुप्तसंवत् के विषय में मेरी व्याख्या इस निबंध में निर्दिष्ट निष्कर्षों पर कुछ भी बाधा नहीं डालती। यहाँ के निष्कर्ष गुप्तसंवत् निर्णय के कुछ भी सापेक्ष नहीं हैं।

२ – अन्यत्र मैंने यह कहा है कि मैं चंद्रगुप्त के उत्थान के विषय में जायसवाल जी के उस मत पर आस्था रखता हूँ, जिस मत की प्रतिष्ठा उन्होंने कौमुदी महोत्सव नाटक के आधार पर की है। उनके मत में मैंने कुछ बातें जोड़ दी हैं (द्र० बंबई विश्वविद्यालय पत्रिका १०१२ में मेरा लेख)। यहाँ मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि मैंने चंद्रगुप्त प्रथम और कल्याण वर्मन् के विषय में जो कुछ कहा है, उन सब बातों को मैं अब भी यथावत् ठीक मानता हूँ। मैंने कहा है कि कल्याणवर्मा की राज्यप्राप्ति के उपलक्ष्य में कौमुदीमहोत्सव का अभिनय हुआ था, तथा मुद्राराक्षस का अभिनय चंद्रगुप्त प्रथम के पुनः राज्यप्राप्ति के उपलक्ष्य में एवं देवीचंद्रगुप्त का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिनय चंद्रगुप्त द्वितीय के सिंहासनारोहण के उपलक्ष्य में हुआ था। इस निबंध में वर्णित तथ्य के अनुसार ये निष्कर्ष अब मुझे संगत नहीं प्रतीत होते हैं। अब मेरा विचार है कि इन नाटकों की ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या मेरी और जायसवालीं जी की पद्धति के अनुसार करनी चाहिए, परंतु इन नाटकों का रचनाकाल निश्चित रूप से बुधगुप्त के अंतिम शासनकाल के बाद का है। चूँकि मैंने अभी तक पूरे प्रश्न की पुनः समीक्षा नहीं की अतः इस विषय पर मैं अभी निश्चित कुछ नहीं कह सकता।

पुनश्च

मेघदूत में (१।४३) कालिदास ने स्कंद के एक मंदिर का वर्णन किया है। इस मंदिर के विषय में महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री लिखते हैं—"छोटी नदी गंभीरा यहाँ वर्णित है और इसके तीरों पर आरण्य अंजीर वृक्षों के वन में होकर एक मार्ग है जो लगभग २०० फुट ऊँचे एक पहाड़ पर जाकर समाप्त होता है जिसके निकट स्कंद का एक छोटा मंदिर है : अभी तक वहाँ पहाड़ और देवमूर्ति है। यह देवमूर्ति खंडेराव (संस्कृत स्कंदराज) के नाम से पूजित होती है। यह आश्चर्यजनक बात है कि कालिदास ने इस देवमूर्ति का नाम स्कंद रखा।" (बिहार और उड़ीसा शोध संस्थान की पत्रिका, भाग १, खंड २, दिसंबर १६१५. पृ० २०३)। क्या यह नहीं हो सकता कि मूलतः मंदिर के साथ स्कंदगुप्त का नाम ही संयुक्त था, जिसके लिये देवता के वर्तमान नाम में राव या राजा संज्ञा लगी हुई है, और इसी तथ्य की ओर श्लिष्टरूप से निर्देश कर कालिदास ने अप्रधान देवमूर्ति का वर्णन किया हो?

*

...ब्दावली भी उपयोगी
...हैं ... शब्दों के
...और प्राचीन
...सेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समर्थ रामदास और उनके अप्रकाशित हिंदीपद

विनयमोहन शर्मा

समर्थ का समय ईसा की सत्रहवीं शताब्दी है। उस समय राजनीतिक क्षेत्र में मुसलमानों का आतंक छाया हुआ था। महाराष्ट्र दो टुकड़ों, आदिलशाही और मुगलाई, में बँट चुका था। पूने का भाग स्वतंत्र था। अतएव उसके आस पास की जनता सुख की सांस ले रही थी। परंतु उत्तर भारत के मुगलों की सेनाओं के आक्रमणों के कारण शेष जनता सशंक और समय समय पर उनके अत्याचारों की शिकार होती रहती थी। इतना होने पर भी मुसलमानों के साथ तीन शताब्दियों तक रहते रहते हिंदू जनता भी क्रमशः उनके साथ सामाजिक संबंध बढ़ाने लगी थी।

धर्म के क्षेत्र में वारकरी संतों ने 'भेदाभेद भ्रम अमंगल' की भावना प्रचारित कर मानवता की प्रतिष्ठा कर दी थी। वे सभी मतों के प्रति उदार थे। इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमान फकीरों की यात्रा में हिंदू जनता जाती थी और मुसलमान भी हिंदुओं के धार्मिक उत्सवों का विरोध नहीं करते थे। इतना ही नहीं, अब अनेक मुसलमान भी वारकरी संतों के भागवत संप्रदाय के अनुगामी बन रहे थे। शेख मुहम्मद भागवत संप्रदाय में शामिल हो गए। हिंदू भी मुसलमान स्त्रियों के साथ विवाहसंबंध स्थापित करने लगे थे। हिंदुओं की भिन्न भिन्न जातियों में वैवाहिक संबंध सहानुभूति के साथ बढ़ रहे थे। धर्मव्यवस्था शिथिल हो रही थी। ब्राह्मणों का पतन हो चुका था। शाहजी की जागीर में भले ही हिंदू सुखी रहे हों पर महाराष्ट्र के अन्य क्षेत्रों में उनकी आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय थी। ऐसी परिस्थिति में रामदास और उनके शिष्य शिवाजी का प्रादुर्भाव हुआ।

...मा कि आर्धा

शाकुंतल में ...दास ने, जिनका मूल नाम नारायण था, जांभगाँव में चैत्र शुक्ला नवमी, ...जोक... को जन्म लिया। उनके पिता सूर्याजी पंत अत्यंत धार्मिक प्रवृत्ति के पुरुष थे। ... सूर्योपासक थे। कहा जाता है कि वह प्रति दिन सूर्य नमस्कार और गायत्री का जप किया करते थे। सूर्यनारायण की कृपा से संतति होने के कारण उनका नाम नारायण रखा गया था। नारायण के एक ज्येष्ठ बंधु और थे, जिनका नाम गंगाधर था। रामदास के जीवन को जानने के लिये उनके समाधि ग्रहण के चार दिन पश्चात्, उनके निकटतम शिष्य दिवाकर गोसावी द्वारा लिखवाए गए 'वाकेनिशी प्रकरण' उसके कुछ वर्षों बाद गिरिधर कृत 'समर्थ प्रताप' और शाके १७१५ में लिखित तथा १७३९ में परिवर्धित 'हनुमंत स्वामी ची बखर' मुख्य साधन हैं। 'वाकेनिशी प्रकरण' सबसे प्राचीन और लगभग समर्थकालीन होने से अधिक प्रामाणिक है। उसीके आधार पर उनके जीवन की मुख्य घटनाओं को प्रस्तुत किया जाता है।

जब रामदास सात वर्ष के थे तभी उनके पिता का देहांत हो गया था। पर पिता के जीवन में ही उनकी प्रतिभा का चमत्कार प्रकट होने लगा था। चार वर्ष की अवस्था में वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिए हुए किसी भी पाठ को कंठस्थ कर लेते थे। शाके १५४२ में जब उनकी माता ने उनका विवाह करना चाहा तब मंडप में 'सावधान' सुनते ही वह सचमुच सावधान हो गए और वहाँ से उठकर भागे। भटकते भटकते वह नासिक के निकट टाकली नामक स्थान में पहुँचे, जहाँ उन्होंने बारह वर्ष तक गोदावरी नदी के मध्य एक पाँव पर खड़े होकर गायत्री के कई पुरश्चरण किए और तेरह करोड़ 'श्री राम जय राम' जय जय राम का जप किया। इसी अवधि में उनका भगवान राम से साक्षात्कार हुआ और उन्हीं के द्वारा ये दीक्षित हुए। बारह वर्ष उन्होंने देश भर के तीर्थ क्षेत्रों की यात्राएँ कीं। इससे उन्हें अपने देश की स्थिति का अच्छा ज्ञान हो गया और धर्मसंस्थापन की स्फूर्ति उनमें हुई। शाके १५७० में चाफल में उन्होंने राम की मूर्ति की स्थापना की। शाके १५७१ में शिवाजी और स्वामी रामदास की प्रथम ऐतिहासिक भेंट होने का उल्लेख 'बाके निशी' में मिलता है। इस तिथि के संबंध में महाराष्ट्र के विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। श्री राजवाड़े और देव, बाकेनिशि की तिथि को मान्यता देते हैं और श्री भाटे तथा चांदोरकर इसका विरोध करके १५६४ में इस भेंट का होना प्रतिपादित करते हैं। दोनों लेखक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। भाटे और चांदोरकर अपने पक्षसमर्थन में दो पत्रों का उल्लेख करते हैं। पहला पत्र शाके १५६४ का केशव गोसावी का है जो दिवाकर गोसावी के नाम है। उसमें लिखा है कि शिवाजी भोंसले रामदास से मिलने आ रहे हैं, राजा प्रथम बार वहाँ आ रहे हैं। दूसरा पत्र भास्कर गोसावी का है जिस पर शाके १५८० अंकित है। यह भी दिवाकर के ही नाम है, जिसमें लिखा है कि मैं जब राजा शिवाजी के पास गया तब उन्होंने मुझसे मेरे बारे में पूछा और यह भी पूछा कि कहाँ से आए हो। जब मैंने कहा कि मैं रामदास का शिष्य हूँ तब उन्होंने पुनः पूछा कि रामदास कहाँ रहते हैं, वह मूलतः कहाँ के रहने वाले हैं।

प्रथम पत्र में उल्लेख है कि शिवाजी प्रथम बार रामदास के यहाँ जा रहे हैं। दूसरे पत्र से यह ज्ञात होता है कि शाके १५८० तक शिवाजी को रामदास के संबंध में यह भी ज्ञात नहीं था कि वह कहाँ रहते हैं। इन्हीं आधारों पर श्री भाटे और चांदोरकर का निष्कर्ष है कि शाके १५७१ में शिवाजी और रामदास की भेंट नहीं हो सकती। इस संबंध में श्री राजवाड़े और देव का कहना है कि उपर्युक्त दोनों पत्र जाली प्रतीत होते हैं। ये मूल ... मूल की नकल हो सकते हैं। इनमें जो तारीखें दी गई हैं, ... शब्दावली भी उपयोगी ... है ... शब्दों के ... जा सकता। यदि वे जाली न भी हों तब भी उनसे यह सिद्ध नहीं होता ... और प्राचीन समर्थ में उन तिथियों के पूर्व भेंट ही नहीं हुई। हो सकता है कि राजा ने आश्रय ... देने के पूर्व व्यक्ति की परीक्षा लेनी ठीक समझी हो कि वास्तव में वह समर्थ के आश्रम का प्रतिनिधि है अथवा ठग है। समर्थ और शिवाजी की भेंट की प्रथम तिथि ही मान्य होनी चाहिए। तभी हम शिवाजी के पीछे रामदास की प्रेरक शक्ति की कल्पना कर सकेंगे।

रामदास और राजनीति

क्या रामदास केवल संत थे या शिवाजी के माध्यम से समय की राजनीति में भी हाथ बटाते थे? यह प्रश्न भी विवादास्पद है। उन्होंने जो शहापुर चाफल, मसूर, उंब्रज, माजगांव, बाहे, मनपाडले, पाडगांव, शिखड़, और शिंगणवाड़ी में हनुमान की प्रतिमा की स्थापना की, उसमें भी उनकी राजनैतिक दृष्टि बताई जाती है। उस समय ये प्रमुख स्थान समझे जाते थे। सामान्य धारणा तो यही है कि शिवाजी को स्वराज्य स्थापना के लिये प्रेरित करने वाले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामदास ही हैं। दूसरा मत यह है कि रामदास का शिवाजी की राजनीति से कोई संबंध नहीं रहा। यदि रामदास न भी होते तब भी शिवाजी का स्वराज्य-स्थापन आंदोलन चलता। रामदास केवल संत थे। इस मत के पोषकों में प्राध्यापक भाटे प्रमुख हैं।

समर्थ ने प्रत्यक्ष राजनीति में भाग भले ही न लिया हो, पर वह अपने युग के उत्पीड़न से सर्वथा तटस्थ नहीं रहे। उनके साधनचतुष्टय का दूसरा अंग 'राजकारण' (राजनीति) है।[1] उन्होंने दासबोध में स्पष्ट संकेत किया है कि 'चलवल' (आंदोलन) में ही सामर्थ्य है।[2] परंतु आंदोलन ऐसा करना चाहिए जिसमें भगवंत का अधिष्ठान हो। स्वराज्य का आंदोलन जिसमें असंख्य जनता का सुख निहित है, क्या भगवंत के अधिष्ठान से रहित है? अतएव रामदास ने लोककल्याण की दृष्टि से यदि शिवाजी में स्वराज्य की प्रेरणा भरी हो तो इससे उनका संतत्व घटा नहीं, प्रत्युत बढ़ा ही है।

तुकाराम और समर्थ रामदास

तुकाराम समर्थ रामदास के समसामयिक संत रहे हैं। अतः दोनों की पंढरपुर की यात्रा के समय कभी भेंट हुई होगी। महाराष्ट्र में इन दोनों संतों के गुरु शिष्य होने की चर्चा भी चली थी। पर तुकोबा के शिष्यों (रामेश्वर भट्ट, निलोबा आदि) ने कहीं भी यह नहीं लिखा कि तुकोबा ने समर्थ से गुरुमंत्र प्राप्त किया। परंतु समर्थ के शिष्यों और भक्तों ने यह प्रतिपादित किया है कि समर्थ ने तुकोबा को तारक मंत्र का उपदेश दिया और उनका 'तुका', 'तुकाप्पा' नाम बदलकर 'तुकाराम' रखा।[3]

इस संबंध में ध्यान देने योग्य प्रथम बात यह है कि 'तुकोबा' ने बाबाजी को अपना गुरु कहा है।[4] उन्होंने कहीं भी रामदास के तारक मंत्र का उल्लेख नहीं किया। प्रोफेसर दांडेकर का यह कथन उचित है कि तुकोबा और समर्थ के शिष्यों की परमार्थ कल्पना में भेद है। तुकोबा भगवान के किसी भी नाम और मंत्र को तारक मानते हैं, परंतु समर्थ के शिष्यों का विश्वास है कि 'तारक मंत्र' के बिना कैवल्य पद की प्राप्ति नहीं हो सकती।[5] [illegible] अतिरिक्त समर्थ के शिष्यों की धारणा है कि मुमुक्षु को जहाँ तक संभव हो 'ब्राह्मण' [illegible] [illegible] चाहिए, यह वृत्ति तुकोबा की नहीं रही। वह स्वयं अब्राह्मण होते हुए भी ब्राह्मणों के [illegible] कि आधा[illegible] प्रमाण से तुकोबा और समर्थ का गुरु-शिष्य-संबंध स्थापित नहीं [illegible] का काल शाके १५२० से शाके १५७२ और समर्थ का जन्म शाके १५३० है। [illegible] की आयु में समर्थ घर से निकल गए। बारह वर्ष तक उन्होंने तपस्या की और बारह वर्ष तक तीर्थाटन किया। शाके १५६६ में वह लौट कर अपनी माता से मिले। अतः तुकोबा

१. साधनचतुष्टय – मुख्य हरिकथा निरूपण। दूसरे तें राजकारण तिसरे सावधानपण। सर्व विषई चौथा अत्यंत साक्षेप। सामर्थ आहे चलवलोचे। दासबोध (११ ५–४)
२. देखिए, रामदास आणि रामदासी, भाग ५० पृष्ठ ३७०।
३. रामदास आणि रामदासी, भाग ५०, पृष्ठ ३७० देखिए।
४. देखिए 'बाबाजी सद् गुरुदास तुका बाबाजी आपुले सांगीतले नाम' वही पृष्ठ ३७१।
५. वही पृष्ठ ३७१।
६. वही पृष्ठ ३७१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने जब शाके १५७२ में समाधि ली तब छह वर्ष के भीतर उन्होंने समर्थ को गुरु बनाया हो, यह संभव प्रतीत नहीं होता। यदि ऐसा होता तो समाधि के पूर्व तुकोबा अपने किसी अभंग में इस क्रांतिकारी घटना का उल्लेख अवश्य करते। गुरु का महत्व प्रतिपादित करने में संत कभी झिझके नहीं। अतः निष्कर्ष यह है कि रामदास और तुकोबा में कभी भेंट हुई होगी, पर उनमें गुरु - शिष्य - संबंध कभी नहीं हुआ।

समर्थ की कृतियाँ

समर्थ की रचनाओं की संख्या अधिक है।[७] परंतु उनमें दासबोध, मनाचें श्लोक, करुणाष्टक, और विभिन्न मराठी छोटे बड़े ग्रंथ तथा स्फुट अभंग और हिंदी पद उल्लेखनीय हैं। दासबोध की रचना शाके १५८१ में हुई। इसमें अध्यात्म उपदेश के अतिरिक्त अपने समय की स्थिति का अत्यंत सजीव वर्णन किया गया है। इसका हिंदी रूपांतर स्व० माधवराव सप्रे ने किया है। 'मनाचे श्लोक' में मन को प्रबुद्ध करनेवाले २०५ श्लोक हैं। इसमें अद्वैत - तत्वज्ञान का सार भरा हुआ है। करुणाष्टक में रामदास के हृदय की, भगवान के प्रति मिलन - उत्कंठा की, भावनाएँ व्यंजित हैं। इस आत्मपरक काव्य में भावना की सूक्ष्मता और उत्कटता दर्शनीय है। समर्थ के नाम पर लघु और दीर्घ रामायणें भी प्रसिद्ध हैं। लघु रामायण में केवल युद्धकांड और दीर्घ रामायण में सुंदर और युद्ध कांड है। उनके नाम पर एक किष्किंधाकांड भी मुद्रित है। पर उसे मराठी के विद्वान प्रामाणिक नहीं मानते।[८] एकनाथ के अनुकरण पर उन्होंने 'भारुड' भी लिखे हैं।

समर्थ के हिंदी पद

समर्थ के हिंदी पदों की संख्या भी अधिक है जो मठों की जीर्णशीर्ण पोथियों से प्राप्त हुए हैं। उनमें इनके पदों का कोई व्यवस्थित संचय नहीं है। प्रत्येक जीर्ण पोथी में समर्थ के अतिरिक्त अन्य संतों के भी पद मिलते हैं। 'समर्थ गाथा' तथा अन्य स्रोतों से जो रामदास के [illegible] प्राप्त हुए हैं उनमें छं[illegible] अर्थ [illegible] भी वे राग रागिनियों में गाए जा सकते हैं। उनमें परमात्मा की सर्वव्यापकता, बाह्य आ[illegible] के प्रति अरुचि, समता आदि के भाव ध्वनित हुए हैं। समर्थ रामभक्त थे। अतएव प्रत्येक स्थल [illegible] की शब्दावली भी उपयोगी को देखते थे। अतः ये राम को 'मोहन नागर' 'साईं' आदि [illegible] है [illegible] शब्दों के [illegible] और प्राचीन [illegible] करते हैं। वह कहते हैं—

> जित देखो उत राम हि रामा।
> जित देखो उत पूरण कामा॥
> तृण, तरुवर, सातो सागर।
> जित देखो उत मोहन नागर॥

७. समर्थ की कविता समुद्रा अफार - आहे (समर्थ की कविता समुद्रविस्तृत है) पांगारकर - समर्थ ग्रंथ भांडार पृष्ठ ६।

८. देखिए पांच संत कवि पृष्ठ ४१६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जल, थल, काष्ठ,पषाण, अकाशा।
चंद्र, सूरज, नच, तेज, प्रकाशा॥
मोरे मन मानस राम भजोरे।
रामदास प्रभु ऐसा करो रे॥

यदि मन राम नहीं समाया है तो तीर्थ, व्रत, स्नान, योग करने से भी क्या लाभ होगा।

राम न जाने नर तो क्या जी।
धन दौलत सब माल खजीना,
और मुलुख सर किया तो क्या जी।
गंगा गोमती रेवा तापी,
और बनारस न्हाया तो क्या जी।

समर्थ की दृष्टि व्यापक और उदार थी। वह राम, रहीम, कृष्ण सभी को एक ही रूपमें देखते थे। उनके कृष्णसंबंधी पद भी हमें हस्तलिखित पोथियों में प्राप्त हुए हैं। वे हिंदू मुसलमानों के परस्पर अनुदार भाव को दूर करने के लिये उपदेश देते और उनकी धार्मिक कट्टरता पर प्रहार करते थे। हिंदू और मुसलमान नाम से दो मजहब भले ही चले हों, पर दोनों का सर्जनहार तो एक ही है। वही सृष्टि को चलाता है—

हिंदू मुसलमान मजहब चले सरज्जनहारा,
साहेब अलम कुं चलावे सो अलमथी न्यारा।
घट घट साहियां रे अजब अला मिया रे,
ये हिंदू मुसलमान दोनों चलावे पछाने सो भावे।

जिसकी परमार्थ के प्रति लगन है, वह अल्ला मिया को प्यारा है। संसार में सभी वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं, परंतु 'गैबी' (परमार्थसाधक) नहीं—

देहरा तुटेगा मशीदी तुटेगी, [illegible]
[illegible] सब हम सों,
[illegible] कि आर्धा [illegible] सो कैसो रे भाई।

[illegible] अप्रकाशित हिंदी पद लेखक के संग्रह में हैं, उनमें से कुछ नीचे दिए जाते [illegible] रामदास के समय हिंदी जिस प्रकार लिखी जाती थी उसके उदाहरण के लिये पद प्राचीन पोथियों से अविकल उतारे गए हैं।

पद

ज्याहा[१] ज्याऊ[२] ताहा राम सही।
सब खोजत सो पाछे रही॥
ज्याहा ली ज्यावे ताहा दील ज्यावे।
राम बीन मोहे कछु नहीं भावे॥

१. जहाँ। २. जाऊँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

येक छ्यपावे[1] येक दीखावे।
ज्याहा भावे ताहा राम लीज्यावे[2] ॥
रामदास बंदा उठी च्यले[3]।
ज्याहा जाऊँ ताहा राम मीले ॥

पद (राग काफी)

॥ घ्रु ॥ लटपटी पाग बनी रे ॥
कुंकुं (केशर) तीलक बन्यो है कोटी च्यंद बनी रे।
पीत वसन बहु भुखन[4] मंडीत यमकत माल मनी रे ॥
धनुष बाण लघु ठान बीराजे, पीरत बहुत घनी रे।
देव के देव कुं आनी मीलावे,[5] ऐसा कौन गुणी रे ॥
कोनी तेहतीस बंद छुरावे धन पीता जननी रे।
धीर उदार फणीबीर जेठो दास को राम धनी रे ॥

पद (राग मारू)

नयोनन मो रघुबीर मेरो[6]।
कर शरच्याप सलीलज्य[7] लोचन ॥
ठाडे[8] भये रणधीर ॥ १ ॥
ललीत[9] तउ नवनागर लीला।
ज्यव[10] तब देषत[11] धीर[12] ॥ २ ॥
रामदास की प्रेम की पीरत।
मयरकत[13] नयनन[14] नीर ॥

[illegible] पद

दयाल[15] पतीत पा[illegible] हो।
ज्ञान न ज्यानु[16] ध्यान न ज्यानु [illegible]
अंतर भाव न हो ॥ १ ॥
धरम न कीया दान न दीया।
मुगती[17] कुं ज्यावनं हो ॥ २ ॥
रामदास कहे मेतौ[18] अैसा।
फोकट[19] खावन हो ॥ ३ ॥

१. छिपावे। २. ले जावे। ३. उठ चले। ४. भूषण। ५. आनि लाकड़ं। ६. पाठांतर धुलिया की पांडुलिपि. क्रमांक १८४० – मोरो नयनन मों रघुबीर। ७. सलीलज (सलिलज, कमल) ८. ठाड। ९. ललित। १०. जब ११. देखत। १२. स्थीर। १३. झरकत। १४. नयनों में। १५. पतित। १६. जानूं। १७. मुक्ति। १८. मैं तो। १९. मुफ्त।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद

नाथ सुनाथ करो अनाथ को नाथ सनाथ करो ॥
वेद वखानें ब्रीद तमारो ।
सो भ्युटा[१] न करो ॥ १ ॥
भगतन की तन राखो मन कौ ।
दुरी दुरी न धरो[२] ॥ २ ॥

पद

दीन दयाल दयाल करे हो । दीन दयाल ॥
येई संसार अपार दुख को ।
जीवन उदास भयो ॥ १ ॥
ज्यानत ज्यानत मांगत मनं कुं ।
असा काम कीया ॥ २ ॥
दास दीन ज्यन सरन तमारे ।
कहत सब गया ॥

पद

लाज्य न कीज्यै हो भज्यन कुं ॥ लाज्य न कीजै हो ॥
आगम नीगम संत समागम ।
अंतर लीजै हो ॥ २ ॥
दास दया कर अंतरवासी ।
तन मन दीज्ये हो ॥ भज्यन कुं ॥

पद

भगतन की तन [illegible]
अंतर की [illegible] अंतर [illegible]
[illegible] हे मन हो ॥ १ ॥
मन की पीरत मन मो राखी ।
च्याखी संतन हो ॥ २ ॥
रामदास की अंतरलीला ।
अंतर भावन हो ॥

पद

कांहा छ्यपाऊँ[३] हो नीरंजन ।
काहा छपाऊँ हो ॥
ज्याहा देखुं ताहा प्रगट गुसयां[४] ।
कैसो लै ज्याऊ हो ॥ १ ॥

१. झूठा । २. दूरी धारण न करो । ३. छिपाऊँ । ४. गुसैयां ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुज में[1] ठाकुर में ज्यान[2] न पाउ हो ॥ २ ॥
रामदास ज्यन नीरगुन के गुन ॥
ज्यव[3] तव[4] गाउंहो ॥ ३ ॥

पद

सब घट में है रे खुदाई।
खाली ज्यागा[5] नहीं रे खुदाबीन ज्यनेहत[6] नाहीं रे ॥ १ ॥
भ्युटी कहे सो भ्युटी दीवानी खबर न पाई रे।
दास फकीर कहे ईतना ही अंतर माही रे ॥ २ ॥

पद

प्रगट कौन करे राम प्रगट कौन करे।
आगम नीगम शेश वीरची[7] ताकु[8] भुली परे ॥ १ ॥
अलख नीरंज्यन[9] सब ज्यन[10] माही ॥ देखत रूप सरे ॥ २ ॥
दास कहे गम संत समागम ॥ अंतर माही धरे ॥ ३ ॥

पद

बावरी भई तन मेरी ॥ बावरी भई ॥
जीद[11] देखुं तीद[12] गड़े[13] नीरंज्यन। च्यमकत भुली रही ॥ १ ॥
नीरखत नीरखत देखत मन मो तन की सुधि गई ॥ २ ॥
दास के पास दयाल की मुरत[14]। सब घट ये सही ॥ ३ ॥

पद

ज्यानी दीवानी रे बाबा ज्यानी दीवानी रे।
[illegible]ली न मानें [illegible] अर्थ [illegible]त गुमानी रे बाबा ॥ १ ॥
ज्यानी में ज्यन [illegible] गवाय [illegible]न[15] मानी रे बाबा ॥
दास फ़कीर कहै मनु धीर असबत मांनो [illegible]

पद

पानी में प्यासा मुवा[16] रे अल्लम[17] पानी में प्यासा मुवा।
तीरत तीरत[18] देख कब[19] लक घुंडत हये[20] कुवारे ॥ २ ॥
मारग छयारी कुमारग ज्यावे। तैसा हाल हुवा रे।
ज्युमीन[21] खोज्य अनाज्य चलावै चुकी रही चुवारे ॥ ३ ॥
कहे दास सजन छोड़ी खजीनां। मागतु है ख्वारे ॥ ४ ॥

१. मुझमें। २. जान। ३. जीव। ४. तब। ५. जगह। ६. जानत। ७. विरंचि। ८. उसको। ९. निरंजन। १०. जन। ११. जिधर। १२. उधर। १३. जमे हुए। १४. मूर्ति। १५. ध्यान नहीं किया। १६. मरा रे। १७. आलम। १८. तीर्थ। १९. कब तक। २०. ढूढ़ता है। २१. जमीन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद (राग असावरी)

हरी रंग ज्यागे ताहा मन लोगे छ्योरी उपाधी से भागे रे।
बाज्य[1] बजावे हरि गुन गावे। नीरगुन भेद बतावे ॥ १ ॥
शामसुन्दर की महिमा लीला। जब तक जीये में भावे ॥ २ ॥
रामदास को प्रेम की मुरत सुनत बच्यन[2] मों आवे।

पद

भेख बनाया भेद न पाया मुंदल गंवाया रे।
नाथ नीरंज्यन ज्यन में ज्यागे ॥ उसकी सुध न लाया रे ॥
आसन छ्योरी सुकासन ज्यावे आसनं पोढ़ न पाया रे।
नाथ सनाथ की यो नहीं माना दास कहे क्या भाया रे ॥

पद

नाथ नाथ बुझ्ये सो नाथ हमारा ॥ वाको लछ्यन न्यारा रे ॥
कंथा काया मुद्रा माया उसमें नाथ छ्यपाया रे।
अलख ज्योगी बाज्ये सींगी उसमें ज्योगी नाच्यारे ॥
माई मुंठी मार ज्यलावे। दास के सौ भाव्या रे ॥

पद

नंद के कान्ह गुवाला लाला शोभा तो आज्यु बनी ॥
तनु सुनील नीलालक नील। नील मुगुट मोर छाला ॥ १ ॥
अँखीया लाल उड़ाय गुलाल। लाल कीनी ब्रजबाला ॥ २ ॥
अधर लाल मुरली लाल लाल। लाल सरस कर ताला ॥ ३ ॥
तीलक पित वीभूखण पित। अंबर पोत रसाला ॥ ४ ॥
मलयज सेत मुगुट मणीसेल्य पद [illegible]लन की माला ॥ [illegible] ॥
नवरस नागर शाम मनमुमक्त को जहाँ [illegible] गुपाला ॥ ६ ॥
बारि बारि [illegible] ब्रजनारि। देखत दास प्रतिपाला ॥ ७ ॥

पद

पर कामिनि संगत पिरत चलावत निकट अंग जैसे दूध पीलाई।
ज्यानि को रंग बीरंग न मानत। ज्यानत मानीनी सुखदाई ॥
अब काम ईहाँ, कब राम कहाँ। सुख भावत होवत होवत हारी।
दास कहे जन को मन राखत सज्जन काह करे अविकारी ॥ १ ॥
पर पुरुष कुं जोवत कामीनी जैसो चकोर मयंक सुनाहि[3]।
नैन सुनैन मीलवत पीरत नाहिं ज्यु कछु की कब कान मानहिं ॥
दास को रस बीरस जु च्यातक चीत नहीं कल पावे।
ऐसो पती भीगे पलखें तो राम के दासन को पद आवे ॥

१. वाद्य। २. बचन। ३. सुनते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद

मेरे रामधनी धनी रे मोहे काहा कमी रे ।
राम साहेब मेरा मागना क्या है बीच्यारा ॥
मेरि बाच्या[1] तेरो नाम दीन दीन लेते ज्यावे ।
काम न भावे धाम न भावे ज्याहाँ ताहाँ राम भावे ॥ १ ॥
रामदास कहे तोकु मार्गो सो तु मों कहे कुं देरे ।
तेरो प्रेम मेरो अंतर ज्यामी रहण दे रे ॥ २ ॥

पद

मोहन च्योरहूँ पकर ये ।
इन मोकुं बहु बेर ठगायो अब के बेर छपऱ्यो[2] ॥
शाम सुंदर सुं भेख फीरायो चंवकत चंवकत[3] आयो मोहन ।
बंधन तोरि मटकी फोरी माखन सो सब खायो ॥
यही ज्योंरतें[4] गोकुल पकऱ्यो ग्वारिनी हाथ बंधायो ।
अब तो हुँ भगती उख्खल संग भाव रसा गह लीयो ॥ २ ॥
तब गोकुल थे राधाजी छुरायो अब तुम कौन छूरावे मोहन ।
रामदास प्रभु प्रेम सुं बांध्यो अब कैसो ज्यान पावे मोहन ॥
ज्योर हुं पकऱ्यो ॥

पद

भजले भाई तुजे राम दुहाई ॥
भजले बाबा भजले भाई भजले राम संगातो ।
राम बीना सब धंदा गंधा कोउ न आवे साथी ॥ १ ॥
[illegible] नाम से काम [illegible] दुनियाँ है रे झूटी ।
[illegible] टन ज्यावे खोटी ॥ २ ॥
सात बीसातहि छांड गये रे कोण [illegible] तो लेखा ।
रामदास कहे राम भजन से मीटे करम को [illegible]

पद

ज्यागो ज्यागो भाई ज्यम[5] से करो लड़ाई ॥
ज्यागो ज्यागो बुझ्यो मन में माया धंदा झुटा ।
पलख पल मों खल्लक देखत आया काल चपेटा ॥ १ ॥
दृढ़ भगती की सील्ले पेनो येक भाव का घोड़ा ।
राम नाम जप माला देखत भागे काल भगोडा ॥ २ ॥
को लंगर कब अमर भयो है दो दोन की जिनगानी ।
खीण[6] खीण घटत बढ़त नहीं कबहूँ ज्यों अंजुल को पानी ॥

१. वाचा । २. सपड़ा मिला (मराठी सपड़ला) ३. चमकते चमकते । ४. जोर से ।
५. यम । ६. क्षण ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामदास कहे प्रभुजी को सेवक सुन रे मेरे भैया ।
मानुख जनम गवाया तो तु अंतकाल पछताया ॥

पद

गगन हमारी गुफा अवधु ब्रह्मांड हमारी देहली ।
जत हमारि कसौटी अवधु सत हमारि झोली बाबा ॥ घृ ॥
हम वैरागी गुरु के चेले नीत्य नीरंजन खेलें यकले ।
अनुभव हमारी मुद्रा अवधु प्रची (परिचय) हमारी दंड बाबा ॥
ज्ञान वीभुति भस्म चढ़ाउं तो फीरत दस खंड बाबा ।
धरमी हमारी पात्र अवधु अंबर हमारा प्याला बाबा ॥
हरिप्रसाद बोले नीत्य जोगी रामदास मतवाला बाबा ।

पद

माई[1] रे मोरे नैन शाम सुरंग ॥
तरु तमाल[2]
खग मृग किट पतंग ।
गगन सघन धरती सु संग ।
लीन दिखत मोहन रंग
रामदास प्रभु रंग लागा ।
(और) सब भये बिरंग ॥

पद

गोविंदे मुख मोरे राघव मुख मोरे ॥
छुटत लख चौर्‌यासी फेरे ।
लागत ज्यम पग [illegible] माला ॥
अस्टहि सिधि [illegible] गुपाल। ॥
(पु[illegible] दास' तो जनम उदासी ॥

पद

राम भजन कुं ढील न करिये । काल कसाई कुं मन डरिये ।
ढील झोरि ढीवर उदधारे । पतीत व्याध वैकुंठ सीधारे ॥
ढील छोरि[3] ये दास भी गावे । रसना अनुदीन रामु जपावे ।

पद

राम को नाम यदी घट गावे ।
नीशान बज्यावत वैकुंठ जावे ॥
रखुमागद तीथीत्रय कुं गावे ।
नगरि समेत बीमान चर्‌हावे[4] ॥

१. माई (मां) । २. इसके आगे के शब्द अस्पष्ट हैं । पोथी जीर्ण है । ३. आलस्य त्यागकर ।
४. चढ़ावे ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद

गज्यपति[1] गणिका रामहिं गावे।
तन समेत वैकुंठ कुं ज्यावे॥
कहे रामनाम ही गाऊँ।
वैकुंठ कुं वैकुंठ ली ज्याऊँ[2]॥

पद

सुन मेरी रसना राम उच्चारो।
राम रस लीये रस डारो॥
खीर खांड तुक मानत नीको।
राम रस पाइये और रस फीको॥
रामदास कहे सुन रसना मेरि।
राम भगति बीन गती नहीं तेरि॥

पद

मेरा बुहुत नाम।
ऐसा दुज्या कवन है रे किसकुं करं सलाम॥
हत्ती घोड़े कोट ही कोट चले दल बादल॥ १॥
रामचंद्र की फौज उठावे तो दल मेरण खुं दल॥२॥
तीन्ही लोक में उपर रावण उसकुं कीया खेव॥३॥
तेथीस कोटी देव छुराये सब देवन को देव॥ ४॥

पद

गौडी। दशरथ के द्वार। जाय चकीत भये।
[illegible] ३ पवन [illegible] और भये नारद तुंबर गावतु है॥
[illegible] दुंदभी बाजतु है।
रामदास बली ज्यावतु है॥ [illegible] कल्याण॥

(यहाँ जो कल्याण का नाम है, वह समर्थ रामदास के शिष्य [illegible] है [illegible] लिखता जाता था।)

पद

आया वे जोगी आया।
जोगी आया॥
सींगी न पत्र वीभूति न वटवा।
नहिं कछु मुद्रा मायो॥ १॥
नाग चर्म बोहरे (ओढ़े) बाघंबर पेहरे।
जटाजूट बनाया॥ २॥

१. गजपति। २. ले जाऊँ। ३. तहाँ। ४. पवन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामदास साहि अंतरवासी ।
रयन दिन भुले काया ॥

पद

हरी गुण गा रे तब कैसे गावेगा ।
काल नीकट[१] जब आवेगा ॥
जैब कफ[२] कंठ दबावेगा । तब सास[३] न ले पावेगा ॥ १ ॥
गले फासी जम देवेगा । तब कौन हात्त गह लेवेगा ॥ २ ॥
जीमो विचीत्र दुख पावेगा । तब कौन सुमीत्र बच्यावेगा ॥ ३ ॥
पाव[४] संसार क सोवेगा । तब आस पास जन रोवेगा ॥ ४ ॥
ऐसा दाह[५] जब जब होवेगा[६] । तब[७] रामदास कब होवेगा ।
ज्याके हृदों में बद्ध नहीं । अकल की सुद्द शब्द नहीं ॥
लोभिया गुरुमुख नहीं । कीर्तन कीया तो क्या हुआ ॥ १ ॥
जो ग्यान में सामील नहीं । तन सु दया भी तिल नहीं ।
सद्भाव में कावील नहीं । माला लिया तो क्या हुवा ॥ २ ॥
काया के मन को थाटकर ममता स्त्रिया सों पाटकर ॥
सोया वीशया के खाट पर । हर हर कीया तो क्या हुवा ॥ ३ ॥
जिते पितर कु कुछ नहीं । जीन के जीकर कु इष्क नहीं ।
चांटाल उसकु शक नहीं । तर्प न किया तो क्या हुआ ॥ ४ ॥
कुत्ता हुआ माहाल का धंधा करे जंज्याल का ।
आया तीरथ कर द्वारका । कासी गया तो क्या हुवा ॥ ५ ॥
गवगवा करे संसार का । जो कुज डा वा जान का ।
इष्क नहीं उस राम का । जीता मरा तो क्या हुआ ॥ ६ ॥
आपकु जीता तो था नही [illegible]
मनमैलु के धोया नहीं । अंगुल[८] कीया तो क्या हुआ ॥ ७ ॥

*

१. निकट । २. जब कफ से कंठ । ३. श्वास । ४. पांव । ५. डाव (मौका) । ६. खोवेगा ।
७. तब नहीं है । ८. स्नान ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी भाषा के कोशनिर्माण की कुछ समस्याएँ

वासुदेवशरण अग्रवाल

इस समय हिंदी भाषा के एक बृहत प्रामाणिक कोश की तत्काल आवश्यकता है। यह कार्य योजनाबद्ध रीति से पाँच वर्ष के भीतर समाप्त किया जा सकता है, यदि इसका संगठन सुदृढ़ आर्थिक आधार पर कर दिया जाय। चाहे जितनी संख्या में सहयोगी विद्वान् और संपादक अपेक्षित हों, यह महत्वपूर्ण कार्य निश्चित अवधि के भीतर होना ही चाहिए। यह कार्य करना है, पाँच वर्ष की निश्चित अवधि के भीतर करना है, वैज्ञानिक पद्धति से करना है और सांगोपांग साहित्य को आधार बनाते हुए प्रामाणिक रीति से करना है। यदि इस चतुर्विध संकल्प के साथ काम में लगा जाय तो आर्थिक सुविधा के अनुपात से सफलता निश्चित है।

हिंदी भाषा का बृहत् कोश किस प्रकार का होना चाहिए, आरंभ में ही इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है। जिस आदर्श कोश की कल्पना हमारे मन में है और जो हिंदी साहित्य और भाषा के देश - काल में फैले हुए विस्तार का यथार्थ रीति से प्रतिनिधित्व कर सकेगा, उसकी रूप रेखा और शब्दसामग्री के संकलन का क्षेत्र कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है—

[illegible] – कोश का निर्माण भाषा के ऐतिहासिक विकास को दृष्टि में रखकर किया जाना साथ [illegible] अर्थ [illegible] या संवत् में किस स्रोत से आया है, उसके में [illegible] में, लोकसाहित्य में और बोलियों में किस प्रकार होता रहा है, इसका स्पष्ट परिचय बृहत हिंदी [illegible] की शब्दावली भी उपयोगी

२ – प्रत्येक शब्द के अर्थ का निरूपण प्रामाणिक साहित्य सामग्री [illegible] है [illegible] शब्दों के जाना चाहिए। साथ ही बोल - चाल की भाषा में अर्थों की जो परंपरा सुर[illegible] और प्राचीन [illegible]। उसका भी उल्लेख होना चाहिए।

३ – प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति देने का यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए।

४ – हिंदी भाषा की शास्त्रीय, पारिभाषिक और वैज्ञानिक शब्दावली का इस कोश में यथासंभव पूर्ण समावेश रहना चाहिए और ऐसे प्रत्येक शब्द के अर्थों का भी स्पष्ट एवं निश्चित विवेचन होना चाहिए।

हिंदी साहित्य में प्रयुक्त व्यक्तिवाची नाम और भौगोलिक नामों का भी परिचय कोश में देना चाहिए। इस प्रकार सर्वांगपूर्ण कोश के लिये सामग्री का संकलन किन स्रोतों से होगा, इस प्रश्न का उत्तर कुछ इस प्रकार दिया जा सकता है—

१ – हिंदी भाषा की १८वीं, १९वीं और २०वीं शती में अंग्रेजी, हिंदुस्तानी, उर्दू या हिंदी के माध्यम से जितने कोश आज तक बने हैं, उनमें से प्रत्येक को सामने रखकर समस्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दों की पूरी छानबीन एक बार हो जानी चाहिए और प्रत्येक शब्द प्राचीन कोशों में उल्लिखित सूचनाओं से पृथक् पृथक् पत्रों पर लिख लिया जाना चाहिए।

२ – संस्कृत के जितने प्राचीन और अर्वाचीन कोश हैं, उनके आधार पर उन सब शब्दों को चिटों पर उतार लेना चाहिए जिनका हिंदी भाषा या साहित्य में कभी कहीं पर प्रयोग देखा गया है, अथवा हिंदी और संस्कृत के बढ़ते हुए संपर्क की पृष्ठभूमि में जिनके प्रयुक्त होने की भी संभावनाएं हैं। आरंभ से लेकर अंत तक जितना भी प्राचीन और मध्यकालीन हिंदी भाषा का गद्य और पद्य में साहित्य है, जो कहीं भी प्रकाशित या अप्रकाशित रूप में उपलब्ध है, उस सबकी एक विवरणात्मक सूची सर्वप्रथम तिथिक्रम के अनुसार बन जानी चाहिए। यह वह मूल सामग्री समझी जायगी जिसका कोश में संनिवेश करना आवश्यक होगा। वस्तुतः किसी भी बृहत् प्रामाणिक हिंदी शब्दकोश का निर्माण इसी प्रकार की अनुसूचित आधारभूत सामग्री के समुचित संनिवेश द्वारा ही संपन्न किया जा सकता है। हिंदी हो या संस्कृत, अंग्रेजी हो या विश्व की कोई अन्य भाषा, जब कभी ऐतिहासिक पद्धति से उस भाषा के लिये कोश बनाने का काम हाथ में लिया जायगा, इस प्रकार की सूची का निर्माण अनिवार्यतः आवश्यक होगा। पूना के डेकन कालेज से डा० कत्रे के संपादकत्व में जिस बृहत्संस्कृत कोश का निर्माण हाथ में लिया गया है उसके लिये इस प्रकार की एक संस्कृत ग्रंथसूची संपादकों ने पहले निर्धारित कर ली थी और उसीकी मुद्रित प्रतियाँ विद्वानों के पास भेजकर भूल चूक का समाधान भी कर लिया गया था।

३ – पिछले लगभग २०० वर्षों में जो हिंदी का नया गद्य-पद्यमय साहित्य या समाचार पत्रों का साहित्य प्रकाशित हुआ है उसमें प्रयुक्त शब्दों और अर्थों की छानबीन प्रस्तावित कोश के लिये हो जानी चाहिए।

४ – अभी हाल ही में जिस वैज्ञानिक, राजनीति और सामाजिक आदि विषयों की पारिभाषिक शब्दावली का हिंदी के लिये निर्माण किया गया है, या हो रहा है [illegible] प्रामाणिक संनिवेश इस कोश में हो जाना साम[illegible]

५ – हिंदी भाषा का एक अति [illegible] विभाग जनपदीय [illegible] है। [illegible] कि आर्य[illegible] बिहार तक हिंदी भाषा का निजी क्षेत्र फैला हुआ है। [illegible] और बोलियाँ हैं, उनकी विविध शब्दावली का या तो हिंदी साहित्य [illegible] है और यदि प्रयोग नहीं हुआ है तो वे आजतक लोगों की बोलचाल की [illegible] रूप में प्रयुक्त होती रही हैं। ऐसी शब्दावलियों का क्रमबद्ध संकलन बृहत् हिंदी कोश के लिये अत्यंत आवश्यक कर्तव्य है। विशेषतः कृषकजीवन की शब्दावली और भिन्न भिन्न शिल्पी या पेशेवर लोगों की शब्दावली, इनका संग्रह किये बिना तो हिंदी के किसी भी अच्छे कोश का पेटा पूरा हो ही नहीं सकता। मौलवी अब्दुल हक ने अंजुमन तरक्किए उर्दू की ओर से एक अच्छे उर्दू कोश की रूपरेखा तैयार की थी। उनके सामने भी शब्दों की यह समस्या आई। लगभग दो सौ पेशेवरों की सूची बनाकर उनकी शब्दावली का संकलन उन्होंने कराया जो फरहंग-ए-इस्तलाहात के नाम से आठ भागों में प्रकाशित हुआ है। वह कहने के लिये उर्दू की चीज है, वस्तुतः उसके तीन चौथाई शब्द भारतीय परंपरा के हैं और किसी भी हिंदी कोश में उनका संनिवेश होना ही चाहिए। श्री अब्दुल हक का यह कार्य यद्यपि मूल्यवान् है, तथापि वह बहुत अधूरा रह गया है। हिंदी क्षेत्र में ठीक विधि से इस कार्य को हाथ में लिया जाय तो इस स्रोत से बहुत ही मूल्यवान् सामग्री उपलब्ध होने की आशा है। वस्तुतः इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य की संभावनाएँ लिखकर नहीं बताई जा सकतीं। प्रत्येक क्षेत्र में कार्यकर्ता की सूझबूझ और बुद्धिमत्ता से नए शब्दों का अपरिमित भंडार सामने आ सकेगा। उदाहरण के लिये अलवर में राजस्थान के सिकलीगरों से भाँति-भाँति की तलवारों और हथियारों से संबंध रखने वाले कई सौ नए शब्द प्राप्त किये जा सके जिनके द्वारा हिंदी की शब्दसमृद्धि का अद्भुत नूतन परिचय प्राप्त होता है। इसी प्रकार प्राचीन संगतराश और राज-मिस्त्रियों की भाषा से पत्थरों की उकेरी, नक्काशी, भाँति-भाँति के कटान और मकान बनाने से संबंधित शब्दों की एक लंबी सूची प्राप्त की जा सकती है। इन शब्दों की परंपरा मध्यकाल के उन शिल्पग्रंथों से जा मिलती है जो संस्कृत या प्राकृत में सुरक्षित रह गए हैं। अकेले जालियों के कटाव से संबंधित सैकड़ों शब्द राजस्थान में प्रचलित हैं। जैसे, जाली छवांस, जाली अठवांस डैरुछवांस, इलायचा, बादरूम आदि। इनमें से अधिकांश शब्दों की परंपरा संस्कृत से आई हुई है, जैसे डैरुछवांस आकृति की जाली का घर संस्कृत डमरुषट्पार्श्व पर आश्रित है। कपड़े छापने वाले छीपी और आभूषण बनाने वाले सुनारों की भाषा भी शब्दावली की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध हैं। यदि कोई चतुर कार्यकर्ता उस शब्दावली का व्यवस्थित दोहन करेगा तो उसका परिश्रम अद्भुत रीति से सफल होगा। उदाहरण के लिये, ठक्कुर फेरू ने अपने द्रव्य-परीक्षा नामक ग्रंथ में, जिसमें कई सौ मध्यकालीन भारतीय सिक्कों का वर्णन है, रिणी और हरजय शब्दों का सोने की चासनी बनाने के प्रसंग में प्रयोग दिया है जिनका अर्थ किसी संस्कृत या प्राकृत के कोश में नहीं मिला। सुनारों की शब्दावली में ये दोनों शब्द अभी तक जीवित मिले। शोधे हुए सोने को गलाकर, साँचे में ढाली हुई गुल्ली को 'रेनी' कहते हैं। यही ठक्कुर फेरू की रिणी है। इसके अतिरिक्त रवाला या रवेदार सोना हरजय कहा जाता है। इन दोनों शब्दों के अर्थों का ठीक उद्धार हो जाने से ठक्कुर फेरू की एक अस्पष्ट गाथा का खोया हुआ अर्थ फिर से हाथ आ गया। बाजरे के मुंडे या गोल, ठोस, या बजने वाले घुंघरू, छागल के घुंघरू, मांगदार घुंघरू, चौरासी के घुंघरू, जंग के घुंघरू इत्यादि कई प्रकार के [illegible] भेद संबंधी शब्द सुनारों की भाषा में चलते हैं।

साथ [illegible] के को[illegible] अर्थ [illegible] उद्धार का कार्य काफी महत्त्वपूर्ण है जिसकी में नहीं [illegible] है जो सदा हमारे साथ रही है। आखों में लगे हुए अंजन की तरह अति संनिकट होने के कारण [illegible] शब्दावली भी उपयोगी पाए हैं। हिंदी भाषा की वर्णनक्षमता को बढ़ाने के लिये किसी भा[illegible] है [illegible] शब्दों के और चुस्त सामग्री नहीं मिल सकती जैसी जनपदीय शब्दावली से, जिसमें बोल और प्राचीन का अधिक से अधिक व्यापक क्षेत्र संमिलित है। हिंदी में इस ओर जो थोड़ा सा का[illegible] हुआ है, कोशनिर्माताओं को कम से कम उससे तो लाभ उठाना ही चाहिए। इनमें ग्रियर्सन की बिहार पीजेंट लाइफ पुस्तक सुविदित है जिसके शब्दों को हिंदी के किसी भी बड़े कोश में संमिलित कर लेना आवश्यक है। जायसी ने पदमावत में जो छान, छप्पर या छाजन की शब्दावली का द्व्यर्थक प्रयोग किया है (पदमावत क्रमांक दोहा ३५६) उसके कई महत्त्वपूर्ण शब्दों का अर्थ ग्रियर्सन की सहायता से ही मुझे स्पष्ट हो सका था, जैसे आगरि, बात या बत्ता, बाँक, कोरे आदि शब्द! हिंदी साहित्य में 'उस्मान' ने भी चित्रावली में जायसी के समान ही श्लेषात्मक शैली से छाजन की शब्दावली का प्रयोग किया है (चित्रावली दोहा ४४७)।

६ – हिंदी के बृहत कोश के लिये मध्यकालीन शब्दों का नया स्रोत अभी हाल ही में हमारे सामने आया है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण ज्योतिरीश्वर ठक्कुर का वर्णरत्नाकर है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसकी रचना १३२० ई० के लगभग हुई थी और जिसमें करीब ६००० शब्दों का संग्रह है। यद्यपि उस ग्रंथ के शब्दों की व्याख्या निबंधरूप में अनुसंधान का विषय है, तथापि यह तो प्रत्यक्ष ही है कि उनमें से अधिकांश को किसी भी प्रामाणिक हिंदी कोश में स्थान मिलना ही चाहिए। पदमावत की शब्दावली पर कार्य करते हुए वर्णरत्नाकर की तुलनात्मक सामग्री के मूल्य का बहुत बार हमें अनुभव हुआ था। प्राचीन हिंदी की शब्दावली पर काम करने वाले विद्वान् के लिये वर्णरत्नाकर की उपयोगिता अनिवार्य है। वर्णरत्नाकर अनेक आदर्श वर्णनों का संग्रह है। नायक नायिका, राजा - राजसभा, सेना आदि का आदर्श वर्णन कैसा होना चाहिए, इस प्रकार की अनेक सूचियाँ इस संग्रह में हैं। ज्ञात होता है कि मैथिली के समान ही प्राचीन राजस्थानी और प्राचीन गुजराती में भी वर्णक ग्रंथों की परिपाटी थी। अभी हाल ही में श्री भोगीलाल जी सांडेसरा ने बड़ौदा विश्वविद्यालय से वर्णक समुच्चय नामक एक विशिष्ट ग्रंथ प्रकाशित किया है जिसमें लगभग बारह छोटे बड़े वर्णक ग्रंथों का संग्रह है। श्री अगरचंद जी नाहटा के संग्रहालय में भी इस प्रकार के कई वर्णक विद्यमान हैं। उन सबका उपयोग हिंदी के कोश में होना चाहिए। इसी संबंध में माणिक्यचंद्र सूरि विरचित "पृथ्वीचंद्र चरित" (विक्रम सं० १४७८) नामक वर्णक ग्रंथ भी उल्लेखनीय है। वर्णक-समुच्चय और पृथ्वीचंद यद्यपि प्राचीन गुजराती के ग्रंथ हैं किंतु उनकी अस्सी प्रतिशत शब्दावली वही है जो प्राचीन हिंदी साहित्य में प्रयुक्त होती थी। हिंदी शब्द कोश के लिये इन सब संभावित स्रोतों से शब्दावली का ग्रहण होना ही चाहिए। चतुर संपादक को सदा उस सूक्ष्म मर्यादा रेखा का ध्यान रखना होगा जो प्रचीन हिंदी और प्राचीन गुजराती के क्षेत्रों को सचमुच पृथक् करती थी।

हमने ऊपर अँग्रेजी भाषा में हिंदुस्तानी या हिंदी के उन कोशों का उल्लेख किया है जिनका निर्माण १८ वीं और १९ वीं शती में कितने ही विद्वानों ने किया था। इनकी जो सूची हमें अब तक उपलब्ध हो सकी है वह इस प्रकार है—

१ – ग्लैडविन, डिक्शनरी ऑफ महम्डन [illegible]

२ – विलियम हंटर, डिक्शनरी हिंदुस्तानी इंगलिश, दो जिल्द, कलकत्ता १८०८।

[illegible] डिक्शनरी इंगलिश ऐंड हिंदुस्तानी, दो भाग, प्रथम संस्करण, [illegible]

[illegible] – पी० एस्० डी० रोजेरिओ, डिक्शनरी इंगलिश बंगाली ऐंड हिंदुस्तानी, कलकत्ता, १८३७।

५ – टांपसन, ए डिक्शनरी आफ उर्दू ऐंड इंगलिश, अरेंजड अकार्डिंग टू दी आर्डर आफ दी इंगलिश अल्फेबेट, सीरामपुर, १८३८।

६ – एच० एम० इलियट, ए ग्लौसरी ऑफ इंडियन टर्म्स, आगरा, १८४५।

७ – रेवरेण्ड जे० टी० टांपसन, हिंदी एंड इंगलिश डिक्शनरी, दिल्ली, १८४६।

८ – डंकन फोर्ब्स, डिक्शनरी आफ हिंदुस्तानी एंड इंगलिश, प्र० सं० १८४८ में प्रकाशित। फिर द्वि० सं० परिवर्द्धित रूप में १८५८ में लंडन से प्रकाशित। इसके प्रथम भाग के ८०२ पृष्ठों में हिंदुस्तानी इंगलिश डिक्शनरी और द्वितीय भाग के ३१८ पृष्ठों में इंगलिश हिंदुस्तानी डिक्शनरी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९ – फैलन, ए न्यू हिंदुस्तानी इंगलिश डिक्शनरी विथ इलस्ट्रेशंस फ्रॉम हिंदुस्तानी लिटरेचर एंड फोकलोर; ई० जे० लाजरस कंपनी, बनारस १८७९। इस कोश को बोलचाल की हिंदी का निचोया हुआ अमृत ही समझना चाहिए। स्त्री पुरुषों के होठों पर जो शब्द, वाक्य, मुहावरे और उक्तियाँ किसी समय खेलती थीं और जिन्हें साहित्य में स्थान न मिला था उनका जैसा संग्रह फैलन ने किया, वह आजतक अपने ढंग का अकेला ही है। इस कोश को पढ़ते पढ़ते हिंदी भाषा के प्रति मन में नई आस्था जाग उठती है। कोश होते हुए भी इस ग्रंथ में उपन्यास जैसी रुचि होती है। कोश के आरंभ में फैलन की विस्तृत भूमिका है। उसमें हिंदी की बोलियों के महत्व के विषय में जो लिखा है वह आज भी हिंदी कोशकारों के काम की वस्तु है।

१० – जौन टी० प्लाट्स, ए डिक्शनरी आफ उर्दू, क्लासिकल हिंदी ऐंड इंगलिश; पहला संस्करण १८८४; पंचम संस्करण १९३०। हंफ्रे मिल्फोर्ड, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

११ – जे० डी० बेट, ए डिक्शनरी आफ दी हिंदी लैंग्वेज। द्वितीय संस्करण १९१८, इंडियन प्रेस इलाहाबाद। इसमें पहली बार देवनागरी वर्णमाला के क्रम से शब्दों को सजाया गया था। पूर्व के कोशों में फारसी वर्णमाला का क्रम था।

१२ – डा० ऐडम, हिंदी डिक्शनरी, द्वितीय संस्करण, कलकत्ता। इनकी इंगलिश हिंदुस्तानी डिक्शनरी भी है।

१३ – जे० शेक्सपीयर, ए डिक्शनरी, हिंदुस्तानी।

इंग्लिश ऐंड इंग्लिश-हिंदुस्तानी

इसी प्रसंग में कुछ सहायक शब्दसूचियों का भी उल्लेख करना उचित होगा। इनमें [illegible]ल्लेखनीय संग्रह है एच० एच० विल्सन, ए ग्लासरी आफ इंडियन जुडीशल ऐंड साध[illegible] [illegible]क को[illegible] अर्थ [illegible]न आफिशिअल डाक्यूमेंट्स रिलेटिंग टू दी [illegible] में [illegible] [illegible]ब्रिटिश इं[illegible]। कारनेगी कृत कचहरी टेकनिकैलिटीज भी अति उपयोगी संग्रह है, यद्यपि छोटा है। विलियम क्रुक[illegible] का शब्दावली भी उपयोगी ग्लासरी फार दी नार्थ वैस्टर्न प्राविंसेज ऐंड अवध, कलकत्ता, गवनमें[illegible] है [illegible] शब्दों के १८८८ अत्यंत उपयोगी और बड़ा संग्रह है। इसमें एक ही शब्द के बोलियों म[illegible]ौर प्राचीन उच्चारणों का पृथक् पृथक् संग्रह है। किसी अर्वाचीन हिंदी कोश में इसकी सामग्री [illegible] संनिवेश किया जाना उचित है। क्रुक ने अपने से पूर्व संकलित जे० आर० रीड कृत आजमगढ़ ग्लॉसरी का उल्लेख किया है। उत्तर प्रदेश की भाँति पंजाब, बिहार, राजस्थान, मध्यभारत मध्यप्रदेश आदि क्षेत्रों में भी शब्दसंग्रह का कार्य उन्नीसवीं शती में अवश्य किया गया होगा। यदि वे ग्रंथ सुलभ हो सकें तो उन पर भी एक निगाह डालकर हिंदी के लिये जो उपयोगी जँचे उसे छान लेना होगा। उदाहरण के लिये जाँचिए, रेवरेंड न्यूटन आदि द्वारा संकलित लुधियाना - पंजाबी डिक्शनरी १८५४ में बनी थी। उसको पारिभाषिक शब्दावली विशेषतः जो कृषि जीवन से संबंधित थी, हिंदी के तत्सदृश शब्दों का स्मरण दिला सकती है। 'क्रुक' के कार्य से प्रभावित होकर ग्रियर्सन ने विहार के कृषकजीवन से संबंधित शब्दावली का बहुत अच्छा संकलन 'विहार पेजेंट लाइफ्' नामक ग्रंथ में किया था, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। हिंदी क्षेत्र के जनपदीय कार्यकर्ताओं के लिये आज भी वह संग्रह आदर्श है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रियर्सन का प्रथम संस्करण बंगाल शासन की ओर से १८८५ में प्रकाशित हुआ था। उसी का दूसरा परिवर्द्धित संस्करण विहार शासन की ओर से १९२६ में प्रकाशित हुआ। वह भी अब दुष्प्राप्य है। विदित हुआ है कि बिहार की राष्ट्रभाषा परिषद् विस्तृत आधार पर ग्रियर्सन के कार्य को दुहराने का प्रयत्न कर रही है।

जनपदीय शब्दावली के नमूने हिंदी के और भी दूसरे क्षेत्रों से लेने चाहिएँ। यह काम - विश्वविद्यालयों द्वारा बहुत कुछ आगे बढ़ाया जा सकता है। उदाहरण के लिये श्री हरिहर प्रसाद ने आजमगढ़ क्षेत्र के ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली पर पी - एच० डी० के लिये निबंध प्रस्तुत किया था, जो अब प्रकाशित हो गया है। किंतु ग्रियर्सन और गुप्त जी इन दोनों के काम से भी अधिक व्यापक आधार पर विस्तृत कार्य श्री अंबाप्रसाद 'सुमन' ने अलीगढ़ क्षेत्र की शब्दावली के संग्रह के रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें लगभग १३००० शब्द हैं और प्रत्यक्ष जीवन से एवं औजार आदि से संबंध रखनेवाले शब्दों के लगभग एक सहस्र चित्र भी इस निबंध के साथ दिए गए हैं। यदि यह ग्रंथ शीघ्र छप सका तो हिंदी में शब्दावली के संग्रह के कार्य को उससे पर्याप्त प्रोत्साहन मिलने की आशा है। जिस ढंग पर जनपदीय शब्दावली के संग्रह का कार्य आगे बढ़ाना चाहिए उसकी ठीक आधारशिला श्री अंबाप्रसाद जी ने रख दी है। प्रत्येक हिंदी कोशकर्ता को इस संग्रह का उपयोग करना चाहिए। इसी प्रसंग में यूल और बर्नल कृत हाब्सन - जाब्सन नामक प्राचीन विशिष्ट शब्दसंग्रह की ओर भी ध्यान दिलाना आवश्यक है। यह एंग्लो इंडियन शब्दों और मुहाविरों की ग्लौसरी है जो १८८६ में प्रकाशित हुई थी। फिर उसका दूसरा संस्करण भी निकला। इस संग्रह की पर्याप्त प्रशंसा करना कठिन है। हिन्दी की शब्दव्युत्पत्तियों के लिये और शब्दों के इतिहास के लिये इसमें मूल्यवान् सामग्री आ गई है। गायकवाड़ 'ओरियंटल सिरीज' में प्रकाशित 'पोर्चुगीज वाकेबिल्स इन एशियाटिक लैंग्वेजेज' ग्रंथ भी कुछ नए हिंदी शब्दों की व्युत्पत्ति की दृष्टि से उपयोगी है। भारतीय भाषाओं में प्रचलित हुए पुर्तगाली शब्दों को इसमें [illegible] ठीक छान दिया है।

[illegible] पद [illegible] ाली ॥ [illegible] रिश [illegible]

[illegible] ति को जहाँ [illegible] गुपाल। ॥ ६ [illegible]

[illegible] शब्दों की व्युत्पत्ति का प्रश्न जितना महत्वपूर्ण है उतना ही कठिन भी है। इसकी [illegible] कि आधा [illegible] शाकुंतल में [illegible] हुत विस्तृत है क्योंकि संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, देश्य भाषा, रलोक, [illegible], पश्तो, पहलवी, दक्षिण की द्रविड़ भाषाएँ—इन अनेक स्रोतों से हिंदी में शब्द [illegible] हैं। उन शब्दों की पहचान के लिये इन सब भाषाओं के कोशों को बहुत सावधानी के साथ किसी चतुर कोशकार को छानना होगा। आज की स्थिति यह है कि शब्दव्युत्पत्ति की दृष्टि से भारत की प्रायः सभी प्रादेशिक भाषाएँ पिछड़ी हुई हैं। बंगाली, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के कोशकार व्युत्पतियों की खोज में अपने अपने चप्पू चला रहे हैं, पर इस दुस्तर समुद्र के पार अभी कोई नहीं पहुँच पाया। सच बात तो यह है कि जबतक प्राचीन साहित्य का, देशी जनपदीय शब्दों का, अपभ्रंश के समस्त उपलब्ध साहित्य का एवं तुर्की, फारसी पश्तों और अरबी के कोशों का अच्छा अध्ययन नहीं कर लिया जाता और एक स्वतंत्र शास्त्र की तरह शब्द - व्युत्पत्ति - शास्त्र को भी निरूपित नहीं किया जाता, जिसके कि अपने निश्चित नियम हैं, तब तक इस क्षेत्र में अराजकता बनी रहेगी और व्युत्पत्ति के नाम पर बहुत सा ओखा माल भी चोखे की भाँति खपता रहेगा। इस कार्य को ठीक तरह से आगे बढ़ाने के लिये निम्नलिखित सुझाव उपयोगी हो सकते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१ – बाटलिंक और रौथ कृत संस्कृत कोश को तथा मोनियर विलियम्स कृत संस्कृत कोश को एकबार आद्यंत उलट कर हिंदी के शब्दों की संभावित व्युत्पत्तियाँ छान लेनी चाहिएँ। जैसे ही संस्कृत का शब्द सामने आवे उससे निकले हुए हिंदी के शब्द को पहचान लेने या पकड़ लेने की क्षमता जिसके मन में होगी वही इस कुंजी से रत्नों का भंडार खोल सकेगा।

२ – इसी प्रकार चाइल्डर्स और स्टीड के दोनों पाली कोश, सेठ हरगोविंददास कृत पाइअ सद्द महण्णवो (प्राकृत-शब्द-महार्णव) मुनि रतन चंद कृत 'अर्धमागधी कोश' के इन चार ग्रंथों को भी खूब बारीकी से छान कर हिंदी के अनेक शब्दों की खोई हुई व्युत्पत्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। 'पाइअ सद्द महण्णव' की सहायता के बिना मध्यकालीन हिंदी साहित्य का अध्ययन अधूरा ही रह जाता है। जायसी के सैकड़ों शब्दों के अर्थ इसी कोश की सहायता से मुझे प्राप्त हो सके, जैसा पदमावत की संजीवनी टीका के देखने से पाठकों को विदित होगा। प्राकृत के वैयाकरणों ने अपभ्रंश की धातुओं को प्राकृत धात्वादेश कहा है। जैसे 'छड्डु' धातु को अर्थ के आधार पर संस्कृत 'मुञ्च' का आदेश कहा गया अथवा 'छज्ज' धातु को (हिंदी छाजना, सुशोभित होना) संस्कृत 'राज' से संबंधित कहा गया। हेमचंद्र, वररुचि, क्रमदीश्वर, रामशर्मन् तर्कवागीश और मार्कंडेय के प्राकृत व्याकरणों के अनुसार जितने भी धात्वादेश अनुसूचित किए गए थे, उन १५९० धातुओं का अकारादि क्रम से अध्ययन ग्रियर्सन ने अपने 'प्राकृत धात्वादेश' नाम के ग्रंथ में कर दिया है, जो १९३४ में 'एशियाटिक सोसाइटी बंगाल' से प्रकाशित हुआ। हिंदी शब्दों की व्युत्पत्ति में रुचि रखनेवाले सज्जनों को यह पुस्तक अवश्य देखनी चाहिए। इसी प्रकार डा० हर्नले ने हिंदी धातुओं की व्युत्पत्ति की छानबीन करते हुए एक विस्तृत अध्ययन बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका में बहुत पहले प्रकाशित किया था जो आज भी मूल्यवान है। हिंदी भाषा की लगभग तीन सहस्र धा[illegible] अर्थविकास और व्युत्पत्ति दोनों दृष्टियों से किसी शोधनिबंध के [illegible] में [illegible] के [illegible] अध[illegible]।

३ – इधर पिछले ३० वर्षों में प्राचीन हिंदी साहित्य का [illegible] शब्दावली भी उपयोगी के रूप में सामने आ गया है। व्याकरण, शब्दावली और विषय—इन [illegible] है [illegible] शब्दों के अपभ्रंश भाषा और उसका साहित्य हिंदी भाषा और साहित्य का ही एक अ[illegible] और प्राचीन शब्दों की व्युत्पत्तियों का समाधान अपभ्रंश साहित्य की सहायता के बिना हो [illegible]। सकता। 'मुनि रत्नचंद' ने अपने अर्धमागधी कोश की पाँचवीं जिल्द में कुछ अपभ्रंश शब्दों को भी लिया है, किंतु यह समस्या उससे कहीं बड़ी है, और अब तो अपभ्रंश भाषा के सैकड़ों ग्रंथ जैन भंडारों में उपलब्ध हो गए हैं। यह समय परिपक्व है जब मातृभाषा हिंदी किसी तेजस्वी और कर्मनिष्ठ साहित्यसेवी को ऐसी अंतःप्रेरणा दे कि वह समस्त अपभ्रंश-साहित्य का अध्ययन करके उसके बृहत्कोश की रचना का कार्य अपने हाथ में ले, और हेमचंद्र के जैसी समुदीर्ण शक्ति से उस कार्य को संपन्न भी कर डाले। साहित्य की तपस्या में बड़ी शक्ति होती है। उसकी इयत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती है। अपभ्रंशसाहित्य का इस प्रकार जब तक कोश के रूप में संग्रह न होगा तब तक हिंदी एवं अन्य प्रादेशिक भाषाओं के सहस्रों शब्दों की व्युत्पत्ति का उद्धार नहीं हो सकता। एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा—जायसी ने इस चौपाई में 'नाहत', इस महत्वपूर्ण शब्द का सामुद्रिक व्यापारी के रूप में प्रयोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाइत माँझ भँवर हति गीवाँ । सरजैं कहा मंद यह जीवाँ [१] ॥
(पद्मावत ५३७।६)

किया था। किंतु निकृष्ट पाठांतरों की काई में यह चोखा शब्द और उसका अर्थ दोनों बिल्कुल छिप गए। वस्तुतः मध्यकालीन अपभ्रंश साहित्य का यह सुविज्ञात शब्द था जिसका प्रयोग स्वयंभू कृत 'पउम चरिउ' (३१।७।१) एवं धनपाल कृत 'भविस अत्त कहा' (८।१३।१) में भी हुआ है।

४ – अपभ्रंश साहित्य के शब्दों की चर्चा करते हुए हमारा ध्यान उन शब्दों की ओर विशेषरूप से जाता है जो विशुद्ध संस्कृत परंपरा से बाहर लोक जीवन में प्रचलित थे और भाषा के इस स्वाभाविक नियम के अनुसार जो पार्श्वद्वार से संस्कृत में भी बराबर संमिलित किए जाते रहे तथा हेमचंद्र जैसे बाद के कोशकारों ने जिन्हें देश्य भाषा के शब्द या देशी शब्द, इस नाम से व्यवहृत किया। वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के अपने अपने युग में कोई भी समय ऐसा नहीं था जब इस प्रकार के शब्दों का अस्तित्व लोगों की बोलचाल की भाषा में न रहा हो। यदि ऐसे शब्दों को हम पूरी तरह छानना चाहेंगे तो वैदिक भाषा से ही उसका सिलसिला पकड़ना होगा, जैसे मूँज आदि की बनी हुई गोल चकरी या बीड़े के लिये वैदिक भाषा में इड्व (पाठांतर 'इंड्व') शब्द मिलता है जो स्पष्ट ही लोक-भाषा से आया हुआ जान पड़ता है (तुलना कीजिए हिंदी इंडुरी) गाय, बैल, घरेलू साज-सामान, वर्तन, खेती पाती से संबंध रखनेवाले ऐसे कितने ही शब्द सदा से लोक में रहे हैं, जिनका निर्बाध व्यवहार जनता की भाषा में चलता रहता है और वहीं से वे साहित्य में भी घुलमिल जाते हैं। ऐसे सब शब्दों को छानने की इस प्रकार की व्यावहारिक योजना काम में लाई जा सकती है—

अ – वैदिक भाषा, विशेषतः श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र आदि की भाषा में से [illegible] को अलग पहचान कर देखना चाहिए कि हिं[illegible] [illegible] [illegible] रक्षित [illegible] को जहाँ [illegible] गुपाल। [illegible]

आ – लौकिक संस्कृत में ऐसे जितने शब्द आए हैं, उनकी संरलता [illegible] [illegible] कि आर्या [illegible] में देखकर अलग किया जा सकता है और फिर हिंदी के शब्दों शाकुंतल में [illegible] परंपरा का मिलान करना होगा। श्लोक, [illegible]

[illegible] – बौद्ध संस्कृत साहित्य में लोकभाषा के साथ साहित्यिक भाषा का संपर्क बढ़ गया था। उस समय इस तरह के देशी या अपभ्रंश शब्दों के लिये संस्कृत में घुस पैठने का जैसे परवाना ही मिल गया था। 'दिव्यावदान' में 'लेड्डुक' (लड्डू), लर्दयति (लादना), फुट्टिक (रूई, यह शब्द सिंधी भाषा में इस अर्थ में आज तक बचा रह गया है), आदि कितने ही शब्द देहाती स्तर से उठकर साहित्य में आ गए थे। 'महावस्तु', 'सद्धर्मपुंडरीक' आदि

१. सरजा ने कहा—सामुद्रिक व्यापारी को विश्वासपूर्वक बीच समुद्र में ले जाना और उसकी गर्दन मार देना यह नीच जीवों का काम है। यह लोकोक्ति उस समय के चाँचियागीरों या सामुद्री डाकुओं की भाषा से ली गई थी। विशेष के लिये देखिए, पदमावत संजीवनी व्याख्या, पृष्ठ ५७६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रंथों का भी यही हाल है। अभी हाल में बौद्ध संस्कृत का, जिसे देश्य संस्कृत कहा जा सकता है, सर्वांगपूर्ण महाकोश 'ए डिक्शनरी ऑफ हाईब्रिड बुद्धिस्ट संस्कृत' नाम से अमीरकी संस्कृतज्ञ श्री फ्रैंकलिन एजर्टन ने संकलित - संपादित किया है। इसलिये अब यह काम आसान हो गया है कि ऐसे देश्य या अपभ्रंश शब्दों को जो संस्कृत में चल गए थे चट से अलग कर लिया जाय, और उनकी व्युत्पत्ति हिंदी के शब्दों के साथ पहचान कर मिला ली जाय। उदाहरण के लिये हिंदी की बोलियों में 'जवारा' शब्द प्रचलित है। बुंदेलखंडी में मुझे यह शब्द पहली बार सुनने को मिला। अंकुरित जौ से भरे हुए चौड़े मुँह के घड़े को जवारा कहते हैं। दशहरे के अवसर पर जवारे सिर पर रक्खे हुए स्त्रियाँ नाचती गाती उत्सव मनाती हैं। इस शब्द की ठीक व्युत्पत्ति तब तक समझ में न आई थी जब तक एजर्टन के कोश में 'वारक' शब्द मुझे नहीं मिला, जिसका अर्थ मिट्टी का जल आदि रखने का घड़ा है। स्पष्ट ही यववारक जववारक से जवारा (जौ का घड़ा) शब्द व्युत्पन्न हुआ है।

ई – इस तरह के देश्य शब्दों का सबसे बड़ा गुच्छा अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत साहित्य के मूलागम और उनकी टीकाओं में है। इस साहित्य का प्रामाणिक और विस्तृत कोश 'श्री सेठ हरगोविंददास' कृत 'पाइय सद्द महण्णव' है। उसमें से ऐसे सब शब्दों को आसानी से छाना जा सकता है। शब्दों की व्युत्पत्ति की खोज करनेवाला मन बहुत तरंगित होता है। किसी भी शब्द को देखकर चट उसका ध्यान हिंदी भाषा के उससे मिलते - जुलते हुए शब्द पर चला जाता है और तब इस बात की पहचान सरल हो जाती है कि हिंदी के किस शब्द का निकास प्राकृत या अपभ्रंश के किस शब्द से हुआ होगा। उदाहरण के लिये अवधी का 'रिकवच्छ' शब्द है जो व्युत्पत्ति की दृष्टि से बीहड विकट जान पड़ता है। अरवी के पत्तों को महीन कतर कर उड़द की पीठी में लपेट कर घी में तल लेते हैं और फिर उन्हें सूखा या रसेदार छौंक देते हैं। अवध में यह प्रिय भोजन है और उसीके लिये अवधी में 'रिकवच्छ' शब्द प्रचलित है। बिहार तक यह शब्द चलता है। 'पाइअ सद्द महण्णव' की सहायता से [illegible] व्युत्पत्ति मिल सकी रिक (= थोड़ा) पथ्य (= पच्छ - वच्छ)। रिकपथ्य - रिकपच्छ साध[illegible] अर्थ [illegible] प्राकृत शब्दावली से इस प्रकार देश्य शब्दों में [illegible] लिया जाय तो हिंदी के शब्दों की व्युत्पत्तियों के कितने ही खोए हुए [illegible] हाथ लग सकेंगे। [illegible] का शब्दावली भी उपयोगी [illegible]

उ – देशी शब्दों की चर्चा करते हुए हेमचंद्र की 'देशी नाममाला' [illegible] है [illegible] शब्दों के [illegible] और प्राचीन है जो देशी शब्दों का आकरग्रंथ है। उदाहरण के लिये, हेमचंद्र ने धोबी के अर्थ में [illegible] शब्द का उल्लेख किया है (देशी नाममाला ६।१५)। इस शब्द को देखकर हमारा ध्यान धोबी के लिये अवधी में प्रयुक्त 'बरैठा' शब्द की ओर जाता है। ध्वनिशास्त्र के नियमों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये दोनों शब्द एक दूसरे से संबंधित हैं। देशी 'दूणों' शब्द का अर्थ हाथी दिया गया है जिसकी पहचान हिंदी के 'दून की हांकना' इस मुहावरे में की जा सकती है। बनारसी बोली में 'डबुलिया' कुल्हिया या छोटे पुरवे के अर्थ में प्रयुक्त होता है। देशी नाममाला में दहवोली शब्द मिट्टी की हांड़ी या पात्र के लिये प्रयुक्त है। इस प्रकार से हिंदी के जितने भी शब्दों का उद्धार किया जा सके स्वागत के योग्य है।

ऊ - हिंदी के शब्दों की व्युत्पत्ति का अध्ययन करते हुए हमें बहुत बड़ी सहायता मध्यकालीन संस्कृत कोशों से प्राप्त होती है। मेदिनी, वैजयंती, अभिधान चिंतामणि, कल्पद्रुम कोश, शाश्वत कोश, विश्वप्रकाश कोश आदि किसी भी कोश का अध्ययन इस दृष्टि से किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय कि इसके कौन कौन से शब्द और अर्थ किन किन शब्दों से निकले हुए थे एवं कौन से शब्दरूप हिंदी में चालू हैं तो हिंदी कोश के लिये नया जखीरा ही हाथ लगा समझना चाहिए। इस प्रकार के मध्यकालीन संस्कृत कोशों की एक लंबी सूची, जिसमें लगभग सवा दो सौ नाम हैं, महाराष्ट्र शब्दकोश की प्रस्तावना के अंत में दी हुई है। उदाहरण के लिये 'मेदिनी कोश' में 'पाटक' शब्द के कई अर्थों में से एक अर्थ 'मूल द्रव्यापचय' अर्थात् पूंजी का घाटा, यह दिया हुआ है। 'सट्टे बाजार' में चलने वाला हिंदी का 'फाटका' शब्द उसीसे संबंधित है। यह शब्द 'हिंदी शब्दसागर' में आने से रह गया है। उसी शब्दकोश में 'मालु' का अर्थ पत्रलता या 'पत्तों से लदी बेल' दिया गया है। स्पष्ट ही यह वह पहाड़ी बेल है जिसे 'मालो' या 'मालझन' कहते हैं और जो सौ - सौ फुट गहरे खड्डों में से ऊपर उठकर बड़े बड़े पहाड़ी वृक्षों को छा लेती है। 'धम्मपद' में इसे 'मालुवा' कहा गया है। स्थूल वस्तुओं से संबंध रखनेवाले हिंदी शब्दों का एक बड़ा गुच्छा ओषधि - वनस्पति, जड़ी - बूटी, फल - फूल, दवा - दारू आदि के नामों का है। पं० उमेशचंद्र कृत 'वैद्यक शब्दसिंधु', 'शालिग्राम' कृत निघंटु, शिवदत्त कृत 'शिवकोश' में इस विषय की मूल्यवान् सामग्री सुरक्षित है। किंतु वृक्ष-वनस्पति से संबंधित नामों का बड़ा संग्रह वॉट कृत 'डिक्शनरी ऑफ इकनामिक प्रोडक्ट्स' नामक कोश से उपलब्ध हो सकता है। नागरीप्रचारिणी सभा के पास 'रूपनिघंटु' की हस्तलिखित प्रति सुरक्षित हो तो वहाँ से भी सामग्री का संकलन होना चाहिए।

शब्दव्युत्पत्ति की चर्चा करते हुए एक नए क्षेत्र की ओर भी हमारा ध्यान जाता है। हिंदी के कोशकारों को इस बात का लेखाजोखा बैठाना होगा कि अरबी, फारसी, पहलवी, तुर्की और पश्तो, इन पांच भाषाओं की परंपरा से कितने शब्द हिंदी साहित्य और बोलचाल की भाषा में आ गए हैं। इसके लिये स्टाइन गास की बृहत् अरबिक डिक्शनरी और परशियन डिक्शनरी, इन दोनों को खूब बारीकी से छान डालना चाहिए। इसके बाद रेवर्टी की 'पश्तो डिक्शनरी, और 'रेडहाउस' की बड़ी तुर्की डिक्शनरी को अच्छी तरह टटोल कर उनसे जितने हिंदी में प्रचलित शब्द मिल सकें उनका संबंध मूल शब्दों के साथ जोड़कर ठीक [illegible] चाहिए। अरबी, फारसी और तुर्की के शब्दों [illegible] थे, क्योंकि दिल्ली के सिंहासन पर अफगानी [illegible] होगी। उदाहरण के लिये हिंदी का 'झागल' शब्द (पैर [illegible] कि आधा [illegible] से आया हुआ है। तुर्की और पश्तो के शब्द तो एक दम जैसे हिंदी [illegible] साथ घुल मिल जाते हैं। फारसी और अरबी धाराओं से आए हुए शब्दों के [illegible] व्युत्पत्तिशास्त्र की दृष्टि से एक बात का विशेष रूप से ध्यान रखना आवश्यक है कि पारसी के शब्द यद्यपि हिंदी को आधुनिक फारसी भाषा से ही प्राप्त हुए हैं, जिनका परिचय मुसलमानों के आने के बाद हमारे देश में हुआ, पर स्वयं फारसी में वे शब्द पहलवी, प्राचीन ईरानी अथवा अवस्ता भाषा की परंपरा से आए हुए थे। हिंदी के इस प्रकार के शब्दों की व्युत्पत्ति का पूरा पेटा भरने के लिये यह आवश्यक है कि हम उन शब्दों के विकास को खोजते हुए उनके मूल तक पहुँचें। अंग्रेजी, फ्रांसीसी आदि शब्दों की व्युत्पत्ति के लिये भी इसी नियम का पालन किया जाता है। स्कीट आदि की 'एटमेलोजिकल डिक्शनरी' देखें तो अंग्रेजी शब्दों को उनके मूल स्रोत तक ढूँढ़ने का प्रयत्न बराबर मिलेगा। कौन शब्द कहाँ से निकला है, उसे छोर तक जान लेने पर ही उस शब्द की व्युत्पत्ति और इतिहास का पेटा चौचक भरता है। उदाहरण के लिये हिंदी का 'बरफ' शब्द फारसी 'वरफ' से तो है ही, किंतु उससे भी आगे बढ़कर ईरानी वफर और संस्कृत 'वप्र' तक उसकी परंपरा ढूँढ़नी होगी। इस तरह हो सकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि फारसी के बहुत से शब्दों का संबंध मूल संस्कृत के साथ जा मिले। जैसे—'मैखाना' इसमें शराबवाची 'मैं' शब्द फारसी को संस्कृत 'मद्य' की परंपरा से प्राप्त हुआ था। अभी तक फारसी भाषा का भी कोई अच्छा व्युत्पत्तिकोश नहीं बना है। इसकी पूछताछ के लिये ईरान को भी पत्र लिखा था किंतु कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं मिला। ज्ञात होता है कि व्युत्पत्ति के क्षेत्र में जो अवस्था हिंदी आदि भाषाओं की है, वही आरंभिक दशा फारसी और अरबी की भी है।

जो नियम फारसी के शब्दों के लिये कहा गया है वही अरबी शब्दों के लिये भी है। अरबी के हजारों शब्द हिंदी में आकर मिल गए हैं। उदाहरण के लिये दूध के छेने के अर्थ में जायसी ने 'खिरसा', इस अवधी शब्द का प्रयोग किया है जो मिथिला में भी चालू शब्द है। यह अरबी के 'करीस' शब्द से संबंधित है, जिसका ठीक यही अर्थ है। अरबी भाषा प्राचीन सामी या म्लेच्छवंशी भाषाओं के साथ संबंधित है। हिब्रू, खलदी, असीरिया आदि देशों की प्राचीन भाषाओं से अरबी का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। उदाहरण के लिये अरबी का 'करव' शब्द प्राचीन हिब्रू और चाल्डियन 'करय' शब्द से निकला था, जिसका अर्थ चांदी या धन था। हिंदी की बोलियों में वही शब्द इस रूप में चलता है। अतएव अरबी से आए हुए हिंदी शब्दों की व्युत्पत्ति का निर्णय करते समय हमें पहले हिंदी के शब्द से अरबी शब्द का पता लगाना चाहिए और फिर आगे बढ़ते हुए म्लेच्छ वंश की उन भाषाओं के मूल शब्दों तक पहुँचना चाहिए जहाँ से स्वयं अरबी में वे शब्द आए हैं। 'मालमता', इसका 'मता' अरबी से आगे बढ़कर खलदी भाषा का है, जहाँ उसका अर्थ गांव, जिला या देश था। यद्यपि इस प्रकार के अनुसंधान का कार्य कठिन है तो भी वैज्ञानिक दृष्टि से अवश्य करने योग्य है। इसके लिये ऐसे विद्वानों की आवश्यकता होगी जो हिंदी के साथ साथ पहलवी, अरबी आदि प्राचीन भाषाएँ भी जानते हों। इन भाषाओं के जो अच्छे से अच्छे कोश अब तक प्रकाशित हुए हैं वे तो हिंदी के कोशकार के लिये सुलभ होने [illegible] भारतवर्ष में ही कांगा, भरूचा आदि के कई अच्छे पहलवी कोश प्रकाशित हो [illegible] अथ [illegible]-ए-पहलवीक' भी हमारे काम के लिये [illegible] उसका एक अच्छा संस्करण १९१२ में हाइडिल वर्ग से प्रकाशित कराया था। वेस्ट और हौश द्वारा संकलित 'पहलवी' की शब्दावली भी उपयोगी है। 'बार्थोलो माय' कृत प्राचीन ईरानी का कोश तो अपने ढंग का एक ही है [illegible] शब्दों के लिये आकर ग्रंथ है। हिंदी के लिये वह सौभाग्य का दिन होगा जब पहलवी और प्राचीन ईरानी एवं अवस्ता भाषाओं के व्यवस्थित अध्ययन का द्वार हिंदी में उन्मुक्त हो सकेगा। और ऐसा ही अरबी एवं उससे संबंधित सभी भाषाओं के विषय में भी समझना चाहिए।

हिंदी के वृहत प्रामाणिक कोश का कार्य बहु प्रयत्नसाध्य है। उसकी व्यवस्था बराबर चलती रहनी चाहिए। कोशशास्त्र भी और शास्त्रों के समान विकास द्वारा पूर्णता तक पहुँचता है। किंतु यह सत्य है कि अब वह समय आ गया है जब कि हिंदी के महान कोश के स्वरूप का और उसके निर्माण की नाना प्रकार की समस्याओं का चित्र हमारे मन में स्पष्ट हो जाना चाहिए जिससे कि तदनुसार ही कार्य की व्यवस्था और फलसिद्धि प्राप्त की जा सके।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नरहरि महापात्र का सोनेलोहे का झगड़ा

अगरचंद नाहटा

हिंदी साहित्य के विविध रचनाप्रकारों का अध्ययन अभी बहुत ही कम हो पाया है। इन रचनाओं की लंबी परंपरा है, और अन्य भाषाओं में भी उसी शैली एवं संज्ञावाली रचनाएँ प्राप्त हैं, उन सबका व्यापक अध्ययन होना आवश्यक है। समय समय पर इन रचनाप्रकारों में शैली आदि का परिवर्तन होता रहा है। उन सबकी पूरी जानकारी तभी मिल सकेगी, जबकि उनकी परंपरा का और जितनी भी रचनाएँ उन शैलियों और संज्ञावाली मिलती हैं उन सबका विधिवत् संग्रह तथा अध्ययन किया जाय।

राजस्थानी और गुजराती के बहुत से रचनाप्रकारों की परंपरा अपभ्रंश से संबंधित है। उनमें से कुछ संज्ञाओं का अध्ययन गुजरात के विद्वानों ने और मैंने किया है। उनमें से कुछ संज्ञाएँ हिंदी में भी चालू रही हैं। कुछ की परंपरा हिंदी को अधिक मिली है तो बहुत सी संज्ञाएँ राजस्थानी और गुजराती में ही चालू रहीं। हिंदी के क्षेत्र में उनका प्रचार नहीं हो पाया। लोकगीतों और अन्य लोकसाहित्यों से भी कुछ रचनाप्रकार सभी प्रांतीय भाषाओं के साहित्य को मिले हैं।

'वाद, संवाद और झगड़ा' नामक रचनाएँ राजस्थानी और गुजराती में काफी मिलती हैं। उनके संबंध में 'वासंती' के दिसंबर १९५५ के अंक में मेरा एक लेख 'राजस्थानी साहित्य के संवाद ग्रंथ' शीर्षक प्रकाशित हुआ है। हिंदी में ऐसी रचनाएँ हैं, उन[illegible] 'वादु' या 'झगड़उ' ज्यादा प्रयुक्त है। वैसे विवा[illegible] अधिकांश छोटी छोटी हैं। इनमें दो पात्रों [illegible] दिखाया गया है। अधिकांश पात्र कल्पित तथा रूपक के रूप में कविकल्पना से खड़े किए गए हैं। मुझे १४वीं शताब्दी की एक रचना 'कृपण नारी संवाद' जैन - संग्रह - प्रतियों में मिली है। उसके बाद १६वीं से १९वीं शताब्दि तक राजस्थानी तथा गुजराती में तो संवादसंज्ञक रचनाओं की परंपरा बराबर चालू रही। हिंदी संवादों के संबंध में स्वतंत्र अनुसंधान अभी नहीं हुआ है, पर १७वीं शताब्दि से १९वीं तक की कई रचनाएँ मेरी जानकारी में है। इनमें कवि नरहरि महापात्र के 'लोह सोने का झगड़ा', 'तेल तंबोल का वादु', 'मंगनदानी का वादु', 'वादु नैन कान का', 'लज्जा और भूख का' हैं–इनका स्थान हिंदी के वादु या झगड़ा संबंधी रचनाओं में सर्वप्रथम है। ये सब 'अकबरी दरबार के हिंदी कवि' ग्रंथ में छप चुके है। पर नागरीप्रचारिणी सभा की जिस प्रति के आधार से छपे हैं, कुछ तो वह रचनाकाल के बहुत पीछे की लिखी हुई है और कुछ पदच्छेद आदि ठीक नहीं हो पाया है। प्रकाशित पाठ में रचना की मूल भाषा भी सुरक्षित नहीं रह पाई है। मुझे इनमें से यह पहला वादु 'लोहे और सोने का वादु' अनूप संस्कृत लाइब्रेरी के राजस्थानी विभाग के गुटका सं० ९९ में लिखा मिला। यह गुटका सं० १६१७ से १६३३ का लिखित है। अतः कवि नरहरि के समकालीन ही लिखा होना चाहिए। इस वादु के पद्यों में कवि का नाम 'नरहरि' मिलता है, पर इस प्रति के लेखक ने रचना का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम 'वादु' न देकर 'लोह सोने रौ झगड़उ' और रचयिता का नाम भगवान महापात्र लिखा है। इसकी भाषा प्रकाशित पाठ से पुरानी है और पाठ भी शुद्ध है। इसलिये यहाँ उस वादु-पाठ को प्रकाशित किया जा रहा है। भाषा के साधारण परिवर्तन वाले पाठ भेदों को छोड़कर अब पाठांतर प्रकाशित संस्करण से लेकर यहाँ टिप्पणी में दिए गए हैं, उनकी संख्या भी काफी है। प्रकाशित संस्करण के ११वें पद्य में एक पंक्ति त्रुटित है, जो इस हस्तलिखित प्रति में प्राप्त हो गई है। प्रकाशित पद्यों में से पहले का दोहा मुझे प्राप्त हस्तलिखित प्रति में नहीं है। और पद्यांक ९ और १० पहले पीछे दिए हुए हैं।

कवि नरहरि ने यह 'झगड़ा' असलेमशाह (इस्लाम साह नूर) की आज्ञा से रचा है जिसका समय ई० १५४५ का है। अतः १६वीं शताब्दि के अंत की एक हिंदी रचना अपने मूल रूप में प्राप्त होने से विशेष महत्व की है। कवि नरहरि ब्रह्मभट्ट थे।

अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में १७वीं शती की रूप गुण संवाद (पद्य ६४) आदि हिंदी की वादु रचनाएँ प्राप्त है।

हिंदी के कुछ अन्य संवाद, वाद, झगड़ा, विवाद संज्ञक रचनाएँ जयपुर के दिगंबर जैन भंडारों में प्राप्त हुई हैं। उनके नाम इस प्रकार है, मन ज्ञान संग्राम, ज्ञाता कामी का विवाद, आम नीम का झगड़ा, जीवकर्म संवाद, भरत बाहु बलि संवाद, केसी गौतम संवाद, सुमति कुमति का झगड़ा, सुमति कुमति जखड़ी.। इनमें से कुछ संभव है, राजस्थानी के भी हों। हमारे संग्रह में कविवर समय सुंदर के दानादि संवाद शतक का हिंदी पद्यानुवाद कृष्णदास कवि रचित 'दान शील तप भावना का रासा' के नाम से है। वह सं० १६६९ माह सुदी में रचा गया हमारे संग्रह में है। १८वीं शती के कवि भगवतीदास पंचेद्रिय संवाद प्रकाशित ही है। अभी हिंदी के अन्य ऐसे संवाद और भी बहुत से मिलेंगे जिनकी खोज करके विस्तृत [illegible] किया जाना अपेक्षित है।

साथ... [illegible] को [illegible] अर्थ [illegible]धिक प्रकाश में लाना आवश्यक है। जहाँ तक में [illegible] प्राप्त कर प्राचीन एवं मूल पाठ का निर्णय किया जाना चाहिए। छोटी छोटी एवं फुटकर रचनाएँ तो अभी बहुत ही उपेक्षित हैं। वास्तव में उन्हींके द्वारा साहित्य की विविधता और लोक रुचि की भिन्नता का सटीक परिचय मिल सकता है। बड़े बड़े ग्रंथ तो फिर भी सुरक्षित रहेंगे, पर ये छोटी छोटी रचनाएँ तो बहुत जल्दी नष्ट हो जाने वाली हैं। अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में अनेक अज्ञात कवियों और प्रसिद्ध कवियों की अज्ञात रचनाओं का बहुत बड़ा संग्रह है। उनके प्रकाशन के द्वारा बहुत सी नवीन जानकारी मिलेगी।

॥ अथ सोनै नै लोहरउ झगडउ ॥

इक समय मन मुदित। उदित हुइ[1] पुरिष बुद्धि वर।
इक कंचनु अरु लोह। रूप्य[2] रिझ्झति अमर नर॥

तरुनि तेज जगमगहि। वेष सज्जहिं विचित्र तह।
गब्बिय[3] गुन गुनि कंहहि। जुगति[4] झगरहि अप्प मह॥
बहु विधि विनोद बढ्यौ वहुइ जु[5] कहि नरहरि निरषति नयन।
पति लग्गि परस्पर प्रगट हुइ। जुगति उकति बुल्लै बयन॥ १॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ लोह वचन

लोह तमकि तव कहै। कनक सुनि सुनिहि बुझ्झि मनु।
मुहि सम्महि[6] सव डरहि। अमर नर नाग लोक गनु॥
कह न दुख्खु[7] तुहि परयौ। कह दुरि मुरि भय भज्यौ।
कह न पैगु परिहरयौ। नृपति नागर[8] तिन तज्यौ॥
फुल्लैहि[9] जु मुद्ध तुव रंग रस। तिनकैं अंनहि उव्वरहि।
पछिताहि बहुरि कर मिंडि[10] करि। धन मदंध[11] कत झग्गरहि॥ २॥

अथ कनक वचन

चपल हुइ सु झग्गरइ मुहि बगुरि गिनइ तिन्नि पुरु।
प्रान तैं प्रिय[12] निज कहहि, चहइहि नर नृपति अत्थि सुरु॥
गुन सरूप रस[13] रंग संग सुभ करम धरम तइ।
सोइ सव विधि सरहि[14] यह रहौं रमि रमनि[15] रच्चि जह॥
सुनि मुद्ध लोह लंगर निलज हउं[16] अपुव्व उत्तम वरन।
रह द्वार[17] दूरि कज्ज लगि सु गव्व[18] छंडि चितहु चरन॥ ३॥

अथ लोह वाक्यं

हउं अपुवर[19] तुहि गहउं सरनि रखौं त रयखि दिनु।
भंजन धरन[20] समंथु न कोइ सरहियइ[21] सार विनु॥
तूं होहि जाहि दिन पंच करहि[22] दुखु सुनुत सुद्ध मति।
जिहि छडउं सोइ[23] स्यारु जिहिव थप्पौ[24] सु छत्र पति॥
इमि कहै लोहु कंचन सुनहि जु करौं[25] अवनि उद्यत भवन।
सरहियै[26] न अप्पु नरहरि निरखि सुमुहि सनमुख बुल्लै कवनु॥ ४॥

सोना वचन

हौं सव विधि सुभ करन हरज[illegible]हिवइ [illegible]ला॥ [illegible]रस्थि[illegible]
जाति जीव धनु ध्रम्म करौं [illegible]को[illegible] जुहौं [illegible] गुपाल। ॥ [illegible]
मोहि विछुरति वन वस्यौ सूर पंडित जि पंड सुत।
तव[29] उद्दिम किनु कियौ कहहु[30] तम तिन्हकैं हथ्थि हुत॥
सोभन[31] सुवन्न निज नाव मोहि लोह न सरभरि[32] किज्जियै।
[33]कहि कनक लोह नरहरि निरखि मुहि कारन सब दिज्जियै॥५॥

लोह वचनं

लोह कहइ सुनि कनक वचन पंडव जु गया[34] वन।
मुहि न समय संभरि[35] न भभरि भज्जित दुरजोधन[36]॥
[37]गुन विहूँन रघुपत्ति हौं जुहथह अरि दावन।
गुन सरूप किनि[38] कियौ रह्यौ रख्यौ किनि रावन॥
लघु जन[39]हि दैवं जयपत्तु इठि जु कहि कुट्टि तुहि विस्तरौं।
इह[40] भरम सहित[41] इहु धरिनि तरि मु हौं समत्थु कहु कित डरौं॥ ६॥

अथ सोवन वचनं

तुव भरोस जिहि ठयौं वु गयौ वु रावन दुरजोधनु।
मुहि न समय संभरन[42] नस्यौ पौरुष गनंत गन॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हउं जु तेजु हरि अंसु[43] निमुखु परिहरयौ पत्थु[44] जव।
गोपि रक्खि नहिं सक्यौं हुतौ[45] हु अरजुनु कै हत्थ तव॥
गरु वत्तु दत्तु वल[46] बुद्धि गुनु जु हउं जह जंह तंह[47] सब्ब रस।
कहै कनक लोह दिखहिं प्रगट सुधन[48] विन पुरुप पतंग जसु॥ ७॥

मइ हरिचंद नृपु दहयु[49] दियौ पुनि प्रकट उच्च पदु।
दुख दलिद्र[50] जरु विषसु हरन कहु हुँ जु प्रसिद्ध गदु[51]॥
मुहि लगि भौ भारत्थु रहयु निरदोष सुद्ध तव[52]।
तुव करतव[53] दुज स्राप गयौ[54] जादव समूल सव॥
उपजइं हि तू[55] जिहि ते भजहि छिनहि जु कृत निंदक रहु लज्जि मन।
[56]त्यौं हु लोक मंझ सनमानियौ मुहौं अनिंदु मुहि निंदु[57] जनु॥ ८॥

जउकरि वर सतु रह्यौ ततउ हरिचंद जसु[58] लघ्यौ।
तूं व मदंध जहु प्रवलु तिमैं[59] तिन वर सव दघ्यौ॥
गढि पखांन खिति[60] खनौं दुहुकइ जरस कज लोक[61] हितु।
[62]मै न न्याइ पथु तजउं कोइ जु कुछु कहइ अप्प चितु॥
मद मोह छोह[63] अविवेक तह जिहि तउं[64] कनिक अप्पन कह्यौ[65]।
कृतुधन सु कहिय नरहरि निरखि जु[66] काहू कै संगि नहिं निबह्यौ॥ ९॥

मोहि जु दृढ़[67] करि ग्रहै तुहिव तृण गणइं चित्त मह।
तौहि कलपु[68] दुखव दैंव सुख सुजसु मित्त कह॥
मोहि[69] रच्चै सोइ सुहरु तुहिज रच्चै सु कृपण भणि।
तुहि[70] ज छंडै सु गरिष्ट[71] मोहि जु छंडै सु तुच्छ गणि॥
तोहि मोहि जु करइं अंतर अवनि सु वूझि संसौ भनक।
हँ अज जूं लोह रखौं भरम सुवादिव[70] कत बोलत कनक॥ १०॥

[illegible] हान[73] लघु लैंव मोलि तोहि।
कुकजु कज्जु करि सज्जु[74] नंच नंचहि संतोष मोहि॥
तुजाहि[75] कंठ पग परहि ताहि[76] वहु विपति दुक्ख धन[77]।
हौं सिंगार रसु[78] रवनि रुचित पहिरहि तरुनि तन[79]॥
सेवक जु स्वामि कउं[80] निदरहि सुइ मित कनक तव[81] उच्चरीय।
खर[82] खोटत मैं तैं जांनियैं जु दहन दिव्व[83] निक्करिय॥ ११॥

तहाँ[84] मंदिव्व अनुसरिय जहाँ सख्खी नहीं कोइ।
प्रकट सूर[85] मनि साहि सबल संपत्ति समत्थ सोइ॥
[86]चलु जइयै सुनि कट्ट तांइ वहु वीर धीर जह।
विधि ... ... देखि रहुरीझि[87] अप्प मह॥
यह[88] सरति सार कंचन सुनहि कहि नरहरि जगु जस भरिय।
फुरमान साहि इंसलेम् कौ होइ सु सिर पर सव धरिय॥ १२॥

॥ इति भगवान महापात कृतं लोह सोवन रौ झगडउ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठभेद

अकबरी दरबार के हिंदीकवि (डा० सर्यूप्रसाद अग्रवाल, लखनऊ विश्वविद्यालय से सं० २००७ में प्रकाशित) के परिशिष्ट पृ० ३०६ में 'वादु' नाम से प्रकाशित सोने और लोहे के झगड़े के पाठ भेद नीचे दिए जाते हैं।

प्रारंभ का यह दोहा अधिक है—

प्रथम जंपि जगदीश कहँ, करउं कवित रचिनेमु।
जस निर्मल थिर चिर जिवे, छत्रपति साहि सलेमु॥ १॥

१. हौं, २. नृप, ३. गव्विय, ४. झुकित, ५. सो, ६. वसु, ७. दुरख, ८. नगर, ९. मुल्लहिते मुहर सरग मह, तिनकै संश नहीं उवरहिं। १०. मीडवै सो, ११. मथै दध, १२. प्रियानि जु, १३. रति, १४. रहि, १५. रवनि संघ मह, १६. होन, १७. छार, १८. गंग, १९. अपुबल २०. गढ़न, २१. औ सार, २२. कर हिंदुपु २३. स्वै, २४. आउ, २५. कनौं, २६. रहु भरम भंजु, २७. कनौं, २८. अप्पुबल, २९. कहु, ३० तब जो तुम, ३१. सो मन, ३२. सखिरी, ३३. सरहिन अपुन, ३४. गहेउ, ३५. सभौ, ३६. जिरजोजन, ३७. तोहि विठ्ठवर धुपति, ३८. जे कहैं उर हैं डरख्वेहु, ३९. तेहि न देउ, ४०. रहु, ४१. मांझि तेहि ४२. संभरेइ सेइ, ४३. अस, ४४. पार्थ, ४५. अनुजन, ४६, वर, ४७. तहं कहं, ४८. सो बिन धरम, ४९. लियेउ, ५०. दरिद्र सरव मध्य, ५१. जदु, ५२. नव, ५३. करतर, ५४. गयेउ जदुवंस मूह सव, ५५. जेहि तेहि खनहि कृतनि निदरहु, ५६. कहि कनक लोह मुख जिम्म रस, ५७. निदरहि, ५८. सुप सिएउ, ५९. सकल मैत्रिन उट्ठेड, ६०. छिति खान, ६१. लोह, ६२. हौं अन्यत्र पुन जड व कुछ कहइ चितै। ६३. लोसु, ६४. तूं ६५. कियेउ, ६६. केहि कै संघ न निरवहू, ६७. जो सुदृढ़ करि गहइ तेहि वनिज चहउं, ६८. तैं देहि कलुष दुख देइ मैं त, ६९. जोड़िये सो सूर तोहिं रख्खैं, ७०. तोहि, ७१. समरत्थु, ७२. हौं अजहु लोह रख्खउ सरन सो वादि वकत बोलहिं, ७३. लहइ लघु मोल लेइ ... सहित विनय संतोषि नवहिं मोहि, ७५. ... रस्थि... ... जहँ ... गुपाल। ... मोहिब, ७९. पन, ८० कहं निदरइ अनप, ८१. ... ८३. दुख्ख दै निव करै, ८४. डाह न दुख तह कहिय जहँ न साहिबु न साहिबै, ८५. स्वै मन सूर सकल संपति समत्थ स्वै, ८६. चलहिन्याअ तिह निकट विविध वर, ८७. विधि दिसेउ जय पतु रिमिझ रहै रहे देखि अपुमह। ८८. कस पंथ स्तर कंचन उचित, ८९. असलेम की होइ हुकम सो सिर धरिअ।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विमर्श

'नवकर वाली मणिअड़ा' पद्य का वास्तविक अर्थ

नागरीप्रचारिणी पत्रिका के गत अंक (वर्ष ६२ अंक २–३ में 'विमर्श' विभाग के अंतर्गत और 'समीक्षा' के अंतर्गत माननीय डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने 'पुरातन प्रबंधसंग्रह' में प्रकाशित झगडूशाह संबंधी निम्नोक्त पद्य का अर्थ डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी के ध्यान आकर्षित करने पर इस प्रकार दिया है—

"नवकरवाली मणिअडा तिहिं अग्गला चियारि।
दानसाल जगडूतणी कित्ती कलिहि मझारि॥

दोहे में झगडूशाह की दानशीलता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि झगडू की दानशाला की कीर्ति कलियुग में प्रसिद्ध है। इसमें 'नवकरवाली मणिअड़ा, तिहिं अग्गला चियारि' पंक्ति अस्पष्ट थी। उसमें नवकरवाली, मणिअडा, अग्गला, चियारि ये चार शब्द ध्यान देने योग्य हैं।" इनका स्पष्टीकरण करते हुए अग्रवाल जी ने निम्नोक्त अर्थ किया है—"नवकरवाली मणिअडा = नमोकार मंत्र जपने की मणियों की माला। अग्गला = अर्गला, ब्योडा। चयारि = खोलकर (अवधी—चियारना, खोलना) प्रबंध संग्रह के दोहे का अर्थ इस प्रकार होगा—कलियुग में झगडूशाह की दानशाला की कीर्ति प्रसिद्ध है। वे अपनी [illegible] की माला दान में देकर उसकी अर्गला खोलते हैं, अर्थात् हाथ की मणिमाला के दान साथ [illegible] के [illegible] अर्थ में नहीं [illegible]।

[illegible] मणिअड़ा' इसमें नवकरवाली मणिअड़ा का अर्थ तो अग्रवाल जी ने ठीक किया है, पर 'अग्गला' और 'चयारि' इन दो शब्दों के जो अर्थ लगाए हैं उनकी यहाँ कोई संगति नहीं बैठती। वास्तव में अर्थ सीधा है कि अग्गला = आगे के और 'चियारि' का अर्थ है चार। समुच्चय रूप में अर्थ हुआ कि नवकर वाली के मणिए १०८ होते हैं और उसमें आगे चार और जोड़ दिए जाएँ तो संख्या ११२ की हो जाती है। झगडूशाह ने ११२ दानशालाएँ खोलकर कलियुग में अपनी कीर्ति स्थापित की।

इस अर्थ की पुष्टि सर्वानंद सूरि रचित 'झगडू चरित महाकाव्य' से भली भाँति हो जाती है। उस काव्य के सातवें सर्ग का १२९ वाँ श्लोक इस प्रकार है—

"द्वादशाभ्यधिकं दानं-शाला शत मुदारधीः।
जगडूः सुकृताधारो, जगज्जीवातुरतनोत् ॥

'अग्गला' का वर्तमान रूप 'आगल' इसी रूप में गुजराती में प्रचलित है। और 'चार' के लिए 'चियारि' भी प्राचीन राजस्थानी में सर्वत्र व्यवहृत है।

—श्रीअगरचंद नाहटा

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरनुनासिक न और म

•

संस्कृत वर्णमाला में ङ, ञ, ण, न और म सानुनासिक वर्ण माने गए हैं और उसमें सर्वत्र इनका उच्चारण अनुनासिक होता है। हिंदी वर्णमाला में भी ये पाँचो वर्ण अनुनासिक माने जाते हैं परंतु बोलचाल में अनेक शब्दों में न तथा म का (और कभी कभी ण का भी) उच्चारण निरनुनासिक होता है। हिंदी के वैयाकरणों ने अभी तक इस ओर ध्यान नहीं दिया है। परंतु यह विषय ध्यान देने योग्य है और विद्वानों को इसपर विचार करना चाहिए। प्रस्तुत लेख में हिंदी के वैयाकरणों का ध्यान इस महत्वपूर्ण विषय की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया गया है जिससे वे इस संबंध में नियम बनावें कि कहाँ कहाँ सानुनासिक वर्णों के भी निरनुनासिक उच्चारण होते हैं।

म का निरनुनासिक उच्चारण होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि माँ लिखने में केवल 'मा' पर्याप्त नहीं माना जाता वरन् उसके ऊपर अर्धचंद्र देने की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार घरमें, आपस में, हमें इत्यादि लिखने में 'म' के ऊपर बिंदु या अर्धचंद्र लिखा जाता है। यदि इनका उच्चारण सानुनासिक होता तो अनुस्वार या अर्धचंद्र की आवश्यकता न पड़ती। इसी प्रकार माँद, माँग, माँजना, माँझा इत्यादि लिखे जाते हैं। 'न' पर अभी तक बिंदु या अर्धचंद्र लगाने की परिपाटी आरंभ नहीं हुई है, केवल 'नाद' को कुछ लोग नाँद भी लिखते हैं, और उच्चारण भी करते हैं। संस्कृत नाद (स्वर) का उच्चारण हिंदी में निरनुनासिक होता है ।

नीचे हम कुछ शब्दों की सूची दे रहे हैं [illegible] परिस्थि[illegible] जहाँ [illegible] निरनुनासिक उच्चारण होते हैं —

सानुनासिक न	निरनुनासिक न	सानुनासिक म	निरनुनासिक म
नाम	नग	प्रमाण	माला, माली
नट	नट (अंग्रेजी)		
अनेक	नागर	माथ	मालती
नाप			हमारा
नख	नद, नदी	अभिमान	मारना
नस			मारीच
नाच	नाला, नाली	दमा	मार्ग
कनक	नालायक	विमान	मायका
नत	नर, नारी	क्षमा	मादक
अनुचर			मलमल
नथ	नाद (स्वर)	तम	मलाई
नाक	नाव		माया
कान	नया	मन	मोह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समान	नजर		मुकुट
धनवान	नव	माता	
भगवान	अनाज		मेल
नाश	नाई	मास	मैला
नहाना	सुनाई	माप	मोल
अनुवाद	धुनाई	माप	मोर
	बुनाई	मौसी	

अब यदि इस बात पर विचार किया जाय कि कहाँ कहाँ न और म निरनुनासिक हो जाते हैं, और कहाँ कहाँ सानुनासिक ही रहते हैं तो कुछ सामान्य नियम ज्ञात होते हैं।

(१) पदांत का न या म सर्वदा सानुनासिक रहता है। जैसे कान, भगवान, मचान, अजान, उठान, पान, दमा, क्षमा, तम, आगम इत्यादि।

(२) सानुनासिक व्यंजनों के साथ न और म सानुनासिक ही रहते हैं। जैसे समान, नाम, प्रमाण, प्रणाम इत्यादि।

(३) यदि आगे या पीछे व्यवधान सहित भी सानुनासिक हों तो भी न और म सानुनासिक होते हैं। जैसे धनवान, नहाना, महिमा, मनमोहन, नमन, नयन इत्यादि।

(४) अंतस्थ वर्णों के पूर्व न, म प्रायः निरनुनासिक हो जाते हैं। जैसे नायक, नर-नारी, नल-नील, नाव, मायका, मारना, माला, माली, अमावस्या, मेवा इत्यादि।

(५) ऊष्म वर्णों के पूर्व न और म प्रायः सानुनासिक होते हैं। जैसे नाश, नस, नष्ट, तमाशा माष, मास इत्यादि।

(६) परंतु ऊष्म वर्णों में ह के साथ न और म दोनों प्रायः निरनुनासिक उच्चरित होते [illegible] नहर, महल, नहला, महाराज, महत्व, नहुष इत्यादि। साथ [illegible] में [illegible] अथवा पूर्व न और म प्रायः सानुनासिक होते हैं। जैसे नाक, नख नाच, नट, नाता, नथ, नाप, मकोय, मख, मचा, मछली, मटर, मठरी, मन, माथ, माफ इत्यादि।

इसी प्रकार ण का उच्चारण भी बहुत से लोग ठीक सानुनासिक मूर्धन्य की भाँति नहीं करते। यद्यपि अन्य अनुनासिकों के साथ ण का उच्चारण सानुनासिक होता है, जैसे प्रणाम, परिणाम, गणना इत्यादि फिर भी अधिकतर ण के पूर्व का वर्ण भी सानुनासिक हो जाता है जैसे प्रण, प्रणत, रणजीत, गणपति इत्यादि के उच्चारण अधिकतर लोग प्रँण, प्रँणत, रँणजीत, गँणपति इत्यादि के समान करते हैं। कभी कभी ण की अनुनासिकता अपने पूर्व के वर्ण में पूर्णतः चली जाती है और ण स्वयं निरनुनासिक हो जाता है। जैसे गणेश, कणाद, बाणासुर, रणक्षेत्र आदि के उच्चारण क्रमशः गँड़ेश, कँणाद, बाँड़ासुर और रँणक्षेत्र के समान होते हैं।

—रमापति शुक्ल

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च य न

सादृश्य और साधर्म्य

वी० एम० कुलकर्णी

•

[प्रस्तुत अंगरेजी निबंध 'साधर्म्य एंड सादृश्य' जर्नल आफ द युनिवर्सिटी आफ बांबे, सितंबर १९५७, खंड छब्बीस, भाग २ (आर्ट्स नंबर ३२) में प्रकाशित हुआ है। इसका हिंदी अनुवाद यहाँ प्रस्तुत है।]

अर्थालंकारों में वे मुख्य है जो समानता पर आधारित हैं। इनमें उपमा की विशेष मुख्यता है क्योंकि यही उनके मूल में है। स्वभावतः इसके उदाहरण कालिदास जैसे महाकवियों की रचनाओं में बिखरे हुए हैं। आलंकारिक अर्थालंकारों का विवेचन उपमा से ही आरंभ करते हैं।

यदि हम आलंकारिकों की उपमा - परिभाषाओं की तुलना करें तो हम देखेंगे कि इस अलंकार में निहित 'सामानता' की अभिव्यक्ति के लिये कुछ सादृश्य, अन्य साधर्म्य तथा और भी दूसरे साम्य शब्द का व्यवहार करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि आलंकारिक इन तीनों शब्दों—सादृश्य, साधर्म्य और साम्य को पार्यायवाची मानते हैं। सादृश्य, साम्य तथा साधर्म्य शब्दों के संबंध में यदि उनके मन में कोई अंतर की भावना होती तो वृत्तियों में उन्होंने इसके संबंध में कुछ संकेत, आभास मात्र ही सही, अवश्य किया होता।

सादृश्य और साधर्म्य के बीच ऐसे किसी अंतर [illegible] प्राची[illegible] [illegible]रस्थि[illegible] हाल में दो विद्वानों ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन कि[illegible] [illegible] है—और पर्यायवाची नहीं। उन्होंने इस सिद्धांत का उत्थापन मम्मट की उपमा की परिभाषा पर टीका करते हुए किया हैं। सादृश्य और साधर्म्य के संबंध में विभिन्न मतों की उपस्थिति तथा परीक्षण इस निबंध का उद्देश्य है, और यह देखना भी कि इनमें किसका ग्रहण मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में किया हैं। ये विभिन्न मत इस प्रकार हैं—

१ – साधर्म्य और सादृश्य में विभेद का सिद्धांत—चंदोरकर का कथन है—"साधर्म्य का अर्थ है साधारण संबंध" न कि सादृश्य। क्योंकि वैयाकरणों के अनुसार समस्तपद सधर्म में जुड़ा अंत्य वर्ण य किसी समानधर्म का संबंध अन्य वस्तु या वस्तुओं के समानधर्म को बताता है···अतः समान धर्म और समानधर्मी वस्तुओं का संबंध सादृश्य नहीं हो सकता, क्योंकि सादृश्य दो समानधर्मी वस्तुओं में होता है—एक ओर समान धर्म; और दूसरी ओर समान धर्म वाली वस्तुओं में नहीं।"

मम्मट के वाक्यों की व्याख्या झलकीकर यों करते हैं—"**समानः एकः तुल्यो वा धर्मो गुण क्रियादि रूपो ययोः (अर्थादुपमानोपमेययोः) तौ सधर्माणौ तयोर्भावः साधर्म्यम्—उपमानोपमेययोः समानेन धर्मेण सह संबंध इत्यर्थः।···स एव संबंध उपमा···।**"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समान धर्मेण (मंमट की वृति से) पर टीका करते हुए उनका संकेत है कि "सहयुक्तेऽप्रधाने" (२।३।१९) इति पाणिनिसूत्रेण तृतीयेयम्।" उन्होंने साधर्म्य और सादृश्य का भेद यों बताया है—**एवं च यः साधारणधर्मप्रतियोगिकः उपमानोपमेयोभयानुयोगिकः संबन्धः स साधर्म्यमित्युच्यते यश्च उपमा न प्रतियोगिकः उपमेयानुयोगिकः संबंधः स सादृश्यमित्युच्यते इति साधर्म्यसादृश्ययोर्भेदः।**

साधर्म्य और सादृश्य के बीच यह विभेद इस रूप में रखा जा सकता है—

साधर्म्य		सादृश्य	
प्रतियोगी	अनुयोगी	प्रतियोगी	अनुयोगी
(साधारण धर्म)	(१) उपमान (यथा कमल)	(उपमान)	उपमेय
		यथा	यथा
यथा सौंदर्य	(२) उपमेय (यथा सुख)	(कमल)	(सुख)

इस प्रकार इस मत से साधारण धर्म, साधर्म्य (=साधारणधर्म संबंध) और सादृश्य एक दूसरे से पृथक है।

२ – अब इस संबंध में आलंकारिकों का परंपरागत मत इस प्रकार कहा जा सकता है—

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आलंकारिक साम्य, सादृश्य, साधर्म्य (औपम्य, तुल्यता आदि) शब्दों को पर्यायवाची मानते हैं। सादृश्य की बात उस धर्म (गुण, तत्व) के कारण उठती है जो उपमान और उपमेय दोनों में समान होता है। वे मंमट के शब्दों—**'उपमानोपमेययोरेव…साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण संबंध उपमा।** को इस अर्थ में ग्रहण करते हैं कि उपमा (केवल) वह संबंध है जो उपमान और उपमेय के बीच उपस्थित रहता है और किसी एक तत्व से उद्भूत होता है—दोनों के समान गुण से। **"समान धर्मेण"** में हेतु को वे 'कारण'—जिसके द्वारा—'माध्यम' के अर्थ में लेते हैं, न कि 'सहार्थ' के साथ… [illegible] यही कारण है कि कुछ लेखक धर्मतः सादृश्यम् या समयम् जैसे पदों में … [illegible] … अर्थ …

ये आलंकारिक उपमान और उपेय को क्रमशः 'सादृश्य रूप संबंध' के प्रतियोगी और अनुयोगी के रूप में ग्रहण करते हैं—जिनकी उत्पत्ति दोनों में उपस्थित समान तत्व से होती है। इस मत को इस रूपरेखा में रख सकते हैं—

सादृश्य	
प्रतियोगी	अनुयोगी
उपमान	उपमेय

संक्षेप में, आलंकारिकों का मत है कि सादृश्य, साधर्म्य, साम्य शब्द पर्यायवाची हैं और यह कि सादृश्य (=साधर्म्य) तथा समान धर्म के बीच प्रयोज्य प्रयोजक का संबंध है।

३ – अब इस विषय में एक अन्य मत और है, नव्य नैयायिकों का। वे कहते हैं कि सादृश्य पदार्थांतर नहीं है बल्कि सादृश्य और साधर्म्य एक ही है और यह सादृश्य साधर्म्य साधारण धर्मरूप है।

वे सादृश्य की व्याख्या यों करते हैं—

"सादृश्यम् तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वरूपम्" अर्थात उपमेय में उन अनेक धर्मों की उपस्थिति जो समान रूप से उपमान में हों जब उपमेय उपमान से पृथक हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरणार्थ, 'मुख चंद्रमा के समान है', यह वाक्य लें—यहाँ (उपमेय=) मुख में ऐसे धर्मों की उपस्थिति है जैसे आह्लादकत्व आदि, जो उपमान (=चंद्रमा) के आह्लादकत्व आदि के समान हों, यहाँ उपमान (=चंद्रमा) स्वयं ही सादृश्य होगा।

उपर्युक्त व्याख्या में धर्मत्व शब्द का अर्थ धर्म ही है (न कि धर्मसंबंध)। और यदि वह धर्म 'गुण' या 'क्रिया' हो, तो उसे क्रमशः 'पदार्थ' 'गुण' या क्रिया (=कर्म) में अंतर्भूत करना होगा। इस प्रकार उनके पदार्थसप्तक के सिद्धांत पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

एक शब्द में उनका मत है कि सादृश्य, साम्य, साधर्म्य – साधारण धर्म के साथ – एक ही है।

इस मत के 'नव्य' होने के कारण, प्राच्य आलंकारिक इससे स्वभावतः अनभिज्ञ थे। जगन्नाथ ने बाद का होने के कारण, इस मत पर ध्यान दिया और प्राचीन आलंकारिकों तथा नव्यनैयायिकों के मतों के सामंजस्य में उपमा के शब्दबोध को रखा। तुल्ययोगिता के अंतर्गत उसने प्राचीन आलंकारिकों के मत के प्रति आस्था का संकेत किया है।

व्यावहारिक दृष्टि से व्याकरणात्मक दृष्टियों से परे, नव्यनैयायिकों का यह मत अत्यंत सचोट एवं तार्किक होने पर भी ग्राह्य नहीं हो सकता। यदि कोई कहे **'अनेनायं सदृशः।'** तो मन में प्रश्न उठता है—**'केन धर्मेण अनयोः सादृश्यम्।'** और हम यह कभी नहीं पूछते—**'को धर्मोऽनयोः सादृश्यम्।'** अतः आलंकारिकों के मत से यह मानना सर्वथा उचित है कि समान धर्म से भिन्न सादृश्य एक पदार्थांतर है और यह कि इन दोनों में प्रयोज्य प्रयोजक संबंध है)। आधुनिक व्याख्याकार भी, जैसा कि हमने देखा, मानते हैं कि (समान धर्म से भिन्न) सादृश्य एक पदार्थांतर ही है। परंतु इसके आगे वे यह भी मानते हैं कि साधर्म्य और सादृश्य पदार्थांतर है, और उन दोनों में प्रयोज्य प्रयोजक का संबंध है।

यहाँ उपस्थित अधिक प्रामाणिक और पुष्ट तर्कों के आधार पर आधुनिक विद्वानों के इस मत को भी अग्राह्य करना होगा—

१ – कालक्रमानुसार देखें तो साधर्म्य और [illegible] बाद में उत्पन्न हुआ और प्राच्य आलंकारिक ऐसे किसी अंतर से परिचित न थे, यह उनके द्वारा पर्याय रूप में प्रयुक्त सादृश्य, साम्य और साधर्म्य शब्दों से स्पष्ट है। सर्वप्रथम उद्भट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों—भरत, भामह और दंडी के द्वारा प्रयुक्त सादृश्य शब्द के बदले साधर्म्य शब्द का प्रयोग किया। यदि उसके मन में 'अनुमानित' भेद की कल्पना होती तो उसने अवश्य इसका उल्लेख अपनी वृत्ति में किया होता। उद्भट के इस शब्द को ग्रहण करते हुए मम्मट तक ने ऐसे किसी भेद की ओर संकेत नहीं किया। विपरीत इसके वह साधर्म्य, साम्य, सादृश्य शब्दों का व्यवहार पर्यायरूप में ही करता है। मम्मट के परवर्ती तो कम से कम उपमा की व्याख्या करते समय साधर्म्य शब्द का आग्रह करते ही, यदि वे ऐसे किसी भेद को मानते। मंमट के परवर्ती दो बड़े आलंकारिक विश्वनाथ और जगन्नाथ, क्रमशः साम्य और सादृश्य का प्रयोग करते हैं। प्राचीन टीकाकारों में भी कोई इस नवीन अर्थ का समर्थन नहीं करता। सीधी बात यह है कि व्यवहारतः साम्य, सादृश्य, साधर्म्य, औपम्य शब्द पर्यायवाची माने जाते थे। इन बड़े आलंकारिकों के प्रयोगों को हम यों ही टाल नहीं सकते।

२ – साधर्म्य की जो व्याख्या इन विद्वानों ने की है वह संबंध को समवाय या नित्य-संबंध में परिणत कर देती है, जैसा कि धर्म और धर्मी में होता है, और इसे साधर्म्यसंबंध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं कह सकते। सभी आलंकारिक तथा अधिकांश टीकाकार साधर्म्य या सादृश्य संबंध को उपमान और उपमेय पर आधारित मानते हैं। झलकीकर द्वारा अपने समर्थन में उद्धृत प्रदीप के ये शब्द इस संबंध में पर्याप्त हैं—**ननु साधर्म्यस्य प्रतियोग्यनुयोगिनिरूप्यतया तदनभिधाने न्यूनत्वं लक्षणवाक्यस्येति चेन्न। आक्षेपादुपमानोपमेयरूपयोस्त-योर्लाभात्।**

साधर्म्यसंबंध के उपमान और उपमेय पर आधारित होने का और पुष्ट प्रमाण मम्मट के ही यहाँ उद्धृत **अत्र काव्यस्य शशिना** आदि वाक्य में मिलता है।

३ – एक अन्य प्रबल प्रमाण है—

यथा सादृश्ये। यथा (२।१।७)। इस पाणिनि सूत्र से यह स्पष्ट है कि सादृश्य शब्द अपने चार अर्थों (योग्यता, वीप्सा, पदार्थानतिवृत्ति, सादृश्यानि) में किसी एक की अभिव्यक्ति करता है और न कि साधर्म्य की जैसा कि आधुनिक विद्वान व्याख्या करते हैं। पुनः, व वा यथा तथै वै वं साम्ये (अमरकोश तृ० २८६६), अमर की यह पंक्ति स्पष्ट बताती है कि यथादि वर्ग के शब्द साम्य की अभिव्यक्ति करते हैं, न कि इन व्याख्याकारों के साधर्म्य की। और भी, यथेव शब्दौ सादृश्यमाहतुर्व्यतिरेकिणोः, भामह (२।३१) इस कथन में घोषित करते हैं कि यथा और इव सादृश्य को सूचित करते हैं, न कि साधर्म्य को जैसा कि इन विद्वानों का आग्रह है।

अतः यह असंदिग्ध है कि पाणिनि, अमर और भामह के अनुसार ये शब्द सादृश्य की अभिव्यक्ति करते हैं। यह संभव नहीं कि इव आदि की साधर्म्यवाचक जैसी व्याख्या करके इसे किसी प्रकार प्राचीन आलंकारिकों के अर्थ पर थोपा जाय।

अंत में, यहाँ हम यह देखेंगे कि साम्य - तुल्यता - सादृश्य - साधर्म्य शब्दों को पर्यायवाची मान लेने से काव्यप्रकाश के सभी संबद्ध अंश सरलता से बोधगम्य हैं।

(क) **ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम्,** इस वाक्य पर अपनी वृत्ति में मम्मट सा[illegible] अत्र का[illegible] शशिना **अर्थानां च साधर्म्यं कुत्रापि न प्रतीतम्** (पृ० ७८३)। में यहाँ कि[illegible] यहाँ मम्मट ने साधर्म्य शब्द का प्रयोग सादृश्य के अर्थ में किया है (क्योंकि वे कहते हैं कि उपमा दोष असादृश्य, अनुचितार्थता में परिणत होता है)।

(ख) **हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते। शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते** (पृ० ६४६) में उन्होंने साम्य शब्द का प्रयोग किया है। यदि उनके मन में 'अनुमानित भेद' की कल्पना होती तो अवश्य ही उन्होंने साधर्म्य शब्द का व्यवहार किया होता।

(ग) ··· रिति **साम्य** पर्यालोचनया **तुल्यता** प्रतीतिरिति **साधर्म्य**स्यार्थत्वात्तुल्यादि पदोपादाने आर्थी। पृ० ५५२।

यह पूर्णतया स्पष्ट है कि उन्होंने साम्य, तुल्यता और साधर्म्य शब्दों का प्रयोग पर्यायरूप में किया है। श्रौती और आर्थी प्रकरणों के विवेचन में विश्वनाथ ने मम्मट के शब्दों को प्रायः ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। श्रौती और आर्थी उपमा का भेद इस प्रकार है—

यथा आदि शब्दों की 'यह एक विलक्षण शक्ति है कि जब वे प्रयुक्त होते हैं तो उपमान और उपमेय में उपस्थित किसी समान तत्व के कारण उनके परस्पर संबंधित होने की अभिव्यक्ति करते हैं (**श्रुति मात्रेणोपमानोपमेयगतसादृश्यलक्षणसंबंधं बोधयन्ति**—विश्वनाथ)। अतः जब कभी इन शब्दों का व्यवहार तुलना की अभिव्यक्ति के लिये होता है तो उपमा श्रौती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है। तुल्य आदि शब्दों का व्यवहार 'सदृश' के अर्थ में होता है। तुल्यादि शब्दों की अभिव्यंजनाशक्ति उपमेय में ही समाप्त हो जाती है, जब 'मुख कमल के समान है' जैसे वाक्य उदाहरण में आते हैं। ऐसे उदाहरणों में जैसे, 'कमल मुख के समकक्ष है' उपमान में और उपमान तथा उपमेय दोनों में 'कमल और मुख समान हैं'। किसी समान तत्व के आधार पर दो वस्तुओं (उपमान और उपमेय) के बीच सादृश्य (साधर्म्य साम्य) को और अधिक अभिव्यंजना करने की शक्ति उनमें नहीं रह जाती। ये तुल्यादि शब्द वहीं तक तुलना का अर्थ देते हैं जहाँ हम यह कहना चाहते हैं कि समानता तब तक नहीं रह सकती जब तक वे किसी समान तत्व के कारण संबंधित न हों। अतः वह उपमा आर्थी कही जाती है।

दूसरे शब्दों में, यथा आदि मूलतः और मुख्यतः सादृश्य (साधर्म्य = साम्य) की अभिव्यक्ति करते हैं, जब कि 'समान' या 'मिलती जुलती' वस्तुओं (धर्मियों) के द्योतक शब्द तुल्य आदि अमुख्य रूप से सादृश्य (साधर्म्य साम्य) के बोधक हैं, अर्थात् धर्मियों के किसी विशेषण के। और इसीलिये मुख्य (श्रौती) और अमुख्य (आर्थी) उपमा का भेद है।

प्रदीप, प्रभा आदि, तथा उपर्युक्त आधुनिक विद्वानों ने इस मत की आलोचना की है। इन आलोचकों का कथन है—

१ – यद्यपि यथा आदि के प्रयोग से अनुरूपता (सादृश्य) मुख्यतः अभिव्यक्त की जाती है, और तुल्य आदि के द्वारा अमुख्य रूप से विशेषण के रूप में अभिव्यक्ति होती है, फिर भी इन दोनों अवस्थाओं में समानता की ही अभिव्यंजना होती है। मम्मट ने स्पष्ट कहा है कि उपमा आर्थी होती है क्योंकि तुल्य आदि के प्रयोग में साधर्म्य विवक्षित होता है।

२ – मम्मट के अनुसार यथा आदि साधर्म्य के द्योतक हैं, सादृश्य के नहीं। साधर्म्य का अर्थ है, 'साधारणतः किसी एक विषय के कारण अनुरूपताजन्य संबंध'।

३ – यदि सचमुच यथा आदि और तुल्य आदि शब्दों के अर्थों के बीच धर्म और धर्मी का भेद उनके मन में होता तो मंमट ने **साम्यपर्यालोचनया तुल्यता प्रतीतिः** के बदले **साम्यपर्यालोचनया धर्मि प्रतीतिः** कहा होता।

इन आपत्तियों का खंडन यों किया जा सकता है—

१ – यह हम मानते हैं कि तुल्य आदि, सादृश्य की अभिव्यक्ति करते हैं परंतु विशेषण-तया शब्द पर बल देते हैं। 'अयं घटः' में परिज्ञानविषय घट विशेष्य है, जब कि घटत्व घट का विशेषण है। **'नागृहीतविशेषणा बुद्धिः विशेष्यमवगाहते'** नियम के अनुसार धर्मी—घट की कल्पना उसके विशेषण घटत्व के साथ होगी। इसका यह अर्थ नहीं कि घटत्व की अभिव्यक्ति उसी प्रकार होगी जैसे घट की। यह अभिव्यंजना प्रत्यक्ष नहीं, अप्रत्यक्ष रूप से होती है। उदाहरणार्थ, **घटोनित्यः** वाक्य में घट से घटत्व के अर्थ की उपलब्धि के लिये लक्षणा का सहारा लेना होगा। यही सादृश्य विशिष्ट धर्मियों के संबंध में समीचीन होगा।

२ – यह ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है कि मम्मट ने साम्य, सादृश्य और साधर्म्य शब्दों का व्यवहार पर्याय रूप में किया है, अतः यह आपत्ति अग्राह्य है।

३ – चंदोरकर की यह आपत्ति उनकी अपनी पाठभूल के कारण है। **'साम्यपर्यालोचनया तुल्यता प्रतीतिः'** में मम्मट का, अथवा **'अर्थानुसन्धानादेव साम्यं प्रतिपादयन्ति'** में विश्वनाथ का अभिप्राय यह है—तुल्यता (अर्थात् सादृश्य = साम्य = साधर्म्य) का भाव तभी आता है जब हम सोचें या मानें कि उपमान और उपमेय के बीच समानता तब तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

नहीं हो सकती जब तक वे किसी समान तत्व के कारण संबंधित न हों। अतः **साम्यपर्यालोचन** का परिणाम **धर्मप्रतीति** मानना भ्रामक है।

तद्धितगा आर्थी के संबंध में एक बात का उल्लेख यहाँ हो सकता है। नागेश का कथन है, **"एवं च चन्द्रवन्मुखमित्यादौ भवति-क्रिया मध्याहृत्य चन्द्रभवनसदृशं मुखभवनमित्येव वाच्योऽर्थः। चन्द्रमुखयोः सादृश्यं तु व्यञ्जनयैवेति बोध्यम्"** (उद्योत पृ० १४ सुकथंकर का संस्करण)।

तद्धितगा आर्थी के उदाहरण में **मधुरः सुधावधरः** दिया है। साहित्यदर्पण पर अपनी टिप्पणी में काणे का कथन है, "यह उदाहरण पाणिनि के **'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः'** का अतिक्रमण करता प्रतीत होता है। एक अन्य टीकाकार का कहना है—अधरः सुधातुल्यमेव **मधुरतया आस्वाद्यते** इत्यर्थविवक्षया (कुसुमप्रतिमा पृ० ६०१)।

यह व्याख्या गले के नीचे नहीं उतरती। यह **स्थितस्य गतिः समर्थनीया** पर आधारित है।

यदि ऐसे वाक्य प्रचुरता से व्यवहार में मिलते हैं तो उन्हें व्याकरणविरुद्ध अथवा टीकाकारों की क्षति बताकर टाल नहीं देना चाहिए, नियम का विस्तार इस प्रकार करना होगा जिसमें प्रयोग की मान्यता के साथ गुण का समावेश भी हो सके।

इस संपूर्ण विवेचन का निष्कर्ष यह कि आलंकारिक परंपरया सादृश्य, साम्य, साधर्म्य को केवल पर्यायवाची मानते हैं और यह कि साधर्म्य और समान धर्म के बीच प्रयोज्य-प्रयोजक का संबंध है। असाधारण ख्याति का आलंकारिक मम्मट भी इसी परंपरागत मत का पोषक है। चंदोरकर तथा झलकीकर का वह सिद्धांत अकाट्य कारणों से स्वीकार्य नहीं जो साधर्म्य और सादृश्य में भेद मानकर प्रसिद्ध काव्यप्रकाश में अपना समर्थन खोजता है; और नव्य नैयायिकों का वह मत भी ग्राह्य नहीं हो सकता जो यह मानता है कि सादृश्य या साधर्म्य साधारण धर्मरूप हैं। तर्क प्रबल होने पर भी वैयाकरण दृष्टिकोण मात्र से उसे व्यवहार में नहीं लिया जा सकता।

*

कालिदास के शाकुंतल में आत्मतत्त्व

डा० रामचंद्र एस० बेतइ

[जर्नल आफ द बांबे युनिवर्सिटी, खंड छब्बीस, भाग २, १९५७ में प्रकाशित 'द आत्मतत्व इन द शाकुंतलम् आफ कालिदास' शीर्षक निबंध का सारांश।]

कालिदास के प्रसिद्ध अभिज्ञान शांकुतलम् में आत्मतत्व का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए लेखक की मान्यता है कि वस्तुतः कालिदास जीवन को दार्शनिकता प्रदान करते हुए आत्मबोध की उत्कट तथा शुभ आकांक्षा को उपस्थित करते हैं। परम ज्ञान की उपलब्धि के लिये जीवन और उसका आनंद शुभ और स्वागताई वस्तुएँ हैं। इससे हमें यह बोध होता है कि मानव अपनी आत्मा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकास - प्रसार मंद किंतु निश्चित मात्रा में करता है। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि क्यों मनुष्य अपने बाल बच्चों को ही सबसे अधिक स्नेह करता है। जीवन और उसके आनंद के माध्यम से मनुष्य ईश्वरीय प्रेम की ओर अग्रसर होता है। और यह भी व्याख्या करता है कि निषेध, कर्तव्य, सौजन्य और दुःख के बीच क्यों उसे प्रेम करते हुए जीवन में अग्रसर होना चाहिए। इस प्रकार उसने प्रेम को उच्चता, सौजन्य, घृणा प्रदान करते हुए उस महत् सौभाग्य को दर्शाया है जो सही मार्ग ग्रहण करके शुद्ध ज्ञान का स्रष्टा है।

पांडवों की समस्या

सदाशिव ए० डांगे

•

[जर्नल आफ द युनिवर्सिटी आफ बांबे, खंड छब्बीस भाग २ में प्रकाशित अंगरेजी निबंध 'द पांडव रिडल' का सारांश।]

महाभारत के नायक पांडुपुत्र पांडव अपने जन्म तथा बहुपति - विवाह के कारण एक समस्या खड़ी कर देते हैं—वह परिस्थिति जिससे विद्वान उन्हें अनार्य तक कह देते हैं।

ऐसी अनेक अनार्य प्रथाएँ और परंपराएँ हमें महाभारत में मिलती हैं जो आगे चलकर आर्यों में घुलमिल गईं। विशेषतः ऐसी यौन विषयक बातें भी महाभारत में मिलती हैं, जिन्हें वैदिक आर्य स्वीकार न करते। ऐसी अनेक जातियों के संकेत हैं जिनमें शिथिल यौनपरंपराएँ थीं और जिनमें प्रचलित विवाहप्रथा यौनस्वच्छंदता में बाधक नहीं थी। मद्रनारियों के संबंध में शल्य के प्रति कर्ण के कथन में भी हम ऐसा ही पाते हैं।

शल्य प्रत्युत्तर में कर्ण से कहता है कि अंग के लोग अपने बच्चे और पत्नी बेचते हैं, इससे हमें तत्कालीन अवस्था का अभास मिलता है। इसीके समानांतर ऐसे विवरण भी उपलब्ध हैं जहाँ यौनसंपर्क के बाद भी उनका कुमारित्व नष्ट नहीं होता। उदाहरण में महादेवी कथा आती है। व्यासमाता सत्यवती तथा कुंती की कथाएँ भी इसका प्रमाण हैं।

ये संकेत क्रमिक सामाजिक विकास के द्योतक हैं। ऐसे आचारों को बहुत गंभीरता से तब तक नहीं लेना चाहिए जब तक ये संबंध प्रतिलोम न हों।

उद्दालक द्वारा इस प्रथा के निषेध की बात प्रसिद्ध है। ऐसी स्वतंत्रता विवाहिता नारियों को नहीं थी। महाभारत में, पति की अनुज्ञा बिना ऐसे आचार का कोई उदाहरण नहीं मिलता। आगे हमें नियोग, देवर के साथ विधवाविवाह के उदाहरण प्राप्य हैं। स्मृतियों में नियोग द्वारा पुत्रोत्पादन की संख्या भी निर्धारित है, कहीं एक, कहीं दो, कहीं तीन। नियोग दो अवस्थाओं में ही होता था—

१ – पुत्रहीन मृतक की विधवा में तथा २ – अशक्त पति की अनुज्ञा से केवल एक पुत्र (कुछ की राय में दो भी) के लिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

यह स्पष्ट है कि पांडव नियोगज थे, साथ ही पूर्णतः वैध भी। तब स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि उनकी उत्पत्ति दैवी क्यों कही गई ?

दूसरा विवादास्पद प्रश्न है उन पाँचों का एक ही नारी से विवाह।

बहुपतित्व भारतीय आर्यों में अप्रलित ही नहीं घृणित भी समझा जाता था।

इस प्रकार पांडवों का पक्ष विचित्र है। द्रौपदी के साथ बहुपति विवाह का कारण सामाजिक राजनीतिक था, जिसे स्वीकार करने को वे विवश थे। यद्यपि द्रौपदी पाँच पतियों की पत्नी थी परंतु उसने प्रत्येक से एक ही पुत्र उत्पन्न किया। संभवतः पाँचों भाइयों में यह आपसी समझौता था। इस दृष्टिकोण को संमुख रखे बिना हम सही दिशा में विचार नहीं कर सकते।

माहेश्वर मत और उसकी शाखाएँ

पी० सी० दीवानजी

•

[जर्नल आफ द एशियाटिक सोसायटी आफ बांबे खंड ३० भाग दो, १९५५ में प्रकाशित 'माहेश्वर कल्ट एंड इट्स आफशूट्स' शीर्षक निबंध की रूप रेखा।]

प्रस्तुत निबंध छह भागों में विभक्त है—१. मत का उदय और उसके लक्षण, २. लकुलीश के समय तक उसका विकास, ३. तभी से इससे पाशुपत मत की उत्पत्ति, ४. इसके विकास में कौंडिन्य - राशीकर का योग, ५. मध्यकाल में मतांतरों में इसका विभाजन और ६. आधुनिक शैवमत तथा उसके उप मत।

वैदिक काल से अद्यतन कालपर्यंत माहेश्वर धर्म के इतिहास, विकासक्रम तथा प्रमुख आचार्यों का निरूपण शास्त्रों तथा शिलालेखों आदि के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

दास और दस्यु

एन० जी० चापेकर

•

[ज० रा० ए० सो० बांबे. खंड ३० भाग दो १९५५ में प्रकाशित 'दास एंड दस्युज' शीर्षक निबंध का सारांश।]

ऋग्वेद में आए दास और दस्यु शब्दों की आवृत्तिगणना तथा अध्ययन के द्वारा लेखक ने माना है कि ऋग्वेद के अनुसार दास और दस्यु शब्द समानार्थक हैं। लेखक की स्थापना है कि मुख्यतः दास और दस्यु मेघ और अंधकार के प्रतीक हैं। यही इंद्र - वृत्र युद्ध से भी सिद्ध होता है।

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदयपुर के महाराणा प्रताप के समय के दो अप्रामाणिक शिलालेख

आर० सी० अग्रवाल

•

[ज० ए० सो० बां० खंड ३० भाग दो में प्रकाशित 'टू स्पूरियस इंस्क्रिप्शंस आफ महाराणा प्रताप आफ उदयपुर' शीर्षक अंगरेजी निबंध का संक्षेप ।]

१ – विक्टोरिया हाल म्यूजिअम, उदयपुर में सुरक्षित शिलापट्ट (म्यू० सं० ४२) पर एक अभिलेख मेवाड़ के महाराणा प्रताप के काल का है। इसमें कुल १२ पंक्तियाँ है, जिनमें प्रथम चार पर्याप्त स्पष्ट हैं और उनसे जेष्ठ शुक्ल ५ सोमवार (विक्रम) संवत् १६३० तिथि प्राप्त होती है। आगे (पंक्ति ५ से १२) किसी ब्राह्मण को भूमिदान का उल्लेख है, परंतु वह अंश अब स्पष्ट नहीं है। आरंभिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

पंक्ति १. सं० १६३० वष जेष्ट
,, २. मासे सुकल पषे महा
,, ३. पवर्ण पंचमी समवा
,, ४. रे राज श्री राणा प्रताप

ज्येष्ठ शुक्ल ५ और बुधवार के बदले सोमवार का संयोग कठिनाई उपस्थित करता है (इंडियन एफेमेरिस भाग पाँच. १६२२ पृ० ३४८)। इससे प्रतीत होता है किसी ने किसी भू-अंश पर अधिकार जमाने के लिये इसे खुदवा दिया था।

२ – सुरखंड से प्राप्त इस अभिलेख का पाठ बड़ा भ्रष्ट है और अब तक अप्रकाशित रहा। विक्टोरिया हाल में सुरक्षित एक ठप्पा मुद्रण के आधार पर इसे यों उपस्थित किया जा सकता है—

॥ श्री एकली [लिं] ग श्री राम ॥
सहे

पंक्ति १. महाराणाधराज प्रता-
,, २. प सींग जी ने राठड का रा-
,, ३. ज पराजि कर सिसोदिय-
,, ४. ण का राज संवत् १६४२
,, ५. मं राज प्रतापत की-
,, ६. आ सुरषंड नगेर पर
,, ७. राज काद उस समे
,, ८. मुगल अकबर
,, ९. के विषात सेनापती रा
,, १०. मानसेह को सात जुद
,, ११. था महाराणा जी असी-वज
,, १२. पइ ऊ पुसी में श्री रनसड
,, १३. जी का मदीरा डोरी थ उ-
,, १४. सका प्रमद कीआ लु-
,, १५. वी हल पुजारा कुव-
,, १६. र को दा जेठ सुकल ११

❀

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्देश

जर्नल आफ द एशियाटिक सोसायटी आफ बांबे खंड ३० भाग दो

द जाति माला आफ सोमनाथ – एन० ए० गोरे। सोमनाथ की जातिमाला पर विशद विवेचन।

ए ग्लांस ऐट इंडियन स्टडीज इन चेकोस्लोवाकिया—वी० पोरिज्का। चेकोस्लोवाकिया में भारतीय अध्ययन।

धेनुकाकट – डी० डी० कोशांबी। शेलार वाडी, बेडसा, भाजा और कार्ले के शिलालेखों का संग्रह तथा अध्ययन।

जर्नल आफ द युनिवर्सिटी आफ बांबे

द जेनेसिस आफ ऋग्वेद–डा० जी० के० भट्ट। ऋग्वेद दो - १२, इंद्र सूक्त पर नई व्याख्या का प्रस्ताव।

अग्नि हीम्स इन मंडल एट्थ्—प्रो० एच० डी० वेलंकर। अष्टम मंडल के अग्नि सूक्तों पर टिप्पणियां तथा अध्ययन।

ओरिजिन एंड ग्रोथ आफ ज्योतिष शास्त्र – डा० वी० आर० पंडित। ज्योतिष शास्त्र का इतिहास।

द माइथोलाजी आफ द युजुर्वेद – डा० एन० जे० शेंडे। यजुर्वेदीय गाथा।

जर्नल आफ द ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, खंड सात संख्या ४

इंफ्लूएंस आफ बुद्धिस्ट लाजिक आन अलंकार शास्त्र—प्रो० अनंतलाल। बौद्ध तर्कशास्त्र का अलंकारशास्त्र पर प्रभाव।

इंटरप्रिटेशन आफ द वर्ड जय इन द फर्स्ट वर्स आफ द महाभारत – श्री यू० जे० सांडेसरा। महाभारत के प्रथम श्लोक के जय शब्द की व्याख्या।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स मी क्षा

परती परिकथा

प्रस्तुत पुस्तक को लेकर काफी वादविवाद हुआ है। यह इस बात का प्रमाण है कि पुस्तक महत्वपूर्ण है। किसी एक विषय या पुस्तक को लेकर भिन्न भिन्न रायों का होना अपने आप में अहमियत से खाली नहीं है। इसके साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि अमुक का मत ठीक है और अमुक का बेठीक। हाँ, यह अवश्य माना जा सकता है कि उनमें संतुलन नहीं है। इस पुस्तक को लेकर जो भी समीक्षाएँ आई हैं वे अतिवादी ही कही जायँगी – कहीं तो एकदम प्रशंसा ही प्रशंसा और कहीं एकदम निंदा ही निंदा। इसे दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि समीक्षाओं ने उत्तर-प्रत्युत्तर या बहस का रूप ले लिया और बहस में प्रतिद्वंद्वी को पछाड़ देने की भावना विचारों को विकृत कर देती है। परती परिकथा की सर्वप्रमुख और उल्लेख्य विशेषता यह है कि लेखक अपनी परिधि, अपने क्षेत्र को अच्छी तरह पहचानता है। कोसी का वह अंचल जिसकी वह कथा कहता है, उसका देखा - सुना और परखा है। इसीलिये वह उसकी गहराइयों में डूबकर तलवर्ती विशेषताओं को सरलतापूर्वक उद्‌घाटित कर लेता है। यह दूसरी बात है कि उद्‌घाटन का ढंग उसका अपना है – वह किसी को पसंद आ सकता है किसी को नहीं। अपनी - अपनी रुचियों के लिये कोई क्या करे? कथा का कोई खास केंद्रबिंदु नहीं है, वह बिखरी हुई है, उसकी कोई दार्शनिक रीढ़ नहीं है – ये कुछ वे शिकायतें हैं जिनका उल्लेख रह रह कर किया जाता है। पर जब नई कविता में अभिव्यक्त खंडित व्यक्तित्वों को गले से उतार लिया जाता है तो इस उपन्यास के बिखराव में एक सूत्रता क्यों नहीं स्थापित की जाती। यह बात अब मान ली गई है कि विषयवस्तु और शैली में कोई भेद नहीं है, वे अविभाज्य हैं। उपन्यास में तो प्रयोग की सर्वाधिक गुंजायश है। आखिर इस तरह अनेकानेक कथाओं और बहुविधि समस्याओं को एक ही फलक पर उतारने का और कौन उपाय था? इसके संबंध में नई सेंसिबिलिटी की बात क्यों नहीं उठाई जाती? लगता है कि दाल में कहीं काला है। विभिन्न टोले की परिकथाएँ, लोककथाएँ लोकपहेलियाँ, लोकगीत ये सब कथावस्तु की वे कड़ियाँ हैं जिनके मिलने से उपन्यास को सांविधानिक पूर्णता प्राप्त होती है। उपन्यास में जिस आवयविक अविभाज्यता की चर्चा की जाती है वह इसकी विविधता में ही है। ऐसा इसलिये है कि ऐसी कथा के लिये ऐसे ही शिल्प की जरूरत थी।

चरित्रों की बहुलता इस उपन्यास की दूसरी विशेषता है। लुत्तो, बीरभद्दर बाबू, ताजू, गोविंदो, मुंशी जी, भिम्मल मामा, पखारन, रघू रामायनी, मलारी, रघुवंश बाबू, शिवेंद्र मिश्र, गरुड़धुज झा, सरबन बाबू, जितेंद्र, दिलबहादुर आदि आदि। पात्रों की भारी भीड़ में किसी को भी पहचाना जा सकता है, यह लेखक की एक उल्लेखनीय विशेषता है। ये पात्र अपने वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व भी करते हैं और अपनी वैयक्तिक विशेषताओं से समन्वित भी हैं। लेखक ने प्रत्येक को व्यक्तित्व प्रदान करने की कोशिश की है, इसीलिए वे इस भीड़ - भाड़ में खोते नहीं। फिर भी इसमें (आंशिक रूप से ताजू को छोड़कर) कोई ऐसा पात्र नहीं है जो पाठकों पर गहरा प्रभाव – ऐसा प्रभाव जो काफी देर तक उस पर छाया रहे – छोड़ सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस अनास्था के युग में एक जबरदस्त आस्था का सृजन भी इस उपन्यास में किया गया है। कथा का आरंभ होता है—

'धूसर, वीरान, अंतहीन प्रांतर।
पतिता भूमि, परती जमीन, वंध्या धरती।

धरती नहीं, धरती की लाश, जिस पर कफन की तरह फैली हुई हैं — बालूचरों की पंक्तियाँ। उत्तर नेपाल से शुरू होकर दक्षिण गंगा तट तक, पूर्णिया जिले के नक्शे को दो असम भागों में विभक्त करता हुआ — फैला फैला यह विशाल भूभाग। लाखों एकड़ भूमि, जिस पर सिर्फ बरसात में क्षणिक आशा की तरह दूब हरी हो जाती है।'

कथा का अंत होता है —
'हर्षोन्मत्त जन मन।
सेमलबनी के आकाश में अबीर - गुलाल उड़ रहा है।
आसन्नप्रसवा धरती हँस कर करवट लेती है।'

यही इस उपन्यास की दृष्टि है। जित्तन बाबू को केवल धनी वर्ग में पैदा होने मात्र से उसके क्रियाकलापों को संदेह की दृष्टि से देखना बुद्धि का दिवलियापन ही सिद्ध करेगा। उससे न तो जित्तन बाबू की कोई क्षति होगी और न उपन्यास की। जित्तन बाबू को तो सूडो प्रगतिवादियों से (जो वास्तव में घोर प्रतिक्रियावादी और अवसरवादी हैं) जूझना ही पड़ा था। इस संघर्ष के फलस्वरूप ही तो वंध्या धरती पुत्रवती हो सकी थी। मीठा पर चुटीला व्यंग्य भी कथा में बिखरा मिलेगा। नई रोशनी के छात्र, अंधविश्वासी आचारी, समाज - सुधार के ठेकेदार, जनता को बेवकूफ बनाकर अपना उल्लू सीधा करने वाले अहंमन्य नेता सभी को जहाँ तहाँ व्यंग्य के तीर लगे हैं।

इसके शिल्प में आंचलिक उपकरणों से विशेष सहायता ली गई है। भाषा लोकभाषा के इतने निकट हो गई है कि वह सदोष हो गई है। रिपोर्ताजों के प्रति कोई शिकायत नहीं है पर टेपरेकार्डिंग का ढंग अखर जाता है। ध्वनिचित्रों ने जहाँ एक ओर इसके शिल्प को अलंकृत किया है वहाँ कहीं वे स्वयं अलंकार्य हो गए हैं।

सब मिलाकर परती परिकथा से हिंदी उपन्यास की श्रीवृद्धि हुई है इसमें कोई संदेह नहीं है। यह भी सच है कि ग्रामीण कथा को प्रेमचंद के बाद इतना व्यापक फलक नहीं मिला। शिल्प की दृष्टि से इसके प्रयोग की नवीनता भी श्लाघ्य है। इस तरह के उपन्यासों का मूल्यांकन करने के लिये उपन्यासों के बँधे बँधाए मानों को बदलना होगा। मेट्रिक प्रणाली के युग में पुराने बटखरे बेकाम हो गए हैं। उनके द्वारा नाप जोख करने से न तो हम अपने प्रति ईमानदार हो सकते हैं और न दूसरे के प्रति, ऊपर से पकड़े जाने का जोखिम उठाना पड़ेगा।

पर मैला आँचल और परती परिकथा से एक प्रश्न और उठता है। वह यह कि क्या इस प्रकार के प्रयोगों की कोई परंपरा चल सकती है। इसे परंपरा से बाँधा तो जा सकता है किंतु इसकी अपनी भी कोई परंपरा चल सकती है यह संदिग्ध है। वर्जीनिया वुल्फ की कोई परंपरा चली? (यहाँ वुल्फ और रेणु की तुलना का कोई प्रयोजन नहीं है।) क्यों नहीं चल सकती? पूछा जा सकता है। पर 'क्यों' के उत्तर के लिये समीक्षा नहीं लेख की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यकता है। इसलिये इत्यलम् (यह कथित प्रयोगवादी कविताओं के लिये ही उचित शीर्षक नहीं है, इस प्रकार के औपन्यासिक प्रयोगों के लिये भी समीचीन है)। इसकी कोई परंपरा चले या न चले, इससे इसकी औपन्यासिकता कहीं भी क्षतिग्रस्त नहीं होती।*

— बच्चन सिंह

शैवमत

वैष्णवमत की अपेक्षा काल तथा देश की परिधि के विषय में शैवमत नितांत महत्वशाली है। यह 'मोहनजोदड़ों' के प्राचीन युग से आरंभ कर आज भी वर्तमान होने से संसार के प्राचीनतम धर्म होने का गर्व और गौरव धारण कर रहा है। काश्मीर से कन्याकुमारी तक तथा काबुल से लेकर चट्टग्राम तक ही यह सीमित नहीं है, प्रत्युत भारत के पूर्वी उपनिवेशों का—जावा, सुमात्रा, आदि देशों का भी यही प्राचीन व्यापक धर्म था। फलतः ऐसे महत्वशाली धर्म के स्वरूप तथा विकास का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करने के लिये हम इसके विद्वान् प्रणेता डा० यदुवंशी के प्रति तथा इस इतिहास को राष्ट्रभाषा में प्रकाशित करने के लिये राष्ट्रभाषा परिषद् (पटना) के प्रति चिर ऋणी रहेंगे।

यह ग्रंथ लंबे आकार के ३३८ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। मूल ग्रंथ १८४ पृष्ठों में आठ अध्यायों में विभक्त है। परिशिष्ट भाग १८५ पृष्ठों से लेकर अंत तक है। परिशिष्ट भाग में संस्कृत की आधारभूत सामग्री एकत्रित है जिसमें वैदिक संहिताओं से मंत्रों का, पुराणादि ग्रंथों से श्लोकों का संग्रह ग्रंथ में निर्दिष्ट सिद्धांतों की पुष्टि के लिये बड़ी सुंदरता से किया गया है। अलभ्य अथवा दुर्लभ ग्रंथों के आवश्यक अंशों के एकत्र संग्रह होने से यह परिशिष्ट शोधकों के लिये बहुत ही उपयोगी और उपादेय सिद्ध होगा।

मूल ग्रंथ में आठ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में रुद्र के वैदिक रूप का परिचय विस्तार के साथ दिया गया है। दूसरे अध्याय में सिंधु - घाटी - सभ्यता में शिव के रूप का परिचय और वैदिक धर्म में उसके मौलिक अंशों के गृहीत होने का विवरण है। तीसरे अध्याय में ब्राह्मण - उपनिषद् - युग में शैव मत के विकास का वर्णन है। श्वेताश्वतर तथा केन उपनिषदों में शिव के रूप निर्देश में नवीन तथ्यों का संग्रह कर रुद्र के गणों का भी परिचय श्रौतसूत्रों के आधार पर ग्रंथकार ने दिया है। चौथे अध्याय में रामायण तथा महाभारतकालीन शिवपूजा के विधिविधानों का वर्णन कर शिव द्वारा आर्येतर देवताओं के आत्मसात् किए जाने का परिचय दिया गया है। पाँचवें अध्याय में ईसवी संवत् की आरंभिक शताब्दियों में शैवमत के पूर्ण विकास, देवालय और शैवप्रतिमाओं के निर्माण, शाक्त मत के उदय और गणेश की उपासना - विधि का विस्तार से वर्णन है। छठे अध्याय में पुराणोत्तर काल में उत्तर और दक्षिण भारत में शैव मत के विस्तार का विवरण है। सातवें अध्याय में शैव धर्म के दार्शनिक पक्ष का

* परती परिकथा, लेखक – फणीश्वर रेणु, राजकमल प्रकाशन, मूल्य ७.५० ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णन है और शैव सिद्धांत तथा त्रिक दर्शन का बड़ा ही संक्षिप्त विवेचन है। अंतिम अध्याय में भारत के बाहर शैव धर्म के प्रचार का प्रामाणिक इतिहास है। इस प्रकार यहाँ शैवमत के विकास का बड़ा ही व्यापक और प्रभावशाली वर्णन है। अंग्रेजी में यह थीसिस लंडन विश्वविद्यालय के द्वारा स्वीकृत की गई थी और ग्रंथकार को डाक्टरेट की उपाधि मिली थी। डा० यदुवंशी ने स्वयं इसका हिंदी रूपांतर किया है।

ग्रंथकार ने इस ग्रंथ के प्रणयन में बड़ा परिश्रम किया है, अनेक मूल संस्कृत ग्रंथों का अनुशीलन बड़ी तार्किक बुद्धि के बल पर किया है और अपने सिद्धांतों को बड़ी स्पष्ट भाषा में लिखा है। लेखक की मान्यता है कि शैव मत के विकास में वैदिक मत के साथ आर्येतर जातियों के विश्वासों तथा आचारों का घोर मिश्रण हुआ है। आधुनिक शैवमत का स्वरूप इस संमिश्रण का परिणत फल है। लेखक ने इसकी पुष्टि में अनेक युक्तियाँ तथा प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। ग्रंथ के अनुशीलन से मेरी यह धारणा बँध गई है कि डा० यदुवंशी अपने तथ्यों की पुष्टि में इतने आसक्त हैं कि उन्होंने अनेक ऐसी बातें कह डाली हैं जिन्हें हम प्रमाण न कह कर प्रमाणाभास ही कहेंगे। पाश्चात्यों की युक्तियों का अनुसरण कर वे आवेश में दूसरे छोर पर पहुँच गए हैं। वैदिक देवता 'रुद्र' के नैसर्गिक विकास पर यदि उन्होंने पूरा ध्यान दिया होता, तो अनेक अनर्गल सिद्धांत तथा घटनाचक्र इस रूप में प्रदर्शित नहीं किये जाते जिस रूप में उनका प्रतिपादन यहाँ किया गया है। एक दो उदाहरण ही पर्याप्त होगा।

ऋग्वेद में रुद्र अग्नि के ही रूप है। इसीलिये वे विद्युत् के प्रतीक विद्वानों द्वारा स्वीकृत किए गए हैं। लेखक का कथन है कि 'ऋग्वेद के प्राचीनतम भागों में रुद्र तथा अग्नि का तादात्म्य नहीं है' (पृ० ५) परंतु यह कथन लेखक के इसी पृष्ठ पर उल्लिखित सिद्धांत से विरुद्ध पड़ता है। ग्रंथकार ने रुद्र और अग्नि के तादात्म्यसूचक दो मंत्र प्रमाण में दिए हैं जिनमें एक द्वितीय मंडल का है (त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवः २।१।६) और दूसरा तृतीय मंडल का अग्निं......रुद्रं यज्ञानाम् ३।२।५)। वंश मंडल के अंतर्गत होने से ये दोनों मंत्र निःसंदेह अत्यंत प्राचीनतम माने जाते हैं। फलतः इन मंत्रों के आधार पर प्रतिष्ठित यह तादात्म्य निःसंदेह ऋग्वेद के प्राचीनतम काल से संबद्ध है। अग्नि की ही एक उपाधि थी त्र्यंबक (तीन पिता वाला; अंबक = जनक) क्योंकि अग्नि के तीन जन्मों का (पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्यौ) बहुधा उल्लेख वैदिक साहित्य में है। अग्नि के साथ तादात्म्य होने से ही रुद्र के लिए 'त्र्यंबक' नाम का प्रयोग होने लगा। रुद्र की उपासना का यह प्रख्यात मंत्र अथर्व (१४।१।१७), वाजसनेयी संहिता (३।६०) तैत्तिरीय संहिता (१।८।६।२) में ही नहीं आता, प्रत्युत ऋग्वेद के प्राचीनतम अंश सप्तम मंडल में (७।५६।१२) भी उपलब्ध होता है—

त्र्यंबकं यजामहे सुगंधिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बंधनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

फलतः रुद्र का अग्नि के साथ तादात्म्य अत्यंत प्राचीन युग में निष्पन्न एक आध्यात्मिक समीकरण था इसके आधार पर शिव की कल्पना, लिंगपूजा का कालांतर में प्रादुर्भाव, वर्तमान काल में शिवोपासनापद्धति का रूप भलीभाँति नैसर्गिक विकास क्रम से समझाया जा सकता है। स्थानाभाव से इसका विशद विवेचन इस छोटी आलोचना में नहीं किया जा सकता। हमने अन्यत्र इसके लिये विस्तृत प्रमाणों का उपन्यास किया है।[1]

१. द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय – धर्म और दर्शन (शारदा मंदिर, काशी; १९४५) पृष्ठ ११ – २१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार शक्तिपूजा के उदय का वर्णन भी वैदिक पूर्वपीठिका के महत्व को भली भाँति बिना समझे किया गया है। 'मंदिरों में उपासना की प्रथा संभवतः विदेशियों से ही भारत में आई' (पृ० २४) यह अपसिद्धांत है जो पुराणों की प्राचीनता को न मानने के कारण उद्भूत हुआ है। इसी प्रकार गणपति की उपासना के विषय में ग्रंथकार की मान्यताएँ (पृ० १२२ – १२८) गणेश के वैदिक रूप को ठीक ठीक न समझने के कारण उत्पन्न हुई है।

सप्तम अध्याय में शैवमत का दार्शनिक आधार बहुत ही अल्प तथा निर्जीव सा है। भिन्न भिन्न शैव दर्शनों के उदय तथा अभ्युदय का विवरण विस्तार से होना चाहिए। इस अध्याय में पृष्ठ १६६ पर लेखक ने जो लिखा है कि 'शंकर के समय तक कहीं भी विशुद्ध अद्वैतवाद की कोई विशेष चर्चा नहीं है', यह कथमपि मान्य नहीं है। बहुत प्राचीन ग्रंथों की ओर न जाकर हम लेखक का ध्यान शंकर के दादा गुरु गौडपादाचार्य की 'मांडूक्यकारिका' की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं जिसमें अद्वैतवाद का प्रतिपादन विस्तार के साथ सर्वथा किया गया है। त्रिक मत का वर्णन पृ० १७२ पर केवल आधे पृष्ठ में ही समाप्त कर दिया गया है। मत की विशिष्टता के कारण इसका परिचय कुछ अधिक विस्तार से देने की आवश्यकता है। अष्टम अध्याय में शैवमत के विस्तार का विवरण ऐतिहासिक प्रमाणों पर बड़ी सुंदरता से दिया गया है।

आलोचक शैव मत में अन्य मतों के संपर्क तथा प्रभाव की घटना की अवहेलना नहीं करता, परंतु जितनी दूरी तक लेखक इस आलोच्य ग्रंथ में अग्रसर हुए हैं, उतनी दूरी तक जाने की वह प्रशंसा नहीं कर सकता। शिव, शक्ति तथा गणपति के वैदिक रूप के विश्लेषण की नितांत आवश्यकता है और तभी शैव मत का वास्तव रूप अपने विशुद्ध वैभव के साथ हमारे सामने प्रकट होगा। आलोचक ग्रंथकार को इस दिशा में अग्रसर होने के लिये, इतनी उपयोगी सामग्री सुबोधरूप में प्रस्तुत करने के लिये, और इतने उत्तेजक विचारों को रखने के लिये बधाई देता है, परंतु वह आशा करता है कि ग्रंथ के अगले संस्करण में ऊपर निर्दिष्ट तथ्य के अनुसार वह पूरे ग्रंथ के संशोधन की ओर ध्यान देगा।

ग्रंथ की सुंदर सुवाच्य छपाई और रमणीय सज्जा के लिये तथा ऐसा उपादेय निबंध प्रकाशित करने के हेतु बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् हमारे धन्यवाद का पात्र है।*

— बलदेव उपाध्याय

*

शैवमत, लेखक—डा० यदुवंशी, केंद्रीय शिक्षा मंत्रणालय, दिल्ली, प्रकाशक—राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, मूल्य, सजिल्द प्रति का ८) १९५५ ई०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बांसुरी बज रही

लोकसाहित्य के अध्ययन की दिशा में पिछले दो दशकों में उल्लेखनीय कार्य हुए हैं और विदेशी लेखकों के अतिरिक्त भारतीय लेखकों ने भी काफी कार्य करके लोकगीतों तथा लोकवार्ताओं के माध्यम से भारतीय जनजीवन के क्रमिक विकास पर यथाशक्ति प्रकाश डाला है। किंतु यह अध्ययन अधिकांशतः उन सभ्य कही जानेवाली जातियों का रहा है जिनका भारतीय इतिहास में किसी न किसी प्रकार उल्लेख होता रहा है। जंगलों और पठारों में देश की इतिहासधारा से कट कर अलग जा बसने वाली जातियों के इतिहास, उनकी संस्कृति और उनकी सामाजिक चेतना की खोज के लिये अभी भी जो कुछ किया गया है वह नहीं के बराबर है। विदेशी लेखकों ने इस दिशा में भी अन्वेषण का नेतृत्व किया है किंतु सहृदयता के अभाव में उनकी पैठ उतनी गहरी नहीं हो सकी। दूसरी ओर नृतत्व-शास्त्र का अध्ययन अब भी पुस्तकों तक सीमित है, उसे भारतीय जातियों के साहसपूर्ण अध्ययन का प्रयोगात्मक रूप नहीं दिया जा सका है। ढाई करोड़ आबादी वाले आदिवासियों की भाषाएँ भी अलग अलग हैं तथा बीहड़ रास्ते पर चल कर उनके गीतों तथा लोकवार्ताओं का संग्रह करना आज भी दुष्कर है। इस दिशा में सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह भी है कि आदिवासियों की जीवनप्रद मौलिकता का युग भी एक प्रकार से बीत चुका है। संग्रह करने में जितनी देर हो रही है उतना ही यह कार्य कठिन होता जा रहा है।

संप्रति अध्ययन से अधिक आवश्यक है कि प्रत्येक ऐसी बोली में पाए जानेवाले अलिखित लोकसाहित्य को शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित किया जाय। यह काम एक दिन का नहीं है और न तो दस पाँच गीत लेकर राजधानियों में सौदेबाजी करने ही से यह काम होगा। इसके लिये किसी आदिवासी पत्र का संपादक होना उतना आवश्यक नहीं है जितना किसी गहन आदिवासी क्षेत्र में सामाजिक सेवक होना आवश्यक है।

श्री जगदीश त्रिगुणायत इस दृष्टि से फादर एलविन तथा आर्चर के बाद संभवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं। अब तक ये चालीस वर्षों के अपने जीवनकाल में संभवतः बीस वर्ष के लगभग वे मुंडा लोगों के बीच शिक्षणकार्य करते रहे हैं। स्वतंत्रता के बाद जब सब रास्ते दिल्ली और पटना की ओर जाने लगे तब भी उन्होंने शांतिपूर्वक अज्ञातवास ही स्वीकार किया। इतने दिनों के श्रम का परिणाम लेकर आज वे ऊपर उठे हैं तब पता लगता है कि आदिवासी क्षेत्रों के विशेषज्ञ संपादक इस विषय पर कितना कम अधिकार रखते हैं। श्री त्रिगुणायत जी के ही शब्दों में उनकी आकांक्षा के दर्शन करें। 'मैं इस विषय में भाग्यशाली रहा हूँ कि इन गीतपुष्पों को प्रकृत रूपों में जीवन की डालों पर झूमते हुए देख सका हूँ। इस क्षेत्र के प्रायः सभी सार्वजनिक कार्यकर्ता मेरे मित्र हैं। अपने कार्यक्षेत्र में पारिवारिकता का इतना प्रसार होना किसी भी अध्येता के लिये सौभाग्य की बात है। इस स्थिति के कारण मेरे अध्ययनक्रम में एक विशेष बात उपस्थित होती रही है। मेरे लिये यह संभव नहीं रहा है कि इस क्षेत्र से केवल गीतों को लेकर और जीवन की अन्य समस्याओं से अपने को अप्रभावित रखकर अपने अध्ययनकक्ष में वापस लौट जाऊँ। इससे मैं एक विशेष खतरे से बचा हूँ। सभ्यता और शिक्षा की बाढ़ में बह जाने से बचाने के लिये आदिवासियों के सांस्कृतिक उपकरणों, गीतों, कहानियों आदि को ले भागने की प्रवृत्ति मेरे मन में कभी नहीं आई।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकसाहित्य के अध्ययन का यही सही तरीका है। अपने मत के समर्थन में उनके गीतों को छापना या वर्तमान प्रचार कार्य के लिये उनमें दुनिया भर की समस्याओं का समावेश करना छिछली पत्रकारिता भले कही जाय, आदिवासियों की संस्कृति का इससे कुछ लाभ नहीं होने का। सन् १९४३ में आर्चर ने लिखा था कि एक युग पहले सारे आदिवासी गीतों को एक प्रकार का बकवास समझा जाता था। किंतु स्वयं आर्चर के समय में तथा उसके बाद यह विरोधी भाव समाप्त हो चुका था। सही या गलत जो भी प्रयत्न किए गए उनमें इन आदिवासियों के जीवंत और उन्मुक्त प्रेमोच्छ्‌वास का अंश कम से कम प्रकाश में आया। अधिकांश कार्य पादरियों द्वारा किए जाने के कारण जीवन के प्रति स्वीकृत की गई वर्जना के कारण यह कार्य यों ही स्वाभाविकता के साथ नहीं किया जा सकता था। जगदीश जी ऐसे सहृदय कवियों द्वारा किए जाने पर यह कार्य कितना मधुर हो सकता है इसका प्रमाण मुंडा गीतों का यह विशाल संग्रह है। मेरा ऐसा विचार है कि जिन गीतों को लिखने या प्रकाशित करने में छायावादी कवि जगदीश जी संकोच कर रहे हों तो भी वे मुंडा मुहावरों के साथ उन्हें प्रकाश में लाएँ। किसी भी भाषा की शक्ति उसके व्यंग्यसंकेतों तथा प्राणवान मुहावरों से आँकी जाती है। लोकबोलियों की सबसे बड़ी शक्ति भी यही छिपी होती है। इस सिलसिले में मैं जगदीश जी को नकेनवादी होने की सलाह दूंगा।*

— श्री ठाकुर प्रसाद सिंह

*

शिक्षा की समस्या

तालीम की बुनियादें

उक्त दोनों पुस्तकें शिक्षा की समस्या पर लिखे गए लेख अथवा दिए गए भाषणों के संग्रह हैं। गांधी जी के लेखों का संग्रह 'शिक्षा की समस्या' नामक पुस्तक में किया गया है जिसमें लेख काफी पुराने हैं। कुछ तो सन् १९१६ के हैं। इतने पुराने होते हुए उनके लेख आज भी उसी रूप से शिक्षा में रुचि रखने वाले व्यक्तियों के लिये मननीय हैं क्योंकि गांधी जी ने शिक्षा के जिस नए आधार, लक्ष्य और प्राप्ति को ध्यान में रखकर उसमें मौलिक परिवर्तन लाने के लिये अपनी सशक्त आवाज उठाई थी, वे आज भी हमारी शिक्षाप्रणाली में गृहीत नहीं हो सके हैं। गांधी जी एक ऐसे व्यावहारिक आदर्शवादी थे जिन्होंने शिक्षा को जीवन से अभिन्न माना और इस देश की परंपरा, प्रतिभा, वातावरण और आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए नई शिक्षाप्रणाली के प्रवर्तन के लिये अनवरत रूप से आंदोलन किया था। वास्तव में हमारे देश की शिक्षा जिस रूप में आज है कभी भी यथार्थ जीवन और राष्ट्रीय आत्मबोध के अनुकूल नहीं मानी जा सकती। इसका उद्देश्य तो केवल कुछ आरंभिक अक्षर ज्ञान कराकर विदेशी सत्ता के संचालन के लिये कुछ भारतीयों को तैयार करना था जो बुद्धि की गुलामी में पूर्ण निष्णात होकर अंध भक्ति के साथ ब्रिटिश सत्ता की चाकरी कर सकें। 'मेकॉले का सपना' शीर्षक लेख में गांधी

*बांसुरी बज रही, लेखक-जगदीश त्रिगुणायत, प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जी ने उसके एक पत्र को उद्धृत किया है जिसका कुछ अंश इस प्रकार का है 'हिंदुओं पर इस शिक्षा से होनेवाले असर का पार नहीं। अंग्रेजी शिक्षा पाया हुआ एक भी हिंदू कभी अपने धर्म में श्रद्धावान नहीं रहता। कुछ लोग एक युक्ति के तौर पर उसका नाम लेते रहते हैं, मगर ज्यादातर लोग धर्म के मामले में अपने को बिलकुल स्वतंत्र बताते हैं और कुछ ईसाई धर्म स्वीकार कर लेते हैं। मेरा यह पक्का विश्वास है कि हमारी शिक्षा की योजनाओं पर अमल किया गया तो आज से तीस साल बाद बंगाल के प्रतिष्ठित वर्गों में एक भी मूर्तिपूजक नहीं रहेगा...' इस उद्देश्य को लेकर चलनेवाली अंग्रेजी शिक्षा देश की प्रतिभा के सर्वांगीण विकास में कहाँ तक सहायक हो सकती है, सहज ही समझा जा सकता है। गांधी जी ने शिक्षा के क्षेत्र में भी उसके मूल मर्म को पकड़ा जो संयोगवश आज के शिक्षाशास्त्रियों के भी मत के सर्वथा अनुकूल है। उन्होंने बालक की शिक्षा का अर्थ केवल बुद्धि का विकास नहीं माना। शिक्षा का यह अर्थ बिलकुल एकांगी है। गांधीवाद के गंभीर और श्रद्धावान् चिंतक श्री मशरूवाला ने भी तालीम का अर्थ गांधी जी के ही अनुसार उसके व्यापक परिपार्श्व में किया है 'आज के जमाने में आत्मोन्नति और जनहित की दृष्टि से शिक्षा के हर एक विषय की—शरीर, इंद्रियों तथा बुद्धि के विकास की कितनी कीमत है, इसका ठीक ठीक हिसाब लगाने में ही तालीम की समस्या का हल छिपा हुआ है।' बालकों के लिये गांधी जी ने इंद्रियों की क्रियाशीलता के माध्यम से इस सर्वोन्मुखी विकास करनेवाली शिक्षा की आवश्यकता और उपयोगिता प्रतिपादित की। आज के सभी प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री छोटे बच्चों के लिये लर्निंग थ्रू डूइंग (क्रियाशीलता के द्वारा सीखना) के सिद्धांत को मानते हैं। गांधी जी ने इसी सिद्धांत को भारतीय जीवन की परिस्थितियों में ढाला। उन्होंने इस उद्योग में तकली या चर्खे को केंद्र मानकर उसके चतुर्दिक शिक्षा के ढाँचों को बनाने की सलाह दी। बच्चों को आरंभ से से ही पुस्तक ज्ञान में निष्णात बनाने का प्रयास उनके विकास की गति को निश्चित प्रतिहत करेगा, इसीलिये गांधी जी ने शिक्षा और उद्योग दोनों को अभिन्न कर बच्चों में स्वावलंबन, आत्मविश्वास और आंतरिक अभ्युदय के साथ बाह्य अभ्युदय के समन्वय की चेष्टा की। विनोबा जी ने एक पत्र में शिक्षा के इस आदर्श के साथ सहमति दिखाते हुए कहा है 'उद्योग+शिक्षण' यह द्वैती भाषा मुझे पसंद नहीं। मैं तो 'उद्योग=शिक्षण' ऐसा अद्वैती समीकरण मानता हूँ। शिक्षा के स्वावलंबी हो सकने में मुझे तनिक भी शंका नही।' (पृष्ठ ३३७) गांधी जी के शिक्षणसंबंधी आदर्श दृढ़ राष्ट्रीयता के साथ सच्ची आत्मोन्नति और देश की भौतिक समृद्धि की प्राप्ति के लिये प्रेरक थे। किंतु देश की स्वाधीनता के बाद तो उन विचारों और आदर्शों का मूल्य आज सर्वाधिक है। देश के लिये उपयुक्त नागरिकों के निर्माण का कार्य तो शिक्षा के ही माध्यम से होता है। आज भी शिक्षा की आधारशिला विदेशियों के ही निर्माण पर स्थित है। उसमें नैतिकता, निस्वार्थ सेवा, सामाजिकता और बंधुत्व का भाव कहाँ से उत्पन्न हो सकता है। स्वराज्यप्राप्ति के बाद देश के चरित्र का स्खलन जिस तीव्रता से हुआ है और हो रहा है, उसका एक बहुत बड़ा कारण आधुनिक शिक्षाप्रणाली है जो न्यस्त स्वार्थों की पूर्ति के लिये ही स्थिर हुई थी जिसमें केवल बुद्धिव्यसन की प्रधानता है। एक सिक्ख गुरु के कथन के अनुसार बुद्धि मनुष्य में सांप की मणि के सदृश है। साँप जैसे रात्रिकाल में उसके प्रकाश में कीड़ों और छोटे जीवों को पकड़कर उदरपूर्ति करता है उसी प्रकार केवल बुद्धिव्यवसायी बुद्धि द्वारा अपने ही सहजातीय मानव का शोषण करता है। उनके शिक्षासंबंधी सिद्धांत वर्धा-शिक्षा-योजना, बेसिक शिक्षा, नई तालीम आदि नामों से अभिहित हुए हैं किंतु वे आज भी उसी प्रकार व्यवहार से परे हैं जिस प्रकार उनके समय में थे। इस पुस्तक में उन्हीं विचारों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संग्रह है। अक्टूबर १९३७ में वर्धा में जो शिक्षापरिषद बुलाई गई थी उसके समक्ष गांधी जी ने अत्यंत कड़े शब्दों में अंग्रेजी को छोटे बच्चों के पाठ्यक्रम में स्थान देने की भर्त्सना की थी। उनके द्वारा उपस्थित विचारों में प्रथम विचार के कुछ अंश इस प्रकार हैं—

"शिक्षा की वर्तमान पद्धति किसी भी तरह देश की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकती। उच्च शिक्षा की तमाम शाखाओं में अंग्रेजी भाषा को माध्यम बना देने के कारण उसने उच्च शिक्षा पाए हुए मुट्ठी भर लोगों तथा अपढ़ जनसमुदाय के बीच एक स्थायी दीवार सी खड़ी कर दी है। इसकी वजह से जनसाधारण तक छन छन कर ज्ञान के जाने में बड़ी कठिनाई पड़ गई है। अंग्रेजी को इस तरह अत्यधिक महत्व देने के कारण शिक्षित लोगों पर इतना अधिक भार पड़ गया है कि प्रत्यक्ष जीवन के लिये उनकी मानसिक शक्तियाँ पंगु हो गई हैं और वे अपने ही देश में विदेशियों की भाँति बेगाने बन गए हैं।" (पृष्ठ ३६२) गांधीजी मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बना कर देश को एक बहुत बड़े अनावश्यक बोझ से मुक्त करना चाहते थे और साथ ही सामूहिक और समष्टिगत शिक्षा के ध्येय को पूरा करना चाहते थे। आज कितने दुर्भाग्य की बात है कि देश के गण्यमान्य कहे जाने वाले व्यक्ति इसी अंग्रेजी को मातृभाषा के रूप में इस देश में अनंत काल तक सुरक्षित रखना चाहते हैं। शोषण और स्थिर स्वार्थ को पोषण करने वाले ऐसे असामाजिक और राष्ट्रविरोधी तत्व और उनके विचार जिस प्रकार निर्भीकता के साथ प्रचारित किये जा रहे हैं वे हमारे राष्ट्रीय स्तर पर चारित्रिक पतन के द्योतक हैं। गांधी जी ने इन स्वार्थों द्वारा होने वाले देश के मानसिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक अपव्यय को बहुत पहले ही देखा। किंतु गांधी जी द्वारा प्रतिपादित उन असंदिग्ध सिद्धांतों को हम आज भी अपनी शिक्षाप्रणाली का अंग नहीं बना सके हैं, यह हमारे लिये दुर्भाग्य की बात है। मातृभाषा के माध्यम से किसी उद्योग के केंद्रीकरण का सिद्धांत भी सामाजिक और आर्थिक एकता की आवश्यक भूमिका के रूप में ही गांधी जी ने स्वीकार किया था। बच्चों को श्रम के महत्व का बोध कराना इसी ध्येय की पूर्ति में सहायक हो सकता था। उसी प्रकार चरित्र के विकास में भी यह क्रियाशीलता या उद्योगशीलता अत्यंत सहायक है। यह शिक्षा के आधुनिक सर्वोच्च सिद्धांतों के अनुकूल भी कहा जा सकता है।

अमेरिका के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री प्रो० ह्वाइट हेड ने अपनी पुस्तक द एम्स आफ एजुकेशन में शिक्षा और उसके उद्देश्य की व्याख्या की है कि शिक्षा ज्ञान के उपयोग की कला की उपलब्धि है (एजुकेशन इज दी एक्वीजीशन आफ द आर्ट आफ द युटिलाइजेशन आफ नालेज)। इस व्याख्या से भी यही स्पष्ट है कि शिक्षा केवल ज्ञान का संचय मात्र नहीं है वरन् अर्जित ज्ञान के उपयोग की कला है। उपयोग और कार्यान्वय के लिये यह आवश्यक है कि शिक्षा का माध्यम किसी न किसी उद्योग के द्वारा हो। केवल पुस्तकज्ञान के द्वारा ही उपयोग की कला का बोध नहीं हो सकता।

श्री मशरूवाला ने अपनी पुस्तक में शिक्षा के संबंध में कुछ तात्विक बातों का विवेचन किया है। उसमें उनका दृष्टिकोण मूलतः गांधीवादी ही है किंतु कहा नहीं जा सकता, स्वयं गांधी जी उन विचारों को किस सीमा तक स्वीकार करते। 'कल्पना शक्ति की तालीम' शीर्षक निबंध में उन्होंने कल्पना शक्ति को तीन भागों में बाँटा है – सर्जक, समाधानकारक और अनुभवशोधक। कवियों और उपन्यासकारों आदि की कल्पनाशक्ति को उन्होंने सर्जक माना है। सर्जक कल्पनाशक्ति के संबंध में उनके विचार विरोधी हैं। संभवतः इसमें उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कट्टर शुद्धीवादी (प्यूरिटन) दृष्टिकोण अपनाया है "फिर भी, सर्जक कल्पना के विकास को मैं तालीम का आवश्यक अंग नहीं मानता", "सर्जक कल्पना के लिये मेरी मुख्य आपत्ति यह है कि वह असत्य के कलंक से दूषित है। अवलोकन और अनुभव से ऐसा मालूम होता है कि सर्जक कल्पनाएँ करने की और सुनने की वृत्ति करने वाले और सुनने वाले दोनों को असत्य की ओर ले जाती है और दोनों को धोखा देती है।" उनके कथनानुसार कवि थोड़े समय के लिये उच्च और उदात्त भावों के साथ अपने को तद्रूप कर लेता है किंतु ज्यों ही भावना का यह आवेग मंद पड़ता है वह पुनः सामान्य व्यक्ति बन जाता है और इस प्रकार वह प्रेम, सत्य, दया आदि भावों का मजाक करने के लिये भी ललचाता है। 'यह मस्ती' केवल 'पुरुषार्थहीन और निकम्मी होती है।' काव्य और उपन्यास के रस को वे केवल 'मोह' मात्र मानते हैं। अपने मत के समर्थन में श्री मशरुवाला ने मांटेसरी के भी विचारों का उल्लेख किया है। कवि की कल्पनाशक्ति अथवा उपन्यास में दृश्य और वस्तुकल्पना को इतना तुच्छ निरर्थक और हानिकर मानने के लिये विद्वान लेखक ने जो तर्क दिये हैं, वे तर्क उन सभी साधनाओं और माध्यमों पर लागू होते हैं जिनके द्वारा व्यक्तिमानस के उन्नयन की चेष्टा की जाती है। भजन, प्रार्थना और आराधना भी तो केवल कुछ ही समय तक मनुष्य को उसके सांसारिक और भौतिक परिस्थिति से ऊपर उठाकर थोड़े समय के लिये आध्यात्मिक और ईश्वरीय अनुभूति को सुलभ बनाते हैं। इस प्रकार के निरंतर अभ्यास के द्वारा ही तो मनुष्य पर इनका स्थायी प्रभाव अंकित हो जाता है। कवि और उपन्यासकार अपनी उर्वर और उदात्त कल्पनाशक्ति के सहारे जिस अभिनव सौंदर्य का निर्माण करता है उसकी अनुभूति बालक को कराने से उसमें सौंदर्यबोध की जो सहजवृत्ति जागरित होती है, वह बच्चों के मानसिक और भावनागत संस्कार के लिये सर्वाधिक उपयोगी है। बच्चे के अंतःकरण में विद्यमान सर्जनकारी प्रतिभा के विकास और प्रस्फुरण के लिये काव्य और साहित्य का आस्वादन कराना नितांत आवश्यक है। चरित्रनिर्माण के लिये उदात्त गुणों और व्यक्तियों का कवि वर्णित चित्रण अपनी सहज प्रेषणीयता के कारण छोटे बच्चों के भावी चरित्र निर्माण में जितना सहायक होता है, उतना अनेक प्रवचन, उपदेश या दूसरे विधान कभी नहीं हो सकते। संभवतः मशरुवाला जी ने वस्तु-सत्य को ही एकमात्र सत्य स्वीकार किया है। काव्य और कला के भावसत्य के मर्म की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। गांधी जी से प्रश्न किया गया था कि संगीत का शिक्षा में क्या स्थान होना चाहिए। गांधी जी के उत्तर का कुछ अंश इस प्रकार है "यह दुख की बात है कि आजकल हमारे देश में आमतौर पर संगीत की उपेक्षा की जाती है। संगीत के बगैर सारी शिक्षा मुझे तो अधूरी ही लगती है। संगीत व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में मिठास लाता है। सांस को नियमन में रखने के लिये जैसे प्राणायाम की जरूरत है वैसे ही कंठ को संगीत की है।······संगीत गुस्से को ठंडा करता है और उसका सदुपयोग ईश्वर के दर्शन कराने में बड़ी सहायता देता है।······जीवन को संगीतमय बनाने का अर्थ उसे ईश्वर के साथ एकरस बनाना है।" गांधी जी ने संगीत के संबंध में जो विचार व्यक्त किए हैं वे काव्य और कल्पना पर भी लागू होते हैं। मनुष्य की पाशविक वृत्तियों के शमन और शोध के लिये जीवन में काव्य की आवश्यकता अनिवार्य है।

इस समय भी हमारे देश में शिक्षा की कोई एक सर्वसंमत या बहुसंमत प्रणाली नहीं बन पाई है। आधुनिक शिक्षा अत्यंत दोषपूर्ण है इसे सभी स्वीकार करते हैं। इसकी आधार-शिला अब भी अंग्रेजों की ही देन है। यह जब तक इस रूप में है, अपने देश के चरित्र और संस्कार के अनुकूल शिक्षा का संगठन हम नहीं कर सकेंगे। गांधीवादी शिक्षा - सिद्धांत जीवन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ शिक्षा का श्रमिक संबंध स्वीकार कर उसके संगठन की रूपरेखा स्थिर करने की चेष्टा करते हैं। निःसंदेह हमारी आज की बहुत सी समस्याओं के समाधान इसमें सन्निहित हैं।*

— मोतीसिंह

*

रेती के फूल

लेखक के पंद्रह निबंधों का यह संग्रह रोचक और विचारपूर्ण है। कवि दिनकर ने गद्य के क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का अच्छा चमत्कार दिखलाया है। उन्होंने सरल, भावाक्षिप्त शैली के माध्यम से भावजगत और वस्तुजगत के कतिपय तथ्यों का मनोरम प्रकाशन इन निबंधों के द्वारा किया है। कुछ निबंध व्यक्तिनिष्ठ निबंधकार की रौ में लिखे गए हैं। 'हिम्मत और जिंदगी', 'हृदय की राह', 'चालीस की उम्र', 'कर्म और वाणी' जैसे निबंध इसी शैली के हैं। इनमें कवि की स्फूर्तिमती अनुभूतियाँ संवेद्य बनकर प्रकट हुई हैं। अन्य निबंध समाज, साहित्य और संस्कृति की विवेचना से संबद्ध हैं। इनका धरातल भी प्रायः वैयक्तिक सा है और किसी एक मूल संवेदना को केंद्र मानकर चला है। दिनकर का स्वभावसिद्ध ओज और आर्द्रता सभी रचनाओं में व्याप्त है। जीवंतता और रोचकता इनकी अपनी विशेषता है। विशेषकर नवयुवक पाठकों से इसे एक बार पढ़ जाने की हम सिफारिश करते हैं।†

—वि० शं० मल्ल

हिंदी साहित्य का विकास और कानपुर

प्रचुर सामग्री के अभाव में हिंदी साहित्य का विस्तृत और प्रामाणिक इतिहास अभी प्रस्तुत नहीं हो सका है। अन्य बातों के साथ इस संबंध में इस बात की भी आवश्यकता है कि हिंदी साहित्य के उन्नयन में योग देने वाले विभिन्न केंद्रों की साहित्यिक गतिविधि और लेखकों के व्यक्तित्व तथा कर्तृत्व की विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की जाय। उदाहरण के लिये आधुनिक हिंदी-साहित्य का प्रामाणिक और विस्तृत इतिहास प्रस्तुत करना तभी संभव होगा जब कलकत्ता, काशी, प्रयाग, कानपुर आदि साहित्य के विशिष्ट केंद्रों का विशद साहित्यिक इतिहास प्रस्तुत हो। इस दिशा में श्री नरेशचंद्र चतुर्वेदी की प्रस्तुत रचना पहला प्रयत्न है और इस दृष्टि से हम इसका हार्दिक स्वागत करते हैं। श्री चतुर्वेदी ने कानपुर की साहित्यिक परंपरा का प्राचीन काल से लेकर अधुनातन काल तक क्रमबद्ध और विस्तृत उद्घाटन किया

*शिक्षा की समस्या, लेखक महात्मागाँधी तथा तालीम की बुनियादें, लेखक कि० घ० मशरूवाला, प्रकाशक, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद।

†रेती के फूल – लेखक रामधारी सिंह दिनकर; प्रकाशक अजंता प्रेस, पटना, मू० २)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। योग्य लेखक ने बड़े परिश्रम से महत्वपूर्ण सामग्री एकत्र कर दी है। इससे कानपुर के साहित्यिक और सांस्कृतिक महत्व का एक अच्छा चित्र प्रस्तुत हो गया है। कुछ त्रुटियाँ भी रह गई हैं। कहीं कहीं विचारों में कुछ अंतर्विरोध दिखाई देता है। कुछ विवरण ज्यादा प्रशस्तिमूलक हो गए हैं जिनका तथ्यपरक वर्णन मात्र अधिक अच्छा होता। फिर भी पुस्तक का महत्व असंदिग्ध है और लेखक का कार्य संवर्द्धना योग्य। आशा है यह पुस्तक अपने आप में उपयोगी प्रमाणित होने के साथ ही अन्य साहित्यिक केंद्रों के इतिहासलेखन के लिये प्रेरक भी होगी।*

— वि० शं० मल्ल

हिंदी गद्य : विकास और विमर्श

इस पुस्तक में हिंदी - गद्य के विकास का संक्षिप्त विवरण देने की चेष्टा की गई है। गद्य - पद्य की भेदक विशेषताओं को दिखाते समय लेखक ने ऐसी शैली का सहारा लिया है कि उसके जाल से विचारों को निकाल लेना कभी - कभी मुश्किल हो जाता है। आगे चलकर शैली कुछ बोधगम्य हो गई है। सामान्यतः पुस्तक से छात्रों को हिंदी - गद्य - साहित्य का संक्षिप्त परिचय मिल जायेगा। उपयोगी रचना है। विशेष समीक्षा आवश्यक नहीं है, फिर भी नमूने के तौर पर कुछ ऐसी बातों का निर्देश किया जाता है जो अगले संस्करण में सुधारी जा सकती हैं। भारतेंदु - युग के नाटककारों से प्रतापनारायण मिश्र को खारिज कर दिया गया है। यह अनुचित है। निबंध का परिचय देते हुए उनके वर्ग बनाए गए हैं —

क. दार्शनिक निबंध—'पूर्वी दर्शन तथा पश्चिमी दर्शन' ले० डा० देवराज, 'चार्वाक दर्शन' ले० बलदेव उपाध्याय।

ख. आर्थिक निबंध—'अर्थशास्त्र और उसके सिद्धांत' ले० भगवानदास अवस्थी। इसी तरह राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक तथा वैज्ञानिक विषयों पर लिखी गई पुस्तक को भी निबंध माना गया है। निबंध के संबंध में लेखक ने और क्या लिखा होगा इसका कुछ अंदाज इसी से लग सकता है। निबंधों के अनेक वर्गों में एक वर्ग है 'विकासवादी' निबंधों का। इसकी परिभाषा है—"जिसमें डार्विन सिद्धांत के अनुरूप किसी विकास की चर्चा हो।" उदाहरण "हमारे जानवर" लेखक कुँवर सुरेश सिंह।" और भी चमत्कारपूर्ण बातें हैं। कुछ उदाहरण—"पंडित रामचंद्र शुक्ल एक साथ कवि, कहानीलेखक और नाटककार थे।" (पृष्ठ ७३)। "शिलीमुख ने विस्मयोद्बोधक आलोचनाएँ लिखी हैं।" (पृष्ठ ७७)। प्रस्तुत पुस्तक की भाषा का विचार करने पर विस्मयोद्बोधन से लेकर स्तब्धता तक की कई मनःस्थितियों को पार करना पड़ेगा। आशा है अगले संस्करण का पूरा परिमार्जन हो जायेगा, तब पुस्तक और उपयोगी हो जायेगी।†

— प्रदीप

*हिंदी साहित्य का विकास और कानपुर – ले० नरेशचंद्र चतुर्वेदी, प्रकाशक – कानपुर इतिहास समिति, पटकापुर, कानपुर, डबल क्राउन सोलह पेजी, पृ० सं० ३८४, मूल्य ६)।

†हिंदी गद्य : विकास और विमर्श – –लेखक—चंद्रकांत बाली, शास्त्री, प्रकाशक – राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ संख्या १२०, मूल्य ३॥)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बंगला की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ

प्रस्तुत संकलन में बंगला के चौदह प्रसिद्ध कथाकारों की कहानियाँ अनूदित रूप में संकलित की गई हैं। पहले ही पृष्ठ पर 'प्रस्तावना' के भीतर अनुवादक ने लिखा है, "इन कहानियों से बंगला कहानियों की विचित्र माधुर्यता और स्निग्धता से पाठक परिचित हो सकेंगे।"—इस एक वाक्य से अनुवाद की भाषाशैली की खूबियों का अंदाज कर लेना चाहिए। प्रमाण अनेक हैं पर उद्धृत करने के लिये स्थानाभाव है। संकलित कहानियों की श्रेष्ठता या 'सर्वश्रेष्ठता' की कसौटी अनुवादक के शब्दों में यह है—"प्रस्तुत संकलन की कहानियों के निर्वाचन में मैंने कोई विशेष पद्धति का अवलंबन किया हो, ऐसी बात नहीं है। मुझे जिस लेखक की जो रचना अच्छी लगी उसी का रूपांतर कर दिया है।"—ऐसी स्थिति में संकलित कहानियों की श्रेष्ठता या 'सर्वश्रेष्ठता' नितांत संदिग्ध है। पर इसमें संदेह नहीं कि कहानियाँ मनोरंजक हैं। निर्विवाद रूप से इतना ही कहा जा सकता है। अनुवादों के संबंध में प्रकाशक यदि ठीक ठिकाने की योजना बनाकर काम करें तो अधिक अच्छा हो। भाषा के विषय में थोड़ा सतर्क होने की जरूरत है। अनुवाद की भाषा सहज प्रवाह से युक्त और व्याकरणिक त्रुटियों तथा शैथिल्य - दोष से मुक्त हो, इसकी कोशिश लेखक और प्रकाशक दोनों को करनी चाहिए। यह सबसे पहली और आवश्यक बात है। यों कहानी के सामान्य पाठकों को ये कहानियाँ पसंद आयेंगी, इनकी रोचकता निर्विवाद है, यह पहले ही कहा जा चुका है।*

— अजातशत्रु

साहित्य के साथी

इसमें हिंदी के नौ - दस प्रसिद्ध कवियों और लेखकों से साहित्यिक भेंट का रोचक विवरण है। श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' की पुस्तक 'मैं इनसे मिला' के ढंग की रचना है। कवियों और लेखकों के आत्मसंस्मरण और साहित्य तथा अपनी कृतियों पर प्रकट किए गए उनके विचार जितने ही रोचक हैं उतने ही ज्ञानवर्द्धक [illegible] की पुस्तकों से आलोचना के लिये भी सामग्री मिलेगी और नए लेखकों के लिये रोचक और प्रेरणादायक सूचनाएँ भी प्राप्त होंगी। पुस्तक की छपाई साफ - सुथरी है और गेटअप आकर्षक। अनेक चित्रों से सुसज्जित होकर और भी आकर्षक हो गई है।†

— क ख ग

*बंगला की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ – अनुवादक, राधेश्याम पुरोहित, प्र० राजपाल एंड संज, दिल्ली, पृ० सं० १७६, मू० २॥)

†साहित्य के साथी—लेखक—कैलाश कल्पित, प्रकाशक – नेशनल प्रेस, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या १४८, मूल्य २)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्व - ज्ञान

महाकवि ब्राउनिंग ने कहा है – 'जीवन में अर्थ है और इसी अर्थ का अन्वेषण ही मेरा आहार है।' मनुष्य निम्नकोटि के जीवों के समान विवेकहीन जीवनयापन नहीं करता। वह जानता है कि वह जीवित है और विचार करता है कि जीवन में जो अर्थ है उसका सबसे अच्छा उपयोग क्या है। विचारशीलता मानव - जीवन की मौलिक विशेषता है। तत्व - ज्ञान के मूल में भी मानव की यही विचारशीलता है और उसके विचार के विषय हैं जीवन और विश्व – ब्रह्मांड प्रतीति से परे जो निरपेक्ष सत् है उसे जानना ही तत्व - ज्ञान का ध्येय है।

आलोच्य पुस्तक में तत्व - ज्ञान जैसे विशद् विषय को पाँच परिच्छेदों में समेट कर 'गागर में सागर' भरने का प्रयास किया गया है। फलस्वरूप, तत्व - ज्ञान के कुछ प्रमुख प्रश्न, देश और काल (स्पेस एंड टाइम), प्रतीति और सत (अपिअरेंस एंड रियालिटी) आदि का उपयुक्त विवेचन नहीं हुआ है। पुस्तक के पृष्ठ १० में तत्व - ज्ञान के कुछ प्रमुख प्रश्नों पर विचार किया गया है। यहाँ पर आरंभ में लिखा है, तत्व - ज्ञान का उद्देश्य मानव अनुभव का समाधान है, यह कथन तत्वज्ञान के क्षेत्र को सीमित करता है और उसे मनोविज्ञान का पर्यायवाची बना देता है। तत्व - ज्ञान का उद्देश्य, बहुत हद तक मानव - अनुभव की समीक्षा करना है।

पुस्तक के अंत में एक पर्यायवाची शब्द - सूची (अंगरेजी से हिंदी) है। इसमें प्रचलित शब्दों की उपेक्षा की गई है और नए मनगढ़े शब्दों का संग्रह किया गया है। यद्यपि दार्शनिक पदों (टर्म्स) की हिंदी में कोई सर्वसंमत शब्दसूची नहीं है फिर भी प्रचलित शब्दों की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। प्रस्तुत शब्दसूची भ्रामक है और इसमें अर्थ का अनर्थ किया गया है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित शब्द पर्याप्त हैं—

कॉसमॉस—भूमंडल
नेचर—भूमंडल
एक्सपेरिमेंट—निरीक्षण
अब्जर्वेशन—परीक्षण
मैटीरियलिज्म—प्रकृतिवाद
पैसिविटी—आकांक्षा
सब्जेक्टिव—मानवी
फेनॉमेनन—प्रकटन

इत्यादि

इंस्टिंक्ट के लिये 'मूल प्रवृत्ति' 'मैटिरियलिजम' के लिये 'जड़वाद', पैसिविटी के लिये 'निष्क्रियता' आदि शब्द प्रचलित हैं। पुस्तक के अंत में अनुक्रमणिका का अभाव बहुत खलता है।

पुस्तक की भाषा सरल है और उदाहरण दैनिक जीवन के लिए गए हैं। तत्व - ज्ञान जैसे जटिल विषय का विवेचन बड़े रोचक ढंग से किया गया है। छपाई - सफाई अति उत्तम है। उत्तर प्रदेश सरकार की हिंदी परामर्श समिति द्वारा यह पुस्तक प्रकाशित हुई है। समिति का दावा है, 'यदि कोई व्यक्ति केवल हिंदी के माध्यम से ज्ञानोपार्जन करना चाहे तो उसका मार्ग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवरुद्ध न हो।' यह पुस्तक इस कमी को नहीं पूरा कर सकती। हिंदी की इस कमी को पूरा करने के लिये अपेक्षाकृत सुलिखित और तथ्यपूर्ण ग्रंथों की आवश्यकता है। फिर भी मैं समिति के सदुद्देश्य की सराहना करता हूँ।*

— गोपालचंद्र दास

अंगारे और फूल

इधर उर्दू की कविताओं को नागरी लिपि में छापने का जो सिलसिला चला है उससे उर्दू शायरी काफी लोकप्रिय हुई है। प्रायः भिन्न भिन्न कवियों की कविताओं को अलग अलग संगृहीत किया गया है। पर 'अंगारे और फूल' में विषयानुकूल अनेक शीर्षकों के अंदर भिन्न भिन्न कवियों की कविताओं का चयन कर श्री बहाउद्दीन अहमद ने एक नया रास्ता अपनाया है। इससे लाभ यह हुआ है कि एक ही विषय पर बहुत से कवियों की रचनाएँ एक ही स्थान पर मिल जाती हैं।

कठिन शब्दों के अर्थ पादटिप्पणियों में दे दिए गए हैं इससे पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है। मौलाना आजाद की विद्वत्तापूर्ण भूमिका ने पुस्तक को और भी महत्वपूर्ण बना दिया है। संग्रह का यह काम केवल परिश्रम का ही नहीं है इसमें संग्रहकार का हृदय भी लगता है। 'दिले बेताब को अल्लाह सलामत रक्खे।'†

— अजय

हिंदी गद्य का विकास

इस पुस्तक में छात्रों के लिये हिंदी - गद्य के विकास का परिचय दिया गया है। परिचय देने का ढंग अच्छा है। भाषा - शैली भी सुबोध है। छात्र पुस्तक से लाभान्वित होंगे। अगले संस्करण में सुधार की गुंजायश है। सुधार अवश्य होना चाहिए। सुधार योग्य स्थलों में से दो के नमूने देकर परिचय की समाप्ति करता हूँ—

१ - "सेवासदन" उपन्यास में विधवा-विवाह की प्रेरणा है।" पृष्ठ ६५

२ - "धूर्त रसिकलाल......'हिंदू गृहस्थ'......'आदर्श दंपति'......'बिगड़े का सुधार' उपन्यासों की रचना अयोध्यासिंह उपाध्याय ने की" पृष्ठ [illegible]

इन पर टिप्पणी व्यर्थ है। सार्थक बात इतनी ही है कि इस तरह की गलतियों का सुधार देने से पुस्तक की उपयोगिता बढ़ जायेगी।‡

— प्रदीप

*तत्व - ज्ञान—ले० डा० दीवानचंद, प्रकाशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ मूल्य ४) रुपये।

†अंगारे और फूल (उर्दू शेरों का विषयानुकूल संग्रह) बहाउद्दीन अहमद, प्रकाशक ज्ञान मंजिल पब्लिकेशंस, दरिया पुर, पटना – ४, मूल्य ७ रुपये ७५ नए पैसे।

‡हिंदी गद्य का विकास—ले० यज्ञदत्त शर्मा, प्रकाशक राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ संख्या क्रा० १४३, मूल्य २)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे संगीतरत्न

प्रस्तुत पुस्तक में पाँच अध्याय हैं। पहले अध्याय में शास्त्रकारों, द्वितीय में गायकों, तृतीय - चतुर्थ में वादकों और पाँचवें में नृत्यकारों की संक्षिप्त जीवनियाँ दी गई हैं। परिशिष्ट में कुछ शास्त्रकार, गायक तथा वादकों की जीवनियाँ संमिलित की गई हैं। इस तरह बहुत से कला - साधकों की साधनाओं, उनकी कलात्मक उपलब्धियों को एक स्थान पर एकत्र कर देना सचमुच ही परिश्रमसाध्य है। अधिक से अधिक कलाकारों के चित्र देकर पुस्तक की उपयोगिता और बढ़ा दी गई है।*

— चंद्रहास

साहित्य परिचय

प्रस्तुत आलोच्य पुस्तक पंजाब हिंदी साहित्य संमेलन की रजत जयंती के उपलक्ष्य में प्रकाशित की गई है। इसका संपादन हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ अनेक पत्र पत्रिकाओं के भूतपूर्व संपादक श्री भीमसेन जी विद्यालंकार ने किया है। पुस्तक ५ पाँच भागों में विभाजित है।

आरंभ में हिंदीप्रेमी प्रसिद्ध विद्वान् लेखकों के निबंध हैं। द्वितीय भाग में हिंदी गद्य के विकास का इतिहास है। तृतीय भाग में हिंदी के कहानीसाहित्य का समालोचनात्मक वर्णन है। चतुर्थ भाग में पंजाब में हिंदी पद्य एवं कविता का सोदाहरण इतिहास है।

अंतिम भाग में प्रसिद्ध पत्रकार श्री राणा जंगबहादुरसिंह, श्री यश एम० एल० सी० श्री संतराम बी० ए०, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक श्री जयचंद्र विद्यालंकार, श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकार, श्री पंडित अमरनाथ विद्यालंकार, शिक्षा मंत्री पंजाब, प्रो० इंद्र जी विद्यावाचस्पति, आचार्या लज्जावती जी और प्रो० प्रेमप्रकाश सिंह एम० ए, एवं पंजाब के प्राचीन हिंदी सेवी श्री जगन्नाथ पुच्छरत प्रभृति प्रतिष्ठित लेखकों के निबंधों से पुस्तक का महत्व बढ़ गया है।

ग्रंथ के आरंभ में हिंदी के प्राण देशबंधु राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास जी टंडन का भव्य चित्र है। पुस्तक हिंदी प्रेमियों विशेषतया पुस्तकालयों के लिये संग्रहणीय है। किंतु मूल्य कुछ अधिक प्रतीत होता है। ऐसी उत्तम पुस्तक के प्रकाशन के लिये श्री विद्यालंकार जी बधाई के पात्र हैं।†

— जगन्नाथ पुच्छरत

*

* हमारे संगीतरत्न, ले० लक्ष्मीनारायण गर्ग, प्रकाशक संगीत कार्यालय, हाथरस, मूल्य सजिल्द १५)।

† रजत जयंती स्मृति ग्रंथ – आकार रॉयल ८ पेजी, पृष्ठ संख्या २५४, मुद्रण गेट अप नयनाभिराम यथास्थान दर्जनों चित्रों से अलंकृत; श्री भीमसेन जी विद्यालंकार द्वारा संपादित और प्रकाशित; कपड़े की सजिल्द पुस्तक का मूल्य छह रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीन नए प्रकाशन

खड़ी बोली का आंदोलन

लेखक—श्री० डा० शितिकंठ मिश्र

आधुनिक हिंदी साहित्य में खड़ी बोली का एक महत्वपूर्ण स्थान है और खड़ी बोली का आंदोलन एक युगांतरकारी घटना है। हिंदी साहित्य को जनसाहित्य बनाने का श्रेय खड़ी बोली के आंदोलन को ही है। प्रस्तुत पुस्तक में खड़ी बोली के देशव्यापी प्रचार के विभिन्न रूपों की सम्यक् और गहन परीक्षा की गई है और उसके आंदोलन का सुसंबद्ध इतिहास भी प्रस्तुत किया गया है। डबल डिमाई १६ पेजी आकार में पक्की जिल्दयुक्त ६३५ पृष्ठों की इस पुस्तक का मूल्य केवल ७)।

रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना

लेखक—श्री डा० बच्चन सिंह

साहित्य के इतिहास में रीतिकाव्य की धारा ही हिंदी साहित्य की प्रमुख धारा मानी जाती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास के अतिरिक्त रीतिकाव्यों की विषयवस्तु में गहरे पैठकर उसकी अंतर्प्रवृत्तियों की मौलिक ढंग से मीमांसा एवं छानबीन बहुत कम हुई है। प्रस्तुत ग्रंथ में उसी कमी की पूर्ति का सफल प्रयास किया गया है। रीतिकाल की रीति कविताओं में प्रेम के जो विविध अध्याय मिलते हैं उनका मूल्यांकन वैज्ञानिक एवं नई दृष्टि से किया गया है। विद्वान् लेखक ने प्रेम के स्वरूप का मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय पद्धति पर विश्लेषण करके इस ग्रंथ को अत्यंत उत्कृष्ट बना दिया है। आकार डबल डिमाई १६ पेजी, पृष्ठसंख्या ५००, पक्की जिल्द, मूल्य ८॥) मात्र।

प्रतापनारायण ग्रंथावली

संपादक—श्री विजयशंकर मल्ल

आधुनिक हिंदी साहित्य के युगनिर्माण में भारतेंदु एवं तत्कालीन साहित्यकारों का बड़ा योग रहा है। उस युग के विधायकों में स्व० पंडित प्रतापनारायण मिश्र जी प्रमुख माने जाते हैं। मिश्र जी की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि वे बड़े कौशलपूर्ण व्यंग लिखते रहे हैं इनके व्यंगलेखों क[illegible] में छोटे पर घाव करने में बड़े तीक्ष्ण होते थे। भारतेंदु युग के साहित्यकारों की कृतियाँ पुस्तकालयों एवं पत्रपत्रिकाओं में कठिनता से प्राप्त होती हैं। हिंदी साहित्य के पाठकों को ऐसे उत्कृष्ट विद्वानों की कृतियाँ सुलभ हो सकें, इसी उद्देश्य से काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने दो खंडों में यह ग्रंथावली प्रकाशित करने की योजना बनाई। यह प्रथम खंड आधुनिक गद्य के विशिष्ट विद्वान् श्री विजयशंकर मल्ल जी से संपादित कराकर साहित्यप्रेमियों के लिये प्रस्तुत है। विद्वान् संपादक ने बड़े परिश्रम से अप्राप्य और जीर्ण पत्रपत्रिकाओं और ग्रंथों में पड़ी हुई सामग्री को संकलित कर व्यवस्थापूर्वक संपादित किया है। आकार डबल डिमाई १६ पेजी, पृष्ठ संख्या ४५०, पक्की टिकाऊ और आकर्षक जिल्द, मूल्य १०)।

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

प्रथम भाग

हिंदी साहित्य की पीठिका

संपादक – **श्री डा० राजबली पांडेय**

(प्रिंसिपल — भारती महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय)

विगत ५० वर्षों के भीतर हिंदी साहित्य के इतिहास की प्रचुर सामग्री उपलब्ध हुई है। देश के स्वाधीन और हिंदी के राज्यभाषा हो जाने की घोषणा के बाद हिंदी भाषा और साहित्य का क्रमबद्ध तथा विस्तृत इतिहास प्रस्तुत कर देना एक दो व्यक्तियों के बूते के बाहर की बात थी। यही समझकर इस कार्य को सभा ने अपने हाथों लिया और हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास को १७ भागों में प्रस्तुत करने की योजना बनाई। हिंदी के सभी चोटी के विद्वानों और हिंदी प्रदेश की सरकारों ने इस योजना को मान्यता दी, सभा को इन सबका सहयोग प्राप्त हुआ और राष्ट्रपति श्री डा० राजेंद्रप्रसाद जी ने आशीर्वाद देने की कृपा की। कार्य द्रुतगति से अग्रसर हो रहा है और प्रथम भाग – **हिंदी साहित्य की पीठिका** – प्रकाशित हो गया है। विशाल हिंदी साहित्य को वास्तविक रूप में हृदयंगम करने के निमित्त जिन आनुषंगिक विषयों का परिचय अनिवार्य है उन सब ऐतिहासिक तथ्यों का समावेश इस पीठिका भाग में कर दिया गया है जो निम्नलिखित पाँच खंडों में विभक्त है —

१ – भौगोलिक, राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति – श्री डा० राजबली पांडेय, २–साहित्यिक आधार तथा परंपरा–श्री डा० भोलाशंकर व्यास, ३–धार्मिक तथा दार्शनिक आधार और परंपरा–श्री पं० बलदेव उपाध्याय, ४–कला–श्री डा० भगवतशरण उपाध्याय और ५–वाह्य संपर्क तथा प्रभाव–श्री डा० भगवतशरण उपाध्याय।

विस्तृत अनुक्रमणिका . ८२५ पृष्ठ, रायल अठपेजी . ऐतिहासिक चित्र
पक्की जिल्द . ५।८० कागज . मूल्य केवल १८)

षष्ठ भाग — शृंगारकाल (रीतिबद्ध) — संपादक डा० नगेंद्र मुद्रित हो रहा है तथा अति शीघ्र प्रकाशित होगा।

प्रकाशक

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

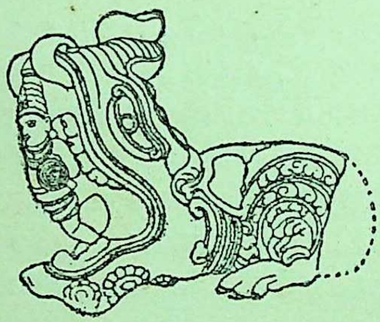

प्रकाशक — डा० राजबली पांडेय, प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
मुद्रक — महताब राय, नागरी मुद्रण, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

२१६१५६

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६३ संवत् २०१५ अंक २

★

संपादकमंडल

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : श्री करुणापति त्रिपाठी

डा० बच्चनसिंह (संयोजक)

सहायक संपादक

श्री राधाविनोद गोस्वामी

★

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वार्षिक मूल्य १०) : : इस अंक का २॥)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्रिका के उद्देश्य

१ – नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।
२ – हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।
३ – भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।
४ – प्राचीन-अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

सूचना

१ – प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२ – पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३ – पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४ – लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५ – पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६३
संवत् २०१५
अंक २

संपादकमंडल

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
श्री करुणापति त्रिपाठी
डा० बच्चनसिंह (संयोजक)

सहायक संपादक

श्री राधाविनोद गोस्वामी

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयसूची

१. संदेशरासक के विचारणीय पाठ और अर्थ (परिशिष्ट) — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ८६
२. तुलसीदासकृत रामचरितमानस के स्रोत और उनकी रचना —
सुश्री सी० वांदवील ... ६३
३. गुजरात की हिंदीसेवा — श्री अंबाशंकर नागर १२५
४. विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत शोधनिबंध — श्री कृष्णाचार्य ... १५३

विमर्श

हिंदी टंकणयंत्र का कुंजीपटल — डा० ब्रजमोहन १६७

चयन

धर्मसूत्रों का पुनर्निर्माण (हरीत) १७६

समीक्षा

हिंदी को मराठी संतों की देन — श्री परशुराम चतुर्वेदी १६६
हिंदी वक्रोक्तिजीवित — श्री करुणापति त्रिपाठी २०३
चार नए कहानीसंग्रह — डा० बचनसिंह २०६
उर्मिला — श्री विश्वंभर 'मानव' २१३
हिंदी नाटक — श्री राजदेव सिंह २१४
रेणुका, दिल्ली तथा नीम के पत्ते — श्री विद्याविनोद २१८-१६
लोकों का युद्ध — श्री क ख ग २२०

आवश्यक सूचना

वर्तमान वर्ष के अंक ३ – ४ का संयुक्तांक 'स्व० चंद्रबली पांडेय स्मृति अंक' के रूप में मुद्रित हो रहा है और अतिशीघ्र प्रकाशित होगा ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६३] संवत् २०१५ [अंक २

संदेशरासक के विचारणीय पाठ और अर्थ[1]

(परिशिष्ट)

हजारी प्रसाद द्विवेदी

१-१ जेणऽज्ज

दोनों ही टीकाकारों ने 'जेणऽज्ज' में 'अज्ज' का अर्थ शायद 'इत्यादि' समझा है, जो बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ता। इसको यदि 'आर्याः' (श्रेष्ठजनो) संबोधन मानकर अर्थ किया जाए तो अधिक उपयुक्त होगा। इसे बुधजन ('बुहयण') का विशेषण माना जा सकता है।

१-१६ मणुजणंमि

टिप्पणककार ने 'मणुजणंमि' का अर्थ किया है 'मनसि किमपि ज्ञात्वा' अर्थात् मन में जानकर। अवचूरिका में इसका अर्थ है : 'मनुष्यलोके'। ज्ञात होता है कि अवचूरिकाकार के संमुख 'मणुयजम्मि' पाठ रहा होगा। 'जम्म' या जन्म शब्द का अर्थ उन्होंने 'लोक' कर लिया है। हमने 'मणुयजम्मि' पाठ स्वीकार करना ज्यादा उचित समझा है। टिप्पणकार के संमुख शायद बी प्रति का 'मणु मुणेवि किंचिय पयासियउ' पाठ ही था। ज्ञात होता है दोनों टीकाकारों में से किसी ने 'मणुअजम्मि' पाठ नहीं देखा था।

१-२२ मयणमणह

दोनों टीकाकारों ने इसका अर्थ किया है 'मदनमनस्कानां' किंतु 'सी' प्रति में पाठ मिलता है 'मयणमहप्पहदीवयरो' इसका अर्थ होगा 'मदन के माहात्म्य को प्रकाशित करने

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६२, अंक ४ (संवत २०१४) के आगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाला। ध्यान देने की बात है कि 'कामिय मण हरु' अर्थात् 'कामियों के लिये मनोहर' पहले ही कह दिया गया है, अतएव फिर से 'मदनमनस्कानां' एक प्रकार से पुनरावृत्ति होगी। इस दृष्टि से 'मयणमहप्पहदीवयरो' अधिक उचित होगा।

२-४४ कयवरहिँ, अहिणवियअइ,

इसका अर्थ दोनों टीकाकारों में से किसी ने नहीं किया है। जान पड़ता है कि यह शब्द 'कृतिकर' या 'कृतकर' से बना है जिसका अर्थ 'मायावी जादूगर' और खेल तमाशा दिखानेवाला होता है।

'अहिणवियअइ' स्वीकार करने से एक मात्रा अधिक हो जाती है। 'ज' प्रति का 'अहिणवियइ' पाठ छंद और मात्रा दोनों दृष्टियों से उचित है। इसका अर्थ 'अभिनीत किया जा रहा है' होना चाहिए। टीकाकारों ने इसका अर्थ 'अभिनीयते' किया है। टिप्पणकार ने इसका अर्थ 'अभिनूयते' किया है जो कदाचित् स्तुत्यर्थक 'अभि' पूर्वक 'नू' धातु से बना है। 'प्राकृत शब्द महार्णव' में 'अहिनु' का अर्थ स्तुति करना या 'प्रशंसना' दिया हुआ है। संभवतः यही अर्थ ध्यान में रखकर अवचूरिका के लेखक ने 'उच्चार्यते' अर्थ किया है। लेकिन 'ज' प्रति का 'अहिणवियइ' पाठ स्वीकार कर लिया जाए तो इसका अर्थ बहुत स्पष्ट हो जाएगा। 'रामायणमभिनीयते' अर्थात् रामायण का अभिनय किया जा रहा है।

२-४८ णं ससिसूर णिवेसिय

इसका अर्थ टीकाकारों ने 'मन्ये शशि सूर्यौ गंडयोर्निविष्टौ' किया है। 'रेहइ' को छोड़ ही दिया है। 'रेहइ' का अर्थ है राजते अर्थात् 'शोभित होता है'। यह एक वचन की क्रिया है, इसलिये इसका कर्ता भी एकवचन का होना चाहिए। वस्तुतः 'ससि' अलग है और प्रथमांत है। 'सूर' अलग है और द्वितीयांत है। अर्थ हुआ, मानों चंद्रमा स्वयं सूर्य को गंडतल में निवेशित करके शोभित है। यहाँ चंद्रमा मुख का उपमान है और सूर्य विमल हँसी से उद्भासित आभा का।

२-६५ इक्कणि

मुद्रित प्रति में जो पाठ स्वीकार किया गया है उसकी प्रथम दो पंक्ति[illegible] है। किंतु 'ज' प्रति का पाठ इस दोष से रहित है। अंतिम दो पंक्तियाँ मुद्रित प्रति में [illegible] प्रकार है —

तिह हुंतउ हउं इक्किण लेहउ पेसियउ.
खंभाइत्तइं वच्चउं पहुआएसियउ ॥

दोनों टीकाएँ इसका अर्थ इस प्रकार देती हैं —

"ततोऽहं लेखवाहक एकेन प्रेषितः स्तंभतीर्थे प्रभा (भ्वा) दिष्टो व्रजामि" अर्थात् वहां मैं किसी एक व्यक्ति के द्वारा प्रेषित हुआ हूँ और स्वामी का आदेश पाकर स्तंभतीर्थ को जा रहा हूँ। इसमें कई शब्द विचारणीय हैं। 'लेहउ' का अर्थ लेख या लेखक हो सकता है 'लेखवाहक' नहीं। फिर 'इक्किण' का अर्थ किया गया है किसी एक के द्वारा और 'पेसियउ' का अर्थ किया गया है 'प्रेषित'। 'किसी एक के द्वारा भेजा गया हूँ' और 'प्रभु से आदिष्ट हूँ' ये दोनों बातें संगत नहीं हैं। प्रभु का जब आदेश है तब यही कहना चाहिए था कि प्रभु से भेजा गया हूँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर 'इक्किण' शब्द अनावश्यक हो जाता है। 'इक्किण' का कुछ और अर्थ होना चाहिए। आगे काव्य में पथिक बार बार कहता है 'मुझे जल्दी है'। इसलिये वह जिस काम से भेजा गया है वह ऐसा होना चाहिए कि उसके सिवा कोई दूसरा उसे न कर सके और जिसका किया जाना अत्यंत आवश्यक हो। टीकाओं से ऐसा कोई अर्थ प्रकट नहीं होता। 'बी' और 'ज' प्रति में 'इक्कणि' पाठ है जो ठीक जान पड़ता है। 'देशी नाममाला' में 'इक्कण' शब्द का अर्थ किया गया है 'चोर' (दे० ना० मा० १।८०)। इस प्रकार 'इक्कणि' शब्द का अर्थ हुआ 'चोरी वाला' जो लेख का विशेषण हो सकता है। 'चौर्य' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के सीक्रेट के अर्थ में संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त हुआ है। (तु० चौर्य-रत, चौर्य-प्रेम) इसलिये 'इक्कणि लेह' का अर्थ हुआ गोपनीय लेख (सीक्रेट डाक्यूमेंट)। ऐसे गोपनीय लेख सांकेतिक भाषा में लिखे जाते थे। ऊपर से उनका अर्थ और होता था लेकिन जानकार व्यक्ति उनका ठीक अर्थ समझता था 'प्राकृत' में 'उवेस' या 'उएस' शब्द 'उपदेश' के अर्थ में आता है—सरहे कियउ उवेस (सरहपा)। 'बी' प्रति और 'ज' प्रति के पाठ से अर्थ खुल जाता है 'इक्कणि लेह उवेसियउ' का अर्थ हुआ 'गोपनीय लेख में उपदेशित होकर'। भाव यह हुआ कि पथिक को कोई ऐसा लेख दिया गया है जो सांकेतिक भाषा में लिखा गया है। किसी दूसरे के हाथ में अगर वह लेख पड़ भी जाए तो वह उसका अर्थ नहीं समझ सकता।

यहाँ विशेष द्रष्टव्य यह है कि यद्यपि 'इक्कण' शब्द देशी ना० मा० में देशी शब्द के रूप में आता है, किंतु वह संस्कृत के 'एकायन' शब्द से बन सकता है। एकायन ऐसे मार्ग को कहते हैं जिसमें से एक ही आदमी निकल सके। कदाचित् इसी शब्द से 'एकायन लेख' का संबंध हो जिसका मतलब होगा ऐसा लेख जिसे कोई दूसरा न समझ सके बल्कि एक ही आदमी समझ सके।

२-७७ गरुअउ परिहउ किन सहउ पइ पोरिस निलएण

दोनों टीकाकारों ने 'पइ' का अर्थ 'त्वया' किया है और 'पोरिस निलयेण' का अर्थ किया है 'पौरुष निलयेऽपि सति'। 'पौरुषनिलएण' तृतीयांत पद होगा और उसे सप्तम्यंत नहीं किया जा सकता। यदि 'पोरिस निलए' से 'ण' अलग कर दिया जाए और 'पोरिस - निलए' इतने का ही अर्थ किया जाए तो ण का अर्थ अलग करना पड़ेगा 'ज' प्रति में 'किन सहउ' के स्थान पर 'किन सहउं; और बी प्रति में 'किम सहउ' पाठ है। 'परिहउ' के स्थान पर ए०, बी०, . प्रतियों में 'परिहसु' पाठ है। इस दोहे का उचित पाठ इन प्रतियों के पाठों के अनुसार इस प्रकार होगा —

गरुअउ परिहसु किन (किम) सहउ पइ पोरिस निलए ण
जिहि अंगिहिं तू विलसियउ ते दड्ढा विरहेण।

अर्थ होगा तुम्हारे जैसे पौरुष निलय के रहते हुए भी क्या मैं गुरुतर परिहास नहीं सह रही हूँ, कि जिन अंगों के साथ तुमने विलास किया वे विरह के द्वारा दग्ध किए जा रहे हैं।

ऐसा अर्थ करने में 'किन' या 'किम' को एक शब्द माना गया है जिसका अर्थ होता है, क्या। प्रथम पंक्ति के अंत का 'न' निषेधार्थक है। इस प्रकार के प्रयोगों की परंपरा अपभ्रंश और बिहारी आदि के दोहों में मिलती है —

गड़े बड़े छबि छाक छकि छिगुनी छोर छुटै न।
रहे सुरँग रँग रँग उहीं नह-दी महदी नैन॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२-८४ **अणियत्तखणं**

दोनों टीकाकारों ने 'अणियत्तखणं' का अर्थ 'अनिवृत्तलक्षणं' किया है जो मुद्रित प्रति में स्वीकृत पाठ के अनुसार ठीक नहीं लगता। 'ल' का लोप संभव नहीं है। जब दोनों टीकाकारों ने 'लक्षणं' अर्थ दिया है तो पाठ में कहीं न कहीं 'ल' अवश्य रहा होगा। 'ज' प्रति में 'अणियत्तखलं' पाठ है जिसका संस्कृत रूपांतर होगा 'अनिवृतस्खलनं' अर्थात् जिस जलवर्षण का स्खलन कभी निवृत्त नहीं होता। ऐसा ज्ञात होता है कि टीकाकारों के सामने 'अणियत्तखलं' न होकर 'अणियतलखं' पाठ था। उन्होंने 'लखं' का 'लक्षणं' कर लिया। परंतु अर्थ की दृष्टि से 'अणियत्तखलं' पाठ ही अच्छा है।

२-९९ **इक्कइ**

'इक्कइ' का अर्थ टीकाकारों ने 'एकं' किया है। किंतु इसे या तो तृतीयांत होना चाहिए या सप्तम्यंत और इसका अर्थ भी इसी प्रकार करना चाहिए। इसलिये इसका अर्थ होना चाहिए 'अकेले में' या 'अकेले से'; क्योंकि प्राकृत में 'इक्कु' या 'एक्क' शब्द 'अकेला' के अर्थ में प्रयुक्त होता है (पा० स० म० पृ० २३८)।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुलसीदासकृत रामचरितमानस के स्रोत और उसकी रचना[1]

सी० बांदवील

तुलसीदास की महत्ता और उनके काव्यों की विशेषतया रामचरितमानस की अतिशय लोकप्रियता के संबंध में जो आज तक भारत में उन्हें प्राप्त है, बहुत कुछ कहा जा चुका है। पश्चिम में महान भाषाशास्त्री और भारतीय विद्या के पंडित जार्ज ग्रियर्सन के शब्दों में वे 'भारत में उत्पन्न संभवतः सबसे महान कवि थे' (माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान, प्रस्तावना पृष्ठ २०)। भारतीय आलोचक मिश्र बंधुओं ने अपने 'मिश्रबंधु विनोद' में तुलसीदास को पहला स्थान दिया है और वह उचित ही है। यह श्लाघा का भाव उत्तरोत्तर बढ़ा है और गत बीस वर्षों में अनेक ग्रंथ और लेख ऐसे प्रकाशित हुए हैं, जिनमें तुलसीदास की प्रतिभा और 'रामचरितमानस' के सौंदर्य की प्रशस्ति हुई है, कभी कभी अतिशयोक्ति पूर्ण शब्दों में भी।

इस विषय में अर्वाचीन साहित्य की राशि पर ध्यान रखते हुए भी यह अचरज की बात है कि वास्तविक आलोचनात्मक कार्य जो अबतक हुआ है, बहुत ही कम है। आज भी कवि के व्यक्तित्व और उनके जीवन की घटनाओं के विषय में निश्चितरूप से शायद ही हमें कुछ ज्ञात है। उनके समकालीन प्रमाण और ऐतिहासिक सामग्री के अभाव के कारण ही प्रायः यह स्थिति है। उनका जन्म संवत् भी अनिश्चित है। डा० माता प्रसाद गुप्त ग्रियर्सन से सहमत हैं कि वह सं० १५८९ या १५३२ ई० था (गोस्वामी तुलसीदास, प्रयाग १९४६)। उनकी मृत्यु की तिथि भी अविदित है। पर अनुश्रुति के अनुसार १६२३ ई० मानी जाती है। उनके जीवन के विषय में प्रचलित अधिकांश वर्णन कथानक मात्र हैं। इसी प्रकार बहुत से ग्रंथ भी जो उनके लिखे कहे जाते हैं संदिग्ध हैं तथापि ग्रियर्सन द्वारा स्थापित सूची सभी आधुनिक आलोचकों द्वारा स्वीकार कर ली गई है। इस सूची में छह छोटे और छह बड़े ग्रंथ हैं, जिनमें रामचरितमानस, जिसे हिंदी रामायण भी कहते हैं, उनका सबसे विशिष्ट ग्रंथ है। इसके चौपाई छंद में रचे जाने के कारण कभी कभी 'चौपाई रामायण' भी कहा जाता है।

तुलसीदास के ग्रंथों में केवल चार में तिथि दी हुई है। सौभाग्य से रामचरितमानस इन चारों में से एक है। उसके कथारंभ में कहा है कि यह कल संवत् १६३१ (१५७४ ई०) में अयोध्या में शुरू हुआ। उसके समाप्त होने की तिथि ज्ञात नहीं। अयोध्या की एक अनुश्रुति के अनुसार यह सं० १६३३ अर्थात् दो वर्ष बाद समाप्त हुआ। पर ग्रंथ के कलेवर को देखते हुए यह बहुत संभव नहीं जान पड़ता।

'वाल्मीकि रामायण' की भांति 'रामचरित मानस' सात खंडों में विभक्त है, जिनके नाम वाल्मीकि के कांडों के समान ही हैं। केवल छठा वाल्मीकि के 'युद्धकांड' की जगह मानस में लंका कांड कहा गया है। पर ये नाम यद्यपि लोक में प्रचलित है तो भी वही नहीं है, जो स्वयं कवि ने अपने 'रामचरितमानस' के कांडों के लिये रखे थे।

१. अंग्रेजी से अनुवाद : श्री वासुदेवशरण अग्रवाल।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह विपुल काव्य ग्रंथ आनुपातिक परिमाण की दृष्टि से सुविहित नहीं ज्ञात होता, और रचना की दृष्टि से भी विचित्र जान पड़ता है। बालकांड नामक पहले खंड में जो सबसे बड़ा है (३६०० अर्धाली या पंक्तियों से अधिक) रामसंबंधी कथाओं के अतिरिक्त बहुत सी सामग्री है। दूसरा खंड अयोध्या कांड जो भारत में सबसे अधिक प्रशंसित है, बहुत बड़ा है। (३२०० अर्धाली से अधिक)। ये दोनों कांड मिलकर सारे काव्य के दो तिहाई के लगभग हैं। उनके बाद के अरण्य, किष्किंधा और सुंदरकांड अपेक्षाकृत बहुत छोटे हैं। अंतिम दो लंका और उत्तर मध्यम परिमाण के हैं। पर प्रायः सारा उत्तरकांड और बालकांड का पूर्वार्ध, रामकथा से बाहर के हैं।

रामचरितमानस की हस्तलिखित प्रतियाँ बहुसंख्यक हैं, पर सबसे अधिक रुचि की प्रतियाँ अक्सर पहुँच से बाहर है। राजापुर की सुप्रसिद्ध प्रति के विषय में जो बहुत दिन तक कवि के हाथ की लिखी मानी जाती रही, खासकर यही बात हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त और पं० रामनरेश त्रिपाठी ने, जो इस प्रति की परीक्षा करने में सफल हुए, सिद्ध किया है कि यद्यपि प्रति पुरानी है, पर स्वयं कवि के हाथ की लिखी नहीं है। इस प्रति में केवल अयोध्या कांड का पाठ है। संपूर्ण काव्य की सबसे प्राचीन प्रति जिसका वर्तमान में उपयोग किया जा सकता है, काशी की प्रति हैं, जो महाराज बनारस के पास सुरक्षित है।[२] यह सं० १७०४ (१६४७ ई०) की प्रति है, पर तो भी आजतक उपलब्ध प्रतियों के आधार पर तैयार किया हुआ रामचरित मानस का वस्तुतः संशोधित संस्करण नहीं है। नए संस्करणों में सबसे अच्छा इंडियन प्रेस का संस्करण (श्यामसुंदरदास की टीका सहित इलाहाबाद १९२७)[३] और गीता प्रेस का मानसांक संस्करण (गोरखपुर, १९३८) है, जिनका इस अध्ययन में उद्धरण देने के लिये उपयोग किया गया है।

टीका प्रायः अच्छी नहीं है और उनका उपयोग सोच समझकर करना चाहिए। जैसा ग्रियर्सन ने लिखा है, 'अधिकांश टीकाकारों की यह गहरी प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे कठिन स्थलों को बचा जाते है और सरलतम स्थलों का ऐसा रहस्यमय अर्थ करते हैं, जो कवि को कभी इष्ट नहीं था।' नई टीकाओं में श्यामसुन्दरदास की संभवतः सबसे अच्छी है। अभी तक किसी यूरोपीय भाषा में रामचरितमानस का पूरा अनुवाद केवल अंग्रेजी में ग्राउस कृत (१८९७) था, जो कई बार पुनर्मुद्रित हो चुका है। यह बहुत उपयोगी है, यद्यपि प्रायः मूल से हटा हुआ है और सरलता से रहित है। अंग्रेजी में हिल द्वारा किया हु- नया अनुवाद अभी निकला है। फ्रेंच में गर्सांदितासी (१८३९ ई०) का किया हुआ एक बहुत पुराना अनुवाद सुन्दरकांड का (सर्वप्रथम) था और हाल में अयोध्याकांड का सुश्री सी० वांदवील का, भूमिका और आलोचनात्मक टिप्पणियों के साथ प्रकाशित हुआ है (पेरिस १९५४)।

जार्जग्रियर्सन ने, जिन्हें तुलसीविषयक अध्ययन का आरंभकर्ता कहा जा सकता है सर्वप्रथम इस महान हिंदी कवि के ग्रंथों के अध्ययन में आलोचनात्मक शैली का उपयोग

२. रामचरित मानस की सबसे प्राचीन प्रति, 'हिंदुस्तानी', जनवरी १९३४।
३. तुलसीदास और उनकी कविता, प्रयाग १९३९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया। उनके 'तुलसीदास पर टिप्पणियाँ' (नोट्स आन तुलसदास') शीर्षक लेख ने जो १८९३ ई० में इंडियन एंटीक्वेरी में प्रकाशित हुआ था, एक प्रकार से मार्ग का परिष्कार किया। मिश्रबंधुओं ने उनका उपयोग किया। रामचरितमानस के स्रोत के प्रश्न और बाल्मीकि रामायण पर उसकी निर्भरता को इटली के विद्वान तेसीतोरी ने उठाकर उसपर लंबी समीक्षा अपने रामचरितमानस और रामायण (इल रामचरित मानस ए इल रामायण) शीर्षक लेख में की, जिसका अंग्रेजी अनुवाद इंडियन एंटीक्वेरी में प्रकाशित हुआ (१९१२ – १९१३, भाग ४१ – ४२) बालकांड के पूर्वार्ध और समस्त उत्तरकांड को जिनका बाल्मीकि की कथा से कुछ संबंध नहीं, अलग छोड़ कर तेसीतोरी ने यह दिखाने का प्रयत्न किया था कि तुलसीदास ने अपने काव्य के शेष भाग में वाल्मीकिरामायण का ही अधिक अनुगमन किया अतएव इसे ही रामचरितमानस का मुख्य आधारग्रंथ मानना चाहिए। अपनी बात सिद्ध करने के लिए तेसीतोरी ने बाल्मीकि के उन स्थलों की एक लम्बी सूची दी है जिनकी छाया उन्हें रामचरितमानस में दिखाई दी। उन्होंने यह भी निश्चय करने का दावा किया कि वाल्मीकि रामायण की तीन मुख्यधाराओं में से किस धारा का उपयोग तुलसीदास ने अपने काव्य के किस भाग में किया है। तुलसी की कथावस्तु और वाल्मीकि के कथानक में जो अनेक भेद हैं, उनका कारण तेसीतोरी के मत में हिंदी कवि की स्मृतिशक्ति की अक्षमता या अन्य कोई भ्रांति थी। तेसीतोरी ने स्वयं अपने मत को कुछ मर्यादा के साथ प्रकट किया था 'क्योंकि हमने केवल वाल्मीकिरामायण पर ही विचार किया है, इसलिए हमारी स्थापनाएँ स्वभावतः अस्थायी हो जाती हैं। हमें विदित है कि तुलसीदास ने अध्यात्मरामायण का भी उपयोग किया था, जो कि ब्रह्मांड पुराण का एक भाग है और रामायण का आध्यात्मिक पुनःसंस्कार है। जब उस स्रोत की भी परीक्षा हो लेगी, तब रामचरितमानस के स्रोतों में रामायण की प्राथमिकता का अंतिम निश्चय किया जा सकेगा। किंतु रामायण को जो प्राथमिकता यहाँ दी गई है, उसे किसी अंश में मर्यादित भी करना पड़े तो भी कुल की दृष्टि से हमारी संपूर्ण प्रमुख स्थापनाएँ बिल्कुल निश्चित पाई जायंगी।'

हमें ज्ञात है कि तुलसी ने स्वयं अपने काव्य के आरंभिक श्लोकों में अपने स्रोतों का उल्लेख किया है जिसमें उन्होंने कहा है कि वे रामकथा को विविध पुराण, निगम और आगमों के अनुसार तथा जो रामायण में कहा है, उसके अनुसार एवम् अन्य प्रमाणों के अनुसार (क्वचिदन्यतोऽपि) वर्णन करेंगे। 'अन्यतोऽपि' के अंतर्गत टीकाकार अध्यात्मरामायण का और कुछ सम्प्रदायों में मान्य रामायणों का जिनमें भुशुंडि रामायण भी संमिलित है और महानाटक 'हनुमन्नाटक' और 'प्रसन्न राघव' जैसे नाटकों का उल्लेख करते हैं। तेसीतोरी के अध्ययन की आलोचना करते हुए ग्रियर्सन ने उनके निबंध के अल्प प्रमाणित स्थलों का निर्देश किया है और यह संमति प्रकट की है कि तेसीतोरी ने रामचरितमानस के उन स्रोतों को पर्याप्त महत्व नहीं दिया, जो बाल्मीकि रामायण से बाहर के थे। ग्रियर्सन के अनुसार, इन बाहरी स्रोतों की समीक्षा से तुलसीदास और वाल्मीकि के ग्रंथों के पारस्परिक स्रोतों की व्याख्या तेसीतोरी की अपेक्षा अधिक सरल ढंग से की जा सकेगी।[४]

सब मिलाकर ग्रियर्सन के निर्देश का अनुगमन करनेवाले भारतीय आलोचकों ने राम-

४. रायल एशियाटिक सोसाइटी पत्रिका, १९१२ ई०, पृ० १९७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चरितमानस के स्रोतों के प्रश्न पर अधिक ध्यान नहीं दिया है। सबने कवि के विस्तृत अध्ययन की प्रशंसा की है और उनके द्वारा संस्कृत साहित्य के उपयोग पर अधिक बल दिया है। कुछ ने जैसे रामनरेश त्रिपाठी और शिवनन्दन सहाय[५] बिना अवतरणांक दिए हुए ऐसे स्थलों की सूचियाँ दी है, जिनसे संस्कृत साहित्य के प्रति गुंसाईं जी का ऋण प्रकट होता है। शिवनंदन सहाय ने अपनी पुस्तक के एक अध्ययन में रामचरितमानस की एक ओर वाल्मीकि से और दूसरी ओर अध्यात्म रामायण से तुलना की है। उनका प्रयत्न रोचक है, पर उन्हें तेसीतोरी के कार्य का पता न था और उनका विश्लेषण भी पल्लवग्राही है।

रामचरितमानस के अधिकांश नवीन आलोचकों ने उसकी रचना पर अध्यात्म रामायण के प्रभाव पर बल दिया है। रामनरेश त्रिपाठी और माताप्रसाद गुप्त के अनुसार तुलसीदास ने अपने कथानक का सारा भाग अध्यात्मरामायण से लिया है। माताप्रसाद गुप्त का तो यहाँ तक कहना है कि तुलसी ने मानस के आरंभिक श्लोक में जिस रामायण का उल्लेख किया है, वह वाल्मीकि रामायण नहीं, अध्यात्मरामायण ही हैं। 'तुलसीदास के ग्रंथ और उनका जीवन-चरित' नामक अपने ग्रंथ के अंतिम अध्याय में उन्होंने दार्शनिक और धार्मिक दृष्टि से रामचरितमानस का विनयपत्रिका और अध्यात्मरामायण के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया है।

इन कारणों से हमें भी ऐसा प्रतीत हुआ कि रामचरित मानस के स्रोतों के अध्ययन के लिये रामचरितमानस और अध्यात्मरामायण की सूक्ष्म तुलना आवश्यक है। वस्तुतः हमारे कार्य का वही मूलबिंदु था। 'तुलसी ने अध्यात्म रामायण से कितनी बार और कितना लिया है,' न केवल इसकी जाँच के लिये बल्कि तेसीतोरी के मतों की सत्यता जानने के लिये भी, ऐसा करना नितांत आवश्यक था। यह स्पष्ट है कि रामचरितमानस की कथा और मोटे तौर पर वाल्मीकि की कथा से मिलती है। इसके अतिरिक्त लोक में तुलसीदास वाल्मीकि के अवतार माने जाते हैं। अतएव एक अत्यंत सीमित अर्थ में कहा जा सकता है कि वाल्मीकि रामायण रामचरित मानस का उस अंश में प्रमुख स्रोतग्रंथ है जिस अंश में हिंदी रामायण वाल्मीकि की परंपरा पर निर्भर है। यह सभी मध्यकालीन रामायणों के लिये और विशेषतः अध्यात्मरामायण के लिये सत्य है। पर इस प्रश्न की खोज शेष रहती है कि क्या तुलसीदास ने सीधे वाल्मीकि से सामग्री ली और यदि हां तो कहाँ तक? वस्तुतः तेसीतोरी ने रामचरितमानस और वाल्मीकि कृत रामायण के जो सदृश स्थल संगृहीत किए थे, उनकी एक एक करके हमने परीक्षा की तो पता लगा कि उनमें से कम से कम आधे वाल्मीकि के समान ही अध्यात्मरामायण में भी हैं और अधिकांश के विषय में पूर्णतः यह निश्चय करना असंभव है कि इन दोनों ग्रंथों में से किससे तुलसी ने अपनी सामग्री उधार ली। और भी तेसीतोरी को जब रामचरितमानस के किसी अंश का सादृश्य वाल्मीकि रामायण की तीन धाराओं में से केवल किसी एक में प्राप्त हुआ तो उन्होंने स्वतः यह परिणाम निकाला कि तुलसीदास ने रामचरितमानस के उस विशेष अंश में उस धाराविशेष का प्रयोग किया था। वस्तुतः इनमें से अधिकांश स्थलों में वही अंश अध्यात्मरामायण में भी उपलब्ध है, और यह बिल्कुल संभव है कि तुलसी ने सीधे वहीं से उसका ग्रहण किया हो।

५. श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी का जीवन चरित्र, बांकीपुर १९१६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीत होता है कि तुलसी ने अपने कथानक का ठाठ अध्यात्म से ही लिया है, क्योंकि रामचरितमानस के बालकांड में जो शिव-पार्वती-संवाद है वह अध्यात्म रामायण की प्रस्तावना के रूप में शिवपार्वती संवाद से मिलता है। और भी, हिंदी काव्य के कई स्थलों में और विशेषतः अंतिम पाँच कांडों में शिव, पार्वती के प्रति रामकथा के प्रमुख वक्ता है। पर जैसा हम देखेंगे, रामचरितमानस के बालकांड में शिवपार्वती संवाद ऐसे ढंग से रखा गया है कि उसे कथा का वास्तविक आरंभ नहीं मान सकते। वह एक सौ सात चौपाई में आता है और वहाँ भी रामकथा का आरंभ नहीं होता, वह तो बहुत आगे १५७ वीं चौपाई से होता है, दोनों के बीच में विभिन्न स्रोतों से आई हुई कथाओं की एक लड़ी है, जिनमें से किसी के जोड़ की वस्तु वाल्मीकि में या अध्यात्म रामायण में नहीं है। बालकांड के उत्तरार्ध में और समस्त अयोध्या-कांड में (अर्थात् संपूर्ण काव्य के एक तिहाई से अधिक अंश में) शिव वक्ता के रूप में कहीं नहीं आते। अतएव, यह मानना पड़ेगा कि रामचरितमानस में शिवपार्वती संवाद, भले ही वह अध्यात्म रामायण से लिया गया हो अथवा नहीं, रामकथा के लिये कृत्रिम और अनिश्चित सा ठाठ ज्ञात होता है। वह समस्त काव्य के साथ संगत नहीं है, जो पुराण तंत्र की विशेषताओं से रहित है।

यद्यपि रामकथा के वर्णन में अध्यात्मरामायण, वाल्मीकिरामायण की 'सी' संज्ञक पाठ परंपरा का पालन करती हैं, तो भी कथा के सूक्ष्म प्रपंच अध्यात्मरामायण में प्रायः भिन्न है। जहाँ तहाँ अध्यात्मरामायण में वाल्मीकि से बाहर के प्रसंग भी हैं, जिनमें से अधिकांश रामचरितमानस में भी चले आए हैं और दोनों मूलग्रंथों की बारीक छानबीन से प्रायः ज्ञात होता है कि तुलसीदास ने अध्यात्म से ही अपनी सामग्री ली। साथ ही प्रायः ऐसा भी है कि रामचरित मानस में आते आते उन प्रसंगों का स्वरूप बदल जाता है और यहाँ वे नया महत्त्व प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार का स्वरूप परिवर्तन इसलिए रोचक है, क्योंकि इससे तुलसीदास के मन की प्रवृत्तियों और विशेष धार्मिक कल्पना शक्ति का परिचय प्राप्त होता है।[६]

अध्यात्मरामामण का प्रभाव रामचरितमानस के गीतिप्रधान और नीतिप्रधान भागों में अधिक स्पष्टता से लक्षित होता है। वस्तुतः अधिकांश 'स्तुतियाँ' और 'गीताएँ' जो मानस के कथाभाव में बिखरी हुई है, सीधे अध्यात्मरामायण से ली गई हैं। दोनों काव्यों में वक्ता, अवसर और उनके कथन के विषय एक समान हैं। फिर भी कभी कभी किसी कथन का सार विषय एक ग्रंथ में दूसरे से बहुत भिन्न हैं। परंतु उसमें भी स्वयं परिवर्तन से विशेष रूप में यह प्रकट हो जाता है कि हिंदी के महाकवि की धार्मिक और दार्शनिक विषयों में अभिरुचि या विमुखता किस प्रकार की थी।

अध्यात्मरामायण का प्रभाव, असमान रूप में ही सही, बालकांड के आरंभिक सौ दोहे छोड़कर और संपूर्ण उत्तरकांड को छोड़कर सारे रामचरितमानस पर है। किंतु तुलसीदास ने अपने ग्रंथ के एक या दूसरे भाग में और भी बहुत से स्रोतों से सहायता ली है। उनमें से जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, उन्हीं का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है।

६. एच० जैकोबी के वर्गीकरण के अनुसार ए० बी० सी० (रामायण, बॉन, १८९३) और भी देखिए कामिल बुल्के, रामायण की तीन पाठपरंपराएँ—(दी थ्री रिसेंशंस आफ दी रामायण, जर्नल आफ ओरियंटल रिसर्च, भाग १७, १९४१)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक विशेष महत्त्वपूर्ण शिवपुराण है, जो कि उपपुराण है और शैवपुराण से भिन्न है (जिसकी समानता 'वायु' से की जाती है) और जिसकी गणना कभी कभी अष्टादश महापुराणों की सूची में की जाती है। इस पुराण की दूसरी संहिता से, जिसका नाम रुद्र संहिता है, बालकांड के पूर्वार्द्ध में वर्णित आख्यानों को तुलसी ने लिया प्रतीत होता है, पर उन्होंने उनका कुछ संस्कार करके उनकी संगति अपनी रामभक्ति के मत से बैठी दी है।

संस्कृत नाटकों से भी बहुत सामग्री प्राप्त हुई—विशेषतः 'महानाटक' और 'प्रसन्नराघव' से। रामचरितमानस के आरंभ के श्लोक से जिसमें हनुमान की, जो महानाटक के काल्पनिक रचयिता हैं, वाल्मीकि के साथ रामकथा के वक्ता के रूप में वंदना की गई है, विदित होता है कि तुलसी के मन में इस प्रसिद्ध नाटक के लिये कितनी आस्था थी। प्रसन्नराघव जिसका तुलसी ने बालकांड के अंतिम भाग में और सुंदरकांड में अधिक उपयोग किया है, तार्किकरत्न जयदेव की रचना है जो 'गीतगोविंद' के गायक, बंगाल के जयदेव से भिन्न थे। कीथ के अनुसार इसकी रचना १२०० ई० के लगभग हुई। अध्यात्मरामायण के अतिरिक्त तुलसीदास को संप्रदायों की परंपरा में चली आती हुई कुछ रामायणों का भी परिचय था, जिनका संभवतः उन्होंने अपने ग्रंथ में उपयोग भी किया था। इनमें योगवशिष्ठ, अद्भुत और भुशुंडि रामायण का सबसे अधिक नाम लिया जाता है।

टीकाकार रामचरितमानस के स्रोतों में प्रायः भुशुंडि रामायण का उल्लेख करते हैं। श्री प्रबोधचंद्र बागची उसे अध्यात्मरामायण के स्रोतों से गिनते हैं। ग्रियर्सन का कहना है कि उन्होंने न तो भुशुंडि रामायण देखी और न उनका इसके अस्तित्व के विषय में ज्ञान है। यद्यपि इस समय वह अप्राप्य है किंतु यह मानने के लिये पर्याप्त कारण है कि भुशुंडि रामायण नामक ग्रंथ का अस्तित्व है, अथवा कम से कम वह तुलसीदास के समय में अवश्य थी। भुशुंडि नामक काग जो कि राम का महान भक्त है रहस्यात्मक व्यक्ति हैं। योगवशिष्ठरामायण में भी उसका प्रयोग है। योगवशिष्ठरामायण और मराठी की एकनाथीभागवत में तथा भक्तमाल में भी इसका उल्लेख है, पर आख्यान के विषय में उसके सिवाय जो तुलसी ने उत्तरकांड में बताया है, हम और कुछ नहीं जानते।

रामचरितमानस के आमुख भाग में एक स्थल में जो, जैसा कि हम देखेंगे, बाद में जोड़ा गया रामकथा के वक्ताओं में भुशुंडि का उल्लेख है जो कि पक्षिराज गरुड़ के सामने कथा सुनाते हैं। किंतु तथ्य यह है कि भक्त कागभुशुंडि वक्ता के रूप में तृतीय कांड से पहले दिखाई नहीं देते, अर्थात् रामचरित मानस के अंतिम एक तिहाई अंश में ही वे दर्शन देते हैं। तीसरे से छठे कांड तक प्रायः शिव ही वक्ता हैं, यद्यपि भुशुंडि कभी कभी दिखाई पड़ते हैं। इसके प्रतिकूल सातवें कांड में शिव भुशुंडि से भी बढ़ जाते हैं और वे रामचरितमानस संज्ञक राम कथा के प्रमुख वक्ता कहे जाते हैं। उत्तरकांड का अंतिम भाग भुशुंडि - कथा - परक है और वहीं रामभक्ति के संबंध में गरुड़ के साथ उनका संवाद दिया हुआ है। हमें लगता है कि उत्तरकांड का वह अंतिम भाग कुछ परिशिष्ट जैसा है, जो मूलकाव्य में पैबंद के समान जुड़ा हुआ है। उसके सामान्य भाव और स्वरूप से, तथा उसमें निर्दिष्ट सिद्धांतों की दृष्टि से भी उसका शेष ग्रंथ के साथ मेल नहीं बैठता। दूसरे और तीसरे से छठे कांड तक के कुछ स्थलों में जहाँ भुशुंडि वक्ता हैं, रामचरितमानस के इस अंतिम भाग के साथ कुछ सादृश्य दिखाई पड़ता है, जिससे अनुमान होता है कि वे भी उसी स्रोत से लिए गए हैं, जो भागवतपुराण से प्रभावित किसी सांप्रदायिक रामायण का था। यह संभाव्य प्रतीत होता है कि यह संप्रदायगत रामायण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भुशुंडि रामायण ही थी, जिसका टीकाकारों ने उल्लेख किया है। इस ग्रंथ की विषयवस्तु के संबंध में जानकारी नहीं है, इसलिये और भी शोचनीय है क्योंकि रामचरितमानस की रचना की कुछ विशेषताओं की और खासकर अंतिम कांड की संगति बैठाने के लिये इस प्रकार के ग्रंथ का अस्तित्व मानना ही पड़ता है।

भागवतपुराण का रामचरितमानस पर बहुत प्रभाव है, उससे कहीं अधिक प्रायः स्वीकार किया जाता है और उस पर बल देने की आवश्यकता है। तुलसी ने इस ग्रंथ से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जितनी अधिक सामग्री ग्रहण की, वह इस प्रसिद्ध पुराण को रामचरितमानस के मुख्य स्रोतग्रंथों में स्थान दिलाने के लिये पर्याप्त है। पर बात इससे भी अधिक है। इस प्रसिद्ध ग्रंथ ने विशेष रूप से रामचरितमानस की समस्त रचना को प्रभावित किया ज्ञात होता है। मानस ने बहुत अधिक अंश में उसकी भावात्मकता को आत्मसात कर लिया है।

इन मुख्य स्रोत ग्रंथों के अतिरिक्त और भी कितनी पुस्तकों से तुलसीदास को सामग्री मिली होगी। कुछ आलोचकों ने इस प्रकार के ऋणग्रहण की लंबी सूची दी है, किंतु अधिकांशतः उनके कथन का प्रमाण नहीं दिया जा सकता। और हमारा यह अध्ययन कुछ इस विषय में निःशेषीकृत भी नहीं है कि हम संपूर्ण रामचरितमानस की शल्यक्रिया करके यह निश्चित करने का प्रयत्न करें कि कवि ने किस पूर्ववर्ती ग्रंथ से कौन कौन से भाव या शब्द लिए हैं; ऐसा करना असंभव और व्यर्थ है। प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य दूसरी दिशा में है, इससे रामचरित मानस को और भी अधिक अच्छी प्रकार समझने में सहायता मिलनी चाहिए, विशेषतः इस काव्य के उद्भव, स्वरूप, उद्देश्य और अन्य विशेषताओं को जानने में।

यह जानना अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है कि तुलसीदास ने अपनी प्रेरणा कहाँ से ली, किंतु स्रोतों के साथ रामचरितमानस के तुलनात्मक अध्ययन का अधिक मूल्य इस बात में है कि उससे कवि की विशेष प्रतिभा और लेखक, विचारक एवं अनुभवकर्ता संत के रूप में उनकी मौलिकता प्रकट होती है। जिस विशेष विधि से तुलसीदास कुछ तथ्य और कुछ मतों और सिद्धांतों को स्वीकार करके उन्हें गौरव देते हैं और साथ ही साथ कुछ दूसरे सिद्धांतों को या तो वे परिवर्तित कर लेते हैं या बिल्कुल छोड़ देते हैं, उससे उनके अंतःकरण की निगूढ़तम प्रवृत्तियों का परिचय प्राप्त होता है।

स्रोतों का पृथक् पृथक् विवेचन किसी प्रकार महत्त्वपूर्ण नहीं है। हम पाते हैं कि कभी तुलसी एक स्रोत से प्रभावित होते हैं और कभी दूसरे से, और हम यह भी देखते हैं कि इस प्रकार की विविधता से उनके भाव, कथावर्णन, और कभी कभी शब्दावली और वाक्यविन्यास के चुनाव में भी पर्याप्त भेद हो जाता है। प्रायः उनके कारण वक्ता के चुनाव में और छंदों के चुनाव में भी भेद पड़ जाता है। स्रोतों के अनुकूल कभी स्वयं कवि वक्ता के रूप में आते हैं और कभी पौराणिक पात्र वक्ता बनता है। इस प्रकार के संयोग रामचरितमानस की रचना विधि के संबंध में मूल्यवान सूचना देते हैं। वे प्रकट करते हैं कि काव्य की रचना लगातार रूप में नहीं हुई, बल्कि उसे कई अवस्थाओं में से पार होना पड़ा होगा। हिंदी रामायण का जितना अधिक अध्ययन किया जाता है, उतना ही अधिक उसका रचनागत पार्थक्य सामने आता है, यद्यपि उसके कर्ता ने जोड़ों को छिपाने के लिये बड़े कौशल से काम लिया है, जिससे पाठकों पर उसकी एकसूत्रता की छाप पड़े। अतएव यह अनुभव होता है कि रामचरितमानस के स्रोतों का अध्ययन और उसकी रचना का अध्ययन एक संमिलित समस्या है, जिसपर अलग अलग विचार नहीं किया जा सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामचरितमानस के स्रोत और रचना के अध्ययन से तुलसीदास के निजी दार्शनिक मत का विवादास्पद प्रश्न अनिवार्यतः उठ खड़ा होता है, जिसे तुलसी मत कहा जाता है। वस्तुतः तुलसीदास को 'द्वैत' 'अद्वैत' 'विशिष्टाद्वैत' इन परंपराप्राप्त संप्रदायों में वर्गीकृत करना नितांत असंभव है, क्योंकि अपने रामचरितमानस के विभिन्न भागों में उन्होंने विविध मतों का प्रतिपादन किया है, तर्क द्वारा जिनकी परस्पर संगति नहीं बैठती। फलतः प्रत्येक आलोचक समस्या को पृथक् पृथक् रीति से प्रायः अपनी निजी रुचि के अनुसार सुलझाने का प्रयत्न करता रहता है। रामचरितमानस की दार्शनिक व्याख्या असमाधेय समस्या या अनबूझ पहेली रहती है, यदि हम इस ग्रंथ के स्रोतों पर विशेषतः अध्यात्मरामायण पर ध्यान नहीं देते, और यदि हम यह स्वीकार नहीं करते कि अमुक अमुक पात्र ने कथा प्रसंग में जो कुछ कहा है, वह उस विषय में ग्रंथलेखक की निजी संमति निश्चय नहीं है—यदि यह मान भी लिया जाय कि उनका कोई निजी सिद्धांत था। जैसा श्री माताप्रसाद गुप्त ने ठीक ही कहा है, कवि ने कितना जानबूझ कर अन्यत्र से लिया और कितना प्रासंगिक रूप से आ गया, इन दोनों में भेद करना प्रायः कठिन है। अतएव रामचरितमानस के किसी स्थल को पृथक् रूप से आधार मानकर उसके स्रोत का बिना विचार किए, मानस की दार्शनिक व्याख्या करना असंभव है। अधिकांश आलोचकों ने ठीक यही किया है और इसलिये कुछ आश्चर्य नहीं कि वे परस्पर नितांत विरुद्ध परिणामों पर पहुँचे हैं। रामचरितमानस की किसी भी व्याख्या में इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि इसका निर्माण पृथक् भागों के पारस्परिक संघटन से हुआ और वह क्रम अनेक वर्षों तक जारी रहा। जैसा हम देखेंगे, काव्य के प्राचीनतम भाग में जो अयोध्या में लिखा गया विषय और स्वरूप की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो काशी में लिखे गए बाद के भागों में नहीं मिलतीं। अतएव यह मानने का कुछ आधार है कि कवि के विचारों में विकास हुआ था।

रामचरितमानस के कथानक में पाए जाने वाले बहुत से प्रयोगों का कारण यह था कि कवि ने विरोधी मतों का समन्वय करना चाहा। उन्होंने ग्रंथ की प्रस्तावना में इस इच्छा का स्पष्ट उल्लेख किया है। रामानंदी और भागवत इन दो अर्द्धरूढ़ी धाराओं के संगम पर खड़े होकर तुलसीदास ने यह प्रयत्न किया कि उनके संमिलन से ठीक ऐसा शास्त्रानुमोदित धर्ममार्ग निर्मित हो, जो ब्राह्मणीय पुराण-धर्म और वेदांत के सर्वब्रह्मवाद इन दोनों आस्थाओं की रक्षा करे, और ऐसा करते हुए उन्होंने राम पर आश्रित अपने एकेश्वरवादपरक विश्वास से कोई बाधा नहीं आने दी। समन्वय, जो हिंदू का विशेष स्वाभाविक गुण है, तुलसीदास की वास्तविक विशेषता थी। उनकी यह समन्वयात्मक प्रवृत्ति और साथ में महती काव्यप्रतिभा ही हिंदी रामचरितमानस की बृहत सफलता और उसके अद्भुत प्रभाव का कारण है, जो उत्तर भारत की समस्त हिंदू जनता के मन पर मोहिनी की तरह पड़ा हुआ है।

तुलसीदास का अपना मत क्या था और अपने समकालीन अन्य दार्शनिक विचारों और धार्मिक मतों के साथ उसका क्या संबंध था इस प्रश्न का उत्तर विशेष कठिन है और उसके लिये एक पृथक् अध्ययन आवश्यक है। यहाँ हमने उसे सुलझाने का प्रयत्न नहीं किया क्योंकि हमारे विचार से रामचरितमानस के स्रोत और रचना का नियमित अध्ययन उस मार्ग का परिष्कार करेगा और जो समस्या अभीतक ठीक प्रकार से सामने नहीं आई है उसकी उद्भावना के संबंध की सामग्री प्रस्तुत करेगा। हम समझते हैं कि हमारा उद्देश्य भली प्रकार पूरा हो जायगा यदि हम यह दिखा सकें कि रामचरितमानस के लेखक ने अपनी प्रेरणा कहाँ से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्त की, किस प्रकार का ग्रंथ उन्होंने लिखने का विचार किया था, और वे वस्तुतः क्या लिख सके।

अब हम रामचरितमानस के आमुख भाग पर इस दृष्टिकोण से समीक्षा प्रस्तुत करते हैं।

रामचरित मानस का बालकांड, कथारंभ—

रामचरितमानस का प्रथम बालकांड परिमाण में बहुत विपुल है। इसमें ३६१ दोहे (लगभग ३७०० अर्धालियाँ) हैं अर्थात् समग्र ग्रंथ के एक तिहाई भाग से लगभग अधिक। न केवल उसका परिमाण वरन् उसकी रचना की जटिलता और उसमें एक सूत्रता का अभाव और भी ध्यान देने योग्य हैं। अतएव एक इकाई के समान समझकर उसपर विचार करना संभव नहीं। अपने विश्लेषण को स्पष्टतर बनाने के लिये हमने उसे कुछ भागों में बांटा है और प्रत्येक भाग पर अलग विचार करना आवश्यक होगा।

अध्याय एक — आमुख — बालकांड, दोहा १ - ४३।
अध्याय दो — शिवचरित — बालकांड — दोहा ४४ - १०४।
अध्याय तीन — शिवपार्वती संवाद — बालकांड दोहा १०५ - १२०।
अध्याय चार — अवतार के हेतु — बालकांड दोहा १२१ - १८४।
अध्याय पाँच — रामजन्म और बालचरित — बालकांड दोहा १८४ - २०५।
अध्याय छह — राम का यौवन और विवाह — बालकांड दोहा २०६ - ३६१।

आमुख (१ - ४३)

रामचरितमानस के पहले ४३ दोहे उसकी कथा के आमुख भाग हैं, जिसमें तुलसीदास ने अपने नाम की भणिति डालकर अपने काव्य का परिचय दिया है। जैसा कि ग्रियर्सन ने लिखा है, 'यह संपूर्ण ग्रंथ के अति विशिष्ट भागों में से एक है' (वर्नाक्यूलर लिटरेचर पृ० १८७)। इस भाग में समस्त काव्य के विषय में मूल्यवान सूचना पाई जाती है, जैसे उसकी रचना तिथि, उसके स्रोत, उसका उद्देश्य, उसके लिखने की भावना, ग्रंथलेखक का धार्मिक अभिप्राय और अपने एवं अपनी कला के विषय में उसके विचार। इस भाग में लगभग ४५० अर्द्धालियाँ हैं। यहाँ उसका संक्षिप्त विश्लेषण किया जाता है।

श्लोक	१ से ५	— वंदना, सरस्वती, गणेश, भवानी, शंकर, गुरु, वाल्मीकि, हनुमान, सीता।
श्लोक	६	— ईश्वरस्वरूप राम की वंदना।
श्लोक	७	— कवि का कथन कि भाषा में होते हुए भी उसका निबंध नाना पुराण निगमागम संमत है।
सोरठा	१ से ५	— वंदना का विकास। कवि गणेश, सरस्वतो, विष्णु, शिव और गुरु से प्रार्थना करता है।
दोहा	१ - २	— गुरुप्रशंसा, उनकी चरणरज की महिमा। रामचरितमानस को समझने के लिये गुरु - पद - रज का प्रभाव।
दोहा	२ - ३	— ब्राह्मण और संतों की वंदना। संतसमाज में होनेवाला आनंद और फलदायक होने के कारण उसकी प्रयाग से तुलना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोहा	४ - ७	— खलों की वंदना, जो सज्जनों से विपरीत होते हैं, जैसे दोष गुणों के प्रतिरूप हैं। दोष और गुण विधाता की सृष्टि में एक दूसरे के पूरक हैं। कवि सारे जगत को राममय जानता हुआ उसकी वंदना करता है।
दोहा	८ - १०	— कवि अपने आपको अपने कर्म के अनुपयुक्त समझता है और अपनी अयोग्यता के लिये क्षमा माँगता है। दुष्ट उसके काव्य पर हँसेंगे, पर सज्जन इसमें राम का भक्तिपूर्ण यश सुनकर प्रसन्न होंगे। उसके काव्य का मूल्य विषय की महिमा से है, जिससे ग्राम्यभाषा की त्रुटि का परिहार हो सकेगा।
दोहा	११ - १४	— तुलसीदास कवि की प्रेरणा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। कविता का जन्म इश्वरोपासना से होता है और काव्य का मूल्य बहुत कुछ उसके विषय पर निर्भर है। कवि पुनः अपने अवगुण स्वीकार करता है और अपने पूर्ववर्ती महान कवियों से प्रार्थना करता है कि वे प्रसन्न होकर उसे वरदान दें।
दोहा	१४ (सोरठा १ - २)	— तुलसी रामायण के निर्माता वाल्मीकि मुनि की, राम का यश गान करनेवाले चारों वेदों की और भवसागर के रचयिता ब्रह्मा की एवं सब देवता, ब्राह्मण और विद्वानों की वंदना करते हैं।
दोहा	१५ -१८	— सरस्वती और गंगा की वंदना, राम के भक्त शिव पार्वती की पुनः वंदना, शाबर मत्रों के निर्माता शिव का यशकथन, तुलसी को शिवकृपा की प्राप्ति और अपनी सचाई का आश्वासन। राम कथा के सब पात्रों की वंदना—कौशल्या, दशरथ, जनक, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, हनुमान, सुग्रीव, जाम्बवंत, अंगद रावण, पशुपक्षि, मनुष्य, असुर, देवता, आदि राम के सब उपासकों की वंदना, सनत्कुमार, नारद आदि सब मुनियों की वंदना और अंत में राम सीता की वंदना, जो 'कहियत भिन्न न भिन्न' हैं।
दोहा	१९ - २७	— कवि द्वारा रामनाम की महिमा का कथन। वह उन कथाओं का उल्लेख करते हैं। जिनसे राम नाम की महिमा प्रकट होती है। भगवान के नाम की बड़ाई और उसके गुण वर्णन स्वरूप विषयांतर। ब्रह्म के निर्गुण सगुण दो स्वरूपों से भी नाम बड़ा है। राम नाम की पावन शक्ति का कथाओं द्वारा निदर्शन। कलियुग में रामनाम की विशेष महिमा, वही कलिकाल में एक मात्र मोक्ष का अवलंबन है।
दोहा	२८ - २९	— कवि की राम में अगाध निष्ठा। राम ही हृदय का भाव पहचान कर उसपर कृपा करेंगे।
दोहा	३० - ३१	— रामकथा की उत्पत्ति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोहा ३२ - ३३ — रामकथा की महिमा और उसकी पापनाशिनी एवं पावन शक्ति का कथन। राम कथा का जन्म शिव-पार्वती संवाद से हुआ। इस कथा का विस्तार अपरिमित है।

दोहा ३४ — काव्य की तिथि का उल्लेख। इसका आरंभ अयोध्या में हुआ। रामचरितमानस नाम की व्याख्या जो शिव के द्वारा रखा गया था।

दोहा ३५ - ४३ — रामचरितमानस काव्य का परिचय और मानसरोवर से उसकी तुलना। उसके अंतर्गत विभिन्न कथा विभागों का उल्लेख, उनमें से प्रत्येक की मानसरोवर के रूपक के विविध अंगों से तुलना।

यह आमुख अनियत संख्या से युक्त चौपाइयों में लिखा गया है, जिनमें १० से १८ तक अर्धालियां हैं। चौपाइयों के अंत में एक की जगह दो दोहे हैं। १४वाँ छंद लंबाई में अपवाद रूप है। उसमें २६ अर्धालियां हैं। छंद १६ से २७ तक जिनमें रामनाम की महिमा है, समान विशेषताओं से युक्त इकाई है जिसमें चार चौपाइयों के बाद एक दोहा नियत रूप से आता है।

संस्कृत वंदना को अलग रखते हुए आमुख के दो प्रधान भाग पहचाने जा सकते हैं। पहलेमें १ से २६ तक कवि मनुष्यों और देवों में अनेक व्यक्तियों की वंदना करता है और उनकी कृपा चाहता है। वह अपने काव्य में त्रुटियाँ मानते हुए क्षमा याचना करता है। दूसरे भाग में ३० से ४३ तक वह रामकथा के उद्भव का कथन करके उसके नाम की व्याख्या करता है और उसकी महिमा का गुणगान करता हैं।

वंदना

काव्य के आरंभ के संस्कृत श्लोकों में तुलसीदास ने प्रथा के अनुसार सरस्वती, गणेश, भवानी और शंकर की वंदना की है। पुनः वे गुरु की वंदना करते हैं जो शंकर के अवतार है। और फिर कवियों के कवीश्वर अर्थात् वाल्मीकि और कपीश्वर हनुमान की वंदना करते हैं जो क्रमशः संस्कृत रामायण और महानाटक या हनुन्नाटक के रचयिता थे। इन दोनों को सीता और राम के गुणसमूह रूपी पवित्र अरण्य में विहार करनेवाला कहा गया है। इसके अनंतर राम की वल्लभा सीता की वंदना है जो संसार के उद्भव, स्थिति और नाश का कारण हैं। और सबसे अंत में राम की अथवा राम कहलाने वाले ईश्वर हरि की वंदना है। वे उस माया के अधिपति हैं जो विधाता ब्रह्मा और अन्य देवताओं के साथ अखिल विश्व को वश में रखती है।

छठे और अंतिम श्लोक में काव्य के स्रोतों का सीधा उल्लेख है —

नाना पुराण निगमागमसम्मतं यद्,
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा,
भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति।

इससे हम मान सकते हैं कि तुलसी का उद्देश्य राम की पवित्र कथा को इस रूप में प्रस्तुत करना था जो सुनने में अच्छी लगे और सबकी समझ में आ सके। इस कार्य का बीडा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने किसी दूसरे पक्ष समर्थन के उद्देश्य से नहीं बल्कि अपनी ही अंतारात्मा को प्रसन्न करने की आस्था से उठाया था। इसी कथन के साथ वे अपनी निष्ठा की भी घोषणा करते हैं। उनका काव्य श्रुतिसंगत है जिसमें कवि ने तंत्र (आगम) और पुराणों को संमिलित किया है। तुलसी का पुराणों को श्रुति के अंतर्गत मानना मध्यकालीन हिंदूधर्म के अनुसार ही था, जिसके धार्मिक विश्वास अधिकतः विभिन्न सांप्रदायिक पुराणों पर आश्रित थे। आगमों से तात्पर्य न केवल शाक्त से वरन् समस्त तांत्रिक साहित्य से था। रामचरितमानस में निगम और आगम का बराबर एक साथ उल्लेख आता है। निगम और आगम को एक दूसरे का पूरक कहा गया है (निगमागम गुण दोष विभागा, ११६ । ५)। ज्ञात होता है कि शिव ने पार्वती से जिस ज्ञान का प्रकाश किया उसे तुलसी एक प्रकार से 'दूसरा वेद' ही मानते हैं।

पुराण, आगम और निगम, ये श्रुति के प्रतिनिधि थे। दूसरी ओर 'कवि' पद स्मृति या अनुश्रुति का सूचक है। तुलसी इस परंपरा की खोज में रामायण तक जाते हैं अर्थात् उस प्रसिद्ध काव्य तक जो मुनि वाल्मीकि रचित कहा जाता है। ये वही वाल्मीकि हैं जिन्हें कवीश्वर कहकर आरंभ के श्लोक में तुलसी ने वंदना की है। संदर्भ से साफ प्रकट होता है कि यहाँ तुलसीका तात्पर्य और किसी दूसरी रामायण से नहीं हैं। अध्यात्मरामायण तुलसी की दृष्टि में श्रुति थी। क्योंकि सूत कथित होने के कारण उसमें पुराण के लक्षण हैं और शिव द्वारा पार्वती से कथित होने के कारण उसमें तंत्र के लक्षण हैं। यही बात उन सांप्रदायिक रामायणों के विषय में कही जा सकती है जिनका उपयोग रामचरितमानस के लेखक ने किया होगा। वे चाहे कितनी ही बाद की हों, रहस्यार्थ का गंभीर प्रतिपादन करनेवाली श्रुति के सदृश मान्य थीं।

वाल्मीकि रामायण पर अपने को निर्भर मानते हुए तुलसी ने यह स्वीकार किया है कि उन्हें कुछ सामग्री 'अन्यत्र' से भी मिली। हम समझते हैं कि इनमें मनु और भर्तृहरि की गिनती होनी चाहिए, क्योंकि काव्य भर में उनके उद्धरण पाए जाते हैं। इसी प्रकार रामकथा पर आश्रित हनुमन्नाटक और प्रसन्नराघव नामक नाटक 'क्वचिदन्यतोऽपि' की पृष्ठभूमि थे।

आरंभ के सात संस्कृत श्लोकों के बाद फिर पांच सोरठे आते हैं, जिनमें वंदना के विषय का ही विस्तार किया गया है। पहला सोरठा विघ्ननाशक गणेश के लिये है। दूसरा और तीसरा 'भगवान' के लिये—

मूक होइ बाचाल पंगु चढ़इ गिरिवर गहन।
जासु कृपा सो दयाल द्रवउ सकल कलिमल दहन॥
नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन वारिज नयन।
करउ सो मम उर धाम सदा छीर सागर सयन॥

यहां तुलसी एक भागवत के रूप में बोल रहे हैं। उन्होंने यहाँ राम का नाम नहीं लिया, किंतु उनका एकात्म्य भगवान् से किया है, जो कि भागवतों के परम देवता विष्णु के एकात्मरूप हैं।

चौथा सोरठा शिव परक और पांचवां गुरु परक है—

बंदउ गुरु पदपंकज कृपासिंधु नर रूप हरि।
महामोहतम पुंज जासु बचन रविकरनिकर॥

रामचरितमानस के प्रधान हस्तलेखों में और सब अर्वाचीन संस्करणों में 'पं० विजयानंद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रिपाठी का संस्करण छोड़कर) पहली अर्धाली के अंत में 'हरि' पाठ है। इसी आधार पर तुलसीदास ने गुरु का नाम प्रायः 'नरहरि' बताया जाता है।[७]

पर 'हरि' पाठ निश्चय रूप से अशुद्ध है। कुछ प्रतियों में दियां हुआ 'हर' पाठ तुक मिलाने के लिये (हर - निकर) आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अभी अभी शंकर का उल्लेख आ चुका है और पहले भी तीसरे श्लोक में तुलसीदास ने गुरु को शंकररूप कहा है (वंदे बोधमयं नित्य गुरु शंकर रुपिणम्)।

अंत में जैसा कि माताप्रसाद गुप्त ने कहा है — सोरठे का दूसरा पाद (महामोह-तमपुंज आदि) विनयपत्रिका के कुछ पदों का स्मरण दिलाता है। जहां निश्चित रूप से शंकर का वर्णन है।[८] अतएव इसमें संदेह नहीं कि तुलसीदास शिव को ही अलौकिक गुरु मानते थे।

किंतु शंकर के अवतार रूप में वर्णित ये मानवी गुरु कौन थे? आमुख के अन्य स्थल में तुलसी ने 'निज गुरु' का उल्लेख किया है (छंद ३० – दोहा १)। किंतु पाँचवें सोरठे में तीसरे श्लोक के जैसे संबंधवाची शब्द का अभाव है। पर यह निश्चित है कि दोनों स्थलों का एक ही व्यक्ति होना चाहिए जिसके वर्णन के लिये नित्य, बोधमय और 'नररूप हर' पद प्रयुक्त हुए हैं। अतएव संदर्भ में जिस व्यक्ति से तात्पर्य है, वे तुलसी के निज गुरु नहीं हो सकते। वरन् कुछ अंश तक पौराणिक कोई अन्य व्यक्ति हैं, जो मनुष्य होते हुए भी देवता रूप में वर्णित हुए हैं। हो सकता है रामानंद से[९] तात्पर्य हो जो रामानंदी संप्रदाय के संस्थापक और उसके आदि गुरु थे। वे जो कुछ भी हों इस सोरठे से तुलसीदास के गुरु की पहचान के बारे में कोई सूचना नहीं मिलती, और इस पर आश्रित विवाद निरर्थक है।

मानस के पहले छंद में सोरठे के ही भाव का विस्तार हुआ है। इसमें गुरु के चरणकमलों के रज की महिमा का वर्णन है, जिसकी उपमा विवेक की दृष्टि उत्पन्न करनेवाले अंजन से दी गई है। उसी प्रकार अपने ज्ञानचक्षु को पवित्र करके तुलसी रामकथा वर्णन करने चलते हैं। यहीं वंदन वाला अंश समाप्त हो जाता है और एक लंबा विषयांतर आरंभ होता है जिसमें आमुख का पूर्वभाग संमिलित है (१, २ – २९)।

आमुख का प्रथम भाग (२ – २९)

रामचरितमानस के आमुख का प्रथम भाग कुछ उसी प्रकार की निजी क्षमायाचना है, जैसी कालिदास के रघुवंश के प्रथम सर्ग में पाई जाती है (रघुवंश, १ । १०)।

७. ग्रियर्सन (इंडियन एंटिक्वेरी २२, १८९३ पृ० २६६) दो गुरु परंपराए देते हैं, किंतु उनकी विश्वसनीयता संदिग्ध है। देखिए श्री माताप्रसाद गुप्त, गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १४४ आदि।

८. श्री माताप्रसाद गुप्त, तुलसीसंदर्भ में विनयपत्रिका के ९, १०, १२, १३ पद का प्रमाण देते हैं।

९. गुरु की भगवान के रूप में पूजा कबीर पंथी और नानक के सिख धर्म की विशेषता थी। कबीर के वचनों में गुरु शब्द के दोनों अर्थ है, कभी सत्पुरुष के लिये और कभी वह कबीर के लिये प्रयुक्त होता है, पर जान पड़ता है कि उसी अंश में जिसमें कि ईश्वर की उसमें और उसके द्वारा अभिव्यक्ति हुई है। ऐसे ही नानक में भी गुरु ईश्वर ही हैं। (देखिए मैकोलिफ सिखधर्म १.५४) कबीर और नानक में गुरु मनुष्य न होकर ईश्वर का रूप है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत और असत् का भेद करनेवाले सज्जन मेरे इस काव्य को सुनें क्योंकि सोने का खरा या खोटापन आग में परखे जाने से ही प्रकट होता है।

तुलसी भी सज्जनों की प्रशंसा करते हुए उनके गुणों का परिगणन करते हैं। उनकी संगति में सबसे बड़ा लाभ है और नैतिक गुणों की परिपूर्णता है। पर हिंदी कवि साथ ही असाधुओं को नहीं भूलता (१।४।१)—

> बहुरि बंदि खल गन सति भाएं, जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ।
> पर हित हानि लाभ जिन केरे, उजरे हरष विपाद बसेरे।

इस प्रकार असाधुओं का स्वभाव वर्णन कर तुलसी साधु और असाधु को एक दूसरे का पूरक मानते हैं (१।६।२)—

> भलेउ पोच सब विधि उपजाए, गनि गुन दोप बेद बिलगाए।

दोनों के बीच में कोई बहुत निश्चित सीमा रेखा नहीं है। भाग्यवश सज्जन भी बुरा कर डालते हैं, असाधु भी कभी कभी भले काम कर देते हैं। भला बुरा, पाप पुण्य, परिस्थिति और संगति के वश होता है और वे एक दूसरे के पूरक हैं। अतएव भक्त तुलसीदास सब प्राणियों को प्रणाम करते हैं (१७ दोहा ३ – ४)—

> जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राम मय जानि।
> बंदउँ सबके पद कमल, सदा जोरि जुग पानि॥
> देव दनुज नर नाग खग, प्रेत पितर गंधर्व।
> बंदउँ किन्नर रजनिचर, कृपा करहु अब सर्व॥

यह कम संभव है कि तुलसीदास यहाँ किसी विशेष वर्ग के लोगों पर लक्ष्य कर रहे हैं। किंतु इन असाधुओं के प्रतिरूप जिनके अवगुण उन्होंने गिनाए हैं स्वयं उनके ही शत्रु हो सकते थे जो अकारण ही भलाई करनेवाले के साथ शत्रुता का व्यवहार करते हैं। क्योंकि खलों को दुश्चरित्र रूप और अनैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन करने वाले और 'हरिहर' के विरोधी कहा गया है अतः यह अनुमान हो सकता है कि इस प्रकार के दुष्ट लोग भक्त तुलसीदास का विरोध करते रहे होंगे। कुछ यह भी ध्वनि निकलती है कि उनमें से कुछ तुलसी के प्रति द्वेष-भावना से प्रेरित थे। (१।८।५-६)—

> हँसिहहिं क्रूर कुटिल कुविचारी। जे पर दूषन भूषन धारी।
> निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका।
> जे पर भनिति सुनत हरषाहीं। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं।

इस पर भी तुलसी अपने दोषों को स्वीकार करते हैं, और सच्ची विनय प्रकट करते हैं। रघुवंश के प्रथम सर्ग में कालिदास की विनयपरिपाटी के अनुसार है, पर तुलसी की विनय अधिक सच्ची है (१।८।२-५)—

> निज बुधि बल भरोस मोहि नाहीं। ताते विनय करउँ सब पाहीं।
> करन चहउं रघुपति गुनगाहा। लघु मति मोरि चरित अवगाहा।
> सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ।
> मति अति नीचि ऊंचि रुचि आछी। चहिय अमिय जग जुरइ न छाछी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बाल बचन मन लाई।
जो बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता॥

रामचरितमानस के लेखक के मन में इस बात की बहुत ग्लानि है कि उनकी बुद्धि की क्षमता बहुत थोड़ी है और उनके विषय का प्रकर्ष महान् है। किंतु उनकी संमति में विषय की यह उच्चता ही उनके काव्य को मूल्यवान बनाती है। राम का यशवर्णन ही इसका उद्देश्य है और इसलिये सज्जन राम नाम के यश को इसमें देखकर प्रसन्न होंगे। जो असज्जन हैं, वे भले ही हँसें, तुलसी को उसकी चिंता नहीं (१।६।३ - दोहा १०।१)—

प्रभुपद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हई कथा सुनि लागिहि फीकी॥
हरिहर पद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की॥ ३॥
राम भगति भूषित जियँ जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी॥
कवि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू॥ ४॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुन विविध प्रकारा॥ ५॥
कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे॥ ६॥
भनिति मोरि सब गुन रहित विस्व विदित गुन एक।
सो विचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह के बिमल बिबेक॥ ६॥
एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥

इस कथन में भक्ति से उत्पन्न होनेवाली काव्य प्रतिभा के संबंध में कुछ विचित्र विचार पाए जाते हैं। कवि उसे भगवान को समर्पित कर देना चाहता है, अथवा वह अपनी कृति को बिलकुल ही व्यर्थ मानता।

तुलसी ऐसे कुटिलता भरे युग में लिख रहे हैं, जब लोग बाहर से हंस और भीतर से कौवे के समान आचरण करते हैं। सच्ची भक्ति विरल है, सब जगह द्वेष फैला हुआ है। और तुलसी अपने आप को भी उस युग के प्रभाव से बाहर नहीं समझते (१।१२।४ - ६)—

तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धींग धरमध्वज धंधक धोरी॥ २॥
जो अपने अवगुन सब कहऊं। बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊं॥
ताते मैं अति अलप बखाने। थोरे महुँ जानिहहिं सयाने॥ ३॥
समुझि विविध विधि विनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी।
एतेहु पर करिहहिं जे असंका। मोहि ते अधिक ते जड़ मतिरंका॥ ४॥
कवि न होउं नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ।

इसमें केवल लकीर पीटने की बात नहीं है, वरन् कहीं अधिक गंभीरता है। निश्चय ही सच्ची भक्ति और भगवान् की सर्वोपरि महिमा की जाग्रत अनुभूति से ही इस प्रकार की अतिशय नम्रता की व्याख्या किसी अंश में की जा सकती है। किंतु उसका कारण लेखक का आत्मनिरीक्षण भी हो सकता है, जिसका यश अभी तक स्थिर न हुआ था और जो लोगों की संमति को चुनौती देने की तैयारी कर रहा था। ऐसा अनुभव होता है जैसे तुलसी निंदा के लिये तैयार कितने ही शत्रुओं से घिरे हों—अथवा कट्टरपन में प्रसन्न होनेवाले ब्राह्मण, भाषा कविता से द्वेष करनेवाले पंडित, धर्म अर्थात् भक्ति के शत्रु जिन्हें राम कथा में कोई रस न था ऐसे लेखक, और आलंकारिक जो संस्कृत काव्यशास्त्र की जटिलताओं से गर्वित थे, जिनके विषय में तुलसी अपना अज्ञान स्वीकार करते हैं, और अंत में उस प्रकार के तुक्कड़ जो सच्चे कवि को देखते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो उसको टांग लेने के लिए लपकते हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों ने जैसे उन्हें घेर रखा था। अतएव तुलसी सब ओर से अपनी रक्षा का प्रबंध करते हैं, कुछ को समझाकर और कुछ को प्रसन्न करके। और सबसे ऊपर वे अपने प्रयत्न का अपनी सच्ची नम्रता द्वारा समर्थन करते हैं, इस नम्रता में आत्मसंमान को छोड़ा नहीं गया है, और इसमें उन द्वेष करनेवालों के प्रति कुछ व्यंग्य भी है, जो दूसरों के दोषों को अपना भूषण मान लेते हैं।

अपनी इस क्षमायाचना में तुलसी कहते हैं कि मैं न कवि हूँ (कबि न होउँ) और न चतुर प्रसिद्ध हूँ (नहिं चतुर कहावउँ) और कविता के विभिन्न नियमों से भी अनभिज्ञ हूँ।[१०] ये कथन बहुत ही अपूर्व है। यह संभव नहीं कि वे इतने अज्ञ थे जितना कहते हैं। जिस ढंग से वे काव्य के अंगों की चर्चा करते हैं, उससे ही उनका कथन विपरीत सिद्ध हो जाता है। उनकी यह असत्यता रामचरितमानस के उन स्थलों से, जिनमें बढ़ा हुआ सौंदर्य और पर्याप्त मात्रा में अलंकारादि भी हैं, अन्यथा प्रमाणित होता है। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी उस कथन से यह सूचित कर रहे थे कि वे अपने काव्य को साहित्य के पचड़ों में नहीं बांधना चाहते। क्योंकि यह काव्य जनता के लिये था, जिसका उद्देश्य बुद्धि का कुतूहल नहीं, वरन् राम-भक्तों के चित्त को संतुष्ट करना था। दूसरे शब्दों में इस आमुख के पूर्वार्द्ध में तुलसी ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि वे उसी विषय पर दूसरा काव्य रचकर अपने से पूर्वकाल के महाकवि वाल्मीकि के साथ स्पर्धा करना नहीं चाहते थे। जब वे अपना कवि होना अस्वीकार करते हैं, तो संभवतः वे 'कवि' शब्द का सीमित अर्थ 'विद्वान या काव्य विशेषज्ञ' लेते हैं जो कि संस्कृत के विशेषण कवि शब्द (क्रांतदर्शी, प्रज्ञावान) का अर्थ था। वे अपने ग्रंथ को कभी काव्य नहीं कहते वरन् उसके लिये अपेक्षाकृत कम गौरवपूर्ण एक साधारण सा शब्द कवित्त या कविता, प्रयुक्त करते हैं। उदाहरण के लिये दसवें दोहे के छंद में तुलसी का कथन है कि राम की महिमा ने उनकी भद्दी कविता की नदी को (क्रूर कविता) को पवित्र गंगा के समान बना दिया है।

अपने विरोधियों से इस प्रकार अपने ग्रंथ की रक्षा करके फिर अपने से पूर्ववर्ती महा-कवियों का ऋण स्वीकार करते हैं, जिससे उनका कार्य सरल हो गया है—

मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहिं मग चलत सुगम मोहि भाई।
अति अपार जे सरितवर जौं नृप सेतु कराहिं।
चढि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं।

एहि प्रकार बल मनहिं देखाई। करिहउँ रघुपति कथा सुहाई॥
ब्यास आदि कबि पुंगव नाना। जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना॥
चरन कमल बंदउँ तिन्ह केरे। पुरवहुं सकल मनोरथ मेरे॥

वेद, महाभारत और पुराणों के कल्पित कर्ता व्यास एवं वाल्मीकि महान और देव-कल्प पूर्वज थे, जिन्होंने तुलसी के समान लघु पिपीलिका के लिये मार्ग बनाया था। उनके बाद रामचरितमानस के कर्ता ने अपने से तुरत पूर्व में होनेवाले कलियुग के कवियों का उल्लेख किया है—

१०. इसी प्रकार की बात पार्वती मंगल की भूमिका में कही गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कलि के कबिन्ह करउँ परनामा । जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा ॥
जे प्राकृत कबि परम सयाने । भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने ॥
भए जे अहहिं जे होइहहिं आगें । प्रनवउं सबहिं कपट सब त्यागें ॥
होहु प्रसन्न देहु बरदानू । साधु समाज भनिति सनमानू ॥

वे प्राकृत अर्थात् केवल मानवीय कवि जिन्होंने भाषा में हरिचरित का बखान किया था, तुलसी से तुरंत पूर्व में हुए थे या उनके समकालीन ही थे, यह उल्लेख इतना अनिश्चित है कि उनकी पहचान के विषय में इससे कल्पना करना उचित नहीं । यह भी ज्ञात नहीं कि उन्होंने किस भाषा में लिखा था और उनका भी संबंध राम से था या नहीं । 'हरि' विष्णु का ही पर्याय है, और हरि का गुणगान करने वालों में कृष्णचरित के कवि भी आ जाते हैं, जिनमें तुलसी के समसामयिक सूर सबसे प्रसिद्ध हैं । यदि तुलसी ने उन प्राकृत कवियों के समूह का उल्लेख करने की सावधानी बरती है, तो इसीलिये कि वे किसी को भी विस्मृत करना नहीं चाहते थे । किंतु वे उनका कोई ऋण स्वीकार नहीं करते, केवल उनके प्रति संमान और प्रेम प्रकट करते हैं और उनकी श्रेणी में संमिलित होना चाहते हैं, जिससे उनकी कविता को भी, यद्यपि वह भद्दी है, साधुसमाज में अर्थात् हरिभक्तों में संमान प्राप्त हो—

करहु कृपा हरि जस कहउँ पुनि पुनि करउँ निहोर । (१४ ख) ।

प्राकृत कवियों के विषय का कथन १४ वें छंद के दूसरे दोहे पर समाप्त हो जाता है । पर वह छंद बहुत ही लंबा है । उसमें ६ चौपाई, ३ दोहे और ३ सोरठे और एक और दोहा अर्थात् कुल ३६ अर्धाली हैं जब कि आमुख के दूसरे अधिकतया लंबे छंदों में ३६ अर्धालियों से अधिक नहीं हैं ।

इस छंद के तीसरे दोहे से विचारधारा कुछ विच्छिन्न जान पड़ती है । तुलसी पुनः कवि और मुनियों के विषय में कहने लगते हैं और राम के चरित्ररूपी मानसरोवर के सुंदर हंसों से उनकी तुलना करते हैं । यह संकेत 'रामचरितमानस', इस नाम की ओर जान पड़ता पड़ता है, यद्यपि इस नाम का उल्लेख और व्याख्या अब तक कहीं आई नहीं है । इसका उल्लेख और व्याख्या तो छंद २४ में आमुख के उत्तरार्ध में आएगी ।

१४वें छंद के पहले सोरठे में वाल्मीकि की पुनः बंदना है—

बंदउँ मुनिपद कंज रामायन जेहिं निरमयउ ।
सखर सुकोमल मंजु दोष रहित दूषन सहित ॥ (१४ घ) ॥

यह भी अप्रत्याशित है, क्योंकि वाल्मीकि और रामायण का उल्लेख पहले ही वंदनाप्रसंग में आ चुका है । और वाल्मीकि की गणना तो उन प्रसिद्ध 'मुनियों' और 'कविपुंगवों' में हो ही जाएगी जिन्होंने हरिचरित का गान किया है और जिनका उल्लेख १३ वें छंद में और १४ वें छंद की पहली चौपाई में अभी हो चुका है । वाल्मीकि के पुनः उल्लेख का तुलसी के पास कोई कारण ज्ञात नहीं होता, सिवाय इसके कि उन्होंने आशा के विपरीत रामायण के संबंध में अपनी सूक्ष्म कल्पना के अनुसार ढाली हुई एक पंक्ति से परिचित कराना आवश्यक समझा हो । इस पंक्ति में उन्होंने कहा है कि रामायण सुकोमल (करुण रस से पूर्ण) और सखर (कठोर, भयंकर और खर नामक राक्षस के सहित) है एवं साथ ही 'दोष रहित' और 'दूषन सहित' (दोष से मुक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि राम कथा के आरंभ में ही राम के अन्यायपूर्ण वनगमन की कथा आती है)।[११] यहाँ तुलसी ने सच्चे कवि की वाक्चातुरी का परिचय दिया है। ऐसे वैदग्ध्यपूर्ण स्थलों से तुलसी के पहले कथन का खंडन होता है और आमुख के इस भाग की सीधी सरल शैली से उसका मेल भी नहीं बैठता।

चौदहवें छंद का दूसरा सोरठा वेदों की वंदना करता है, जो संसार सागर से तरने के लिये बोहित के समान है। तीसरे सोरठे में तुलसी ने ब्रह्मा का स्मरण किया है, जो भवसागर का निर्माण करने वाले हैं और जिनसे अमृत, चंद्रमा और कामधेनु के समान एवम् विष और वारुणी के समान रत्न उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्मा का उल्लेख वंदना के प्रसंगों में नहीं आया। किंतु छंद संख्या छह में प्रसंग से जड़ - चेतन और गुण - दोषों के कर्ता के रूप में उनका उल्लेख आ गया है। यदि कवि उनकी वंदना करना चाहता, तो इतनी देर तक ठहरने की क्या आवश्यकता थी। शायद जो बात वे पहले भूल गए थे, उसका वे सुधार यहाँ कर रहे हैं। किंतु अनुमानतः यह एक नए अलंकार से काव्य को सजाने के लिये ही है जिसमें संसार रूपी सागर की तुलना सुविदित क्षीरसागर के मंथन के साथ की गई है। इसके विपरीत इसी छंद के अंतिम दोहे में श्लेष या अलंकार नहीं है। किंतु उसमें पूर्वकथित दूसरे छंद के दूसरे दोहे में सीधे सादे ढंग से कही गई प्रार्थना की ही पुनरावृत्ति है।

इस विश्लेषण से विदित होता है कि चौदहवें छंद की अंतिम दस अर्धालियाँ प्रस्तुत छंद से ठीक मेल नहीं खातीं। जिन विशेषताओं की ओर हमने अभी ध्यान दिलाया है वे इस कल्पना को जन्म देती हैं कि ये दस पंक्तियाँ छंद की रचना के बाद उसमें जोड़ी गईं। संभवतः उसी समय जब कथामुख का उत्तरार्ध रचा गया। मूल में चौदहवें छंद में छह चौपाई और दो दोहों से अधिक न थे।

कथामुख का पूर्वार्ध जैसा कि हम देख चुके हैं मुख्यतः क्षमायाचनापरक है। फिर भी धार्मिक कल्पनाओं का उसमें अभाव नहीं है। कवि ने अपने धार्मिक विचार विषयांतर के रूप में परंतु बहुत ही स्वाभाविक रीति से आत्मीय शैली में व्यक्त किए हैं—

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥
तहाँ वेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाखा॥
एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥
व्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन्ह हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥
जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू॥
गई बहोर गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू॥

इस प्रकार का शक्तिशाली ईश्वरवाद भक्तिमार्ग के अनुयायी के सर्वथा योग्य है। भागवतों के समान तुलसीदास उस ईश्वर की उपासना करते हैं जो पुरुष रूप में सगुण और निर्गुण रूप रूप में अगम अगोचर है, जिसने अपने भक्तों की प्रीति से मानव शरीर धारण किया है और जिसका सबसे बड़ा गुण दया है।

११. दूषन सहित का अर्थ 'दूषण' नामक राक्षस से युक्त भी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे ईश्वर को वे राम कहते हैं और उसे दशरथ के पुत्र रामकथा वाले राम से अभिन्न मानते हैं। किंतु यह रोचक है कि इस स्थल में तुलसी ने अरबी फारसी के शब्दों को वेदांत और भागवत की शब्दावली के साथ कितने सहज रूप में मिला दिया है। गरीब नेवाजू, साहिब, ये शब्द रामचरितमानस में बहुत कम प्रयुक्त हुए हैं। ये कथामुख के इस भाग में और अयोध्या कांड में आए हैं, अन्य कांडों में नहीं[१२]। यहाँ इनका प्रयोग निश्चित उद्देश्य से किया गया है। वे लेखक के मन की समन्वयात्मक प्रवृत्ति के सूचक हैं। और राम भक्ति के मत को व्यापक स्वरूप में ढालने की आकांक्षा को व्यक्त करते हैं।

मानव शरीर में अवतार लेनेवाले ईश्वर राम की वेदांत के विश्वव्यापी ब्रह्म से अभिन्नता दार्शनिक प्रश्नों से संबंधित है, जिनपर तुलसी ने आमुख में विचार नहीं किया। फिर भी उसमें सगुण और निर्गुण ब्रह्म के मानने वालों के विवाद की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। सब संदेहों की निवृत्ति और आपत्तियों के निराकरण की इच्छा से तुलसी ने इन दो विरोधी मतों में एक प्रकार का समन्वय बैठाने का प्रयत्न किया है, जिसमें उन्होंने राम के नाम को ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों से ऊपर रखा है।

राम नाम की महिमा में आठ छंद कहे गए हैं, जिनमें दोहे चौपाइयों की संख्या और क्रम व्यवस्थित है। सबसे पहले नाम को मंत्रों का राजा (महामंत्र) कहा गया है। कवि ने उस मंत्र के चमत्कारों का उल्लेख किया है और उसके चमत्कारी अक्षरों के पुण्य प्रभाव का वर्णन किया है, जिन्हें कवि ने वेदों का सार कहा है। उसके बाद कवि नाम और रूप की वेदांतगत मान्यता के विषय में अपनी व्याख्या देते हैं। उनका कहना है कि रूप नाम से छोटा है, क्योंकि नाम के द्वारा ही रूप का परिचय होता है, उसके विपरीत नहीं। पर इस रहस्यात्मक प्रक्रिया पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया—

नाम रूप गति अकथ कहानी, समुझत सुखद न परति बखानी।
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी, उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी।

राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजियार॥

पुनः राम के नाम की सहायता से ही योगी अपना लक्ष्य प्राप्त करता है और नाम रूप से अतीत परब्रह्म के साथ एक हो जाता है। नाम के द्वारा ही वह सिद्धि और गंभीर रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करता है। सब भक्तों में नाम का जप करनेवाले राम को प्यारे हैं। नाम की अद्भुत महिमा तो है ही, यह भी कहा गया है कि राम नाम विभिन्न दार्शनिक मतों में समन्वय स्थापित कर सकता है (१।२३।१)—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।
मोरे मत बड़ नाम दुहूँ ते। किए जेहिं जुग निज बस निज बूते॥

१२. गरीब (अरबी - गरीब) कथामुख में तीन बार, अन्यत्र रामचरित मानस में कहीं नहीं।
नेवाजू (फारसी नेवाज) कथामुख में दो बार और अयोध्याकांड में दो बार।
साहिब (अरबी साहिब) कथामुख में दो बार और अयोध्याकांड में कई बार और शेष काव्य में कहीं नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की । कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की ।
एकु दारुगत देखिअ एकू । पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू ।
उभय अगम जुग सुगम नाम ते । कहेऊ नामु बड़ ब्रह्म राम तें ।
ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी । सत चेतन घन आनँद रासी ।
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी । सकल जीव जग दीन दुखारी ।
नाम निरूपन नाम जतन तें । सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें ।

निरगुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार ।
कहौं नामु बड़ राम तें निज बिचार अनुसार ॥

यह एक विचित्र प्रकार का विषयांतर है । इसमें तुलसी ईश्वर के विविध रूपों की समस्या पर विचार कर रहे हैं और उसे इस प्रकार सुलझाने का प्रयत्न कर रहे हैं, जो कि उनका व्यक्तिगत दृष्टिकोण ज्ञात होता है । निर्गुण और सगुण की खाई को पाटने के लिये राम का नाम सेतु के समान कल्पित किया गया है, पर यह कुछ कमजोर कड़ी है और हम कवि को अपना मत प्रकट करते हुए कुछ सावधान सा पाते हैं । वे 'मोरे मत' कहकर उसे निजी संमति के रूप में आगे रखते हैं । तुलसी के मत में नाम सब जीवों के लिये और विशेषतः मानव के लिये ईश्वरी तत्त्व की अभिव्यक्ति है । इस कलियुग में नाम ही वह तत्त्व है जिसे मनुष्य ईश्वर के ग्राह्य अंश के रूप में आत्मसात्कर सकते हैं । अतएव उनके लिये केवल नाम ही मुक्ति का साधन है और उसीका उनके लिये मूल्य है । रामकथा जिसमें राम की महिमा कही गई है, राम के अवतार का कलियुग में वर्णन करती है और मोक्ष के साधन को आगे बढ़ाती है ।

इस महिमावर्णन का विषय केवल राम का नाम ज्ञात होता है । किंतु जैसा आगे आता है, यह कहा गया है कि राम को केवल दशरथ का पुत्र ही नहीं समझना चाहिए । छंद २५ के अंतिम दोहे में नाम को राम या ब्रह्म से भी बड़ा कहा गया है । उसके बाद के छंद में तुलसी ने शिव एवं शुकदेव, सनत्कुमार एवं नारद आदि ऋषियों का उनमें परिगणन किया है, जिन्होंने नाम के द्वारा परम सुख प्राप्त किया । उन्होंने प्रह्लाद, ध्रुव और अजामिल जैसे निष्ठावान् साधुओं का भी उल्लेख किया है (१ । २६ । २ – ४)—

नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू । भगत सिरोमनि भे प्रहलादू ।
ध्रुवँ सगलानि जपेउ हरि नाऊं । पायउ अचल अनूपम ठाऊं ।
सुमिरि पवनसुत पावन नामू । अपने बस करि राखे रामू ।
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ । भए मुकुत हरिनाम प्रभाऊ ।
कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई । रामु न सकहिं नाम गुन गाई ।

सब युगों में नाम मुक्ति का निश्चित साधन है, पर कलियुग में तो एक मात्र नाम ही है-

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू । राम नाम अवलंबन एकू ॥ (१ । २७ । ४)

तुलसी की युक्ति का सार इस प्रकार है । ब्रह्म का सच्चा स्वरूप जैसा कि सब वेदों में कहा है, अगम अगोचर है । राम स्वयं जो ईश्वर के अवतार और सब जीवों के लिये भक्ति के विषय हैं, उसी प्रकार दुष्प्राप्य हैं, क्योंकि वे प्रत्येक त्रेतायुग में अवतार लेते हैं, अतएव कलियुग में अर्थात् इस समय के मनुष्य जिसे प्राप्त कर सकते हैं, वह उनका नाम और कथा ही है । अतएव राम का नाम और रामकथा ही वर्तमान युग में मनुष्यों के लिये मुक्ति का एकमात्र साधन रह जाता है । अतः राम नाम के जप या रामकथा के श्रवण का सबसे अधिक महत्त्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस विषय में दृढ़ोक्ति के साथ तुलसी का मत शाक्तों के दृष्टिकोण से कुछ कुछ मिलता है जो केवल मात्र ब्रह्म या परमतत्व की शक्ति में विश्वास करते हैं और उस तत्त्व को निष्क्रिय और निर्गुण मानकर अलग छोड़ देते हैं।

इसी प्रकार जब तुलसी राम के नाम को निर्गुण ब्रह्म से भी ऊपर अधिक महान् और स्वयं राम से भी अधिक मानते हैं, तो इसका कारण नाम की विलक्षण सक्रियता ही है। तुलसी की दृष्टि में नाम राम की शक्ति है।

और भी कुछ बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। तुलसीदास की दृष्टि में ब्रह्म, उपनिषदों का परमतत्व, निर्गुण है और ईश्वर अवतार रूप में सगुण है। किंतु ईश्वर का सगुणरूप जो भक्ति के योग्य है दशरथ के पुत्र राम तक ही सीमित नहीं है। विष्णु या हरि के अवतार कृष्ण का भी वही रूप है। एक सीमित अर्थ में राम दशरथ के पुत्र का नाम है जो रामायण के नायक हैं। किंतु व्यापक अर्थ में राम परब्रह्म के सगुण रूप या अवतार हैं जिन्हें भगवान् या देहधारी ईश्वर माना जाता है। इसी कारण इस प्रसंग में प्रह्लाद, ध्रुव, अजामिल, गज का उल्लेख है, जो विष्णु या कृष्ण के भक्त थे और जिनकी कथाएँ भागवत पुराण में दी हुई है।[८] कहा गया है कि इन व्यक्तियों को भगवान के नाम या हरि के नाम से मुक्ति मिली। हरि में राम और कृष्ण दोनों का अंतर्भाव है। आमुख में राम नाम की महिमा के प्रकरणों में कृष्ण का भी नाम आया है जो कि रामचरितमानस में बहुत ही कम स्थानों में आता है। तुलसी का कथन है कि राम - नाम के दो अक्षर रा - म जिह्वा को ऐसे प्रिय हैं जैसे यशोदा को हरि (कृष्ण) और बलराम। किंतु संपूर्ण आमुख में, जैसे अयोध्याकांड में, हरि से तात्पर्य ब्रह्म के सगुण रूप से है, अर्थात वह देहधारी ईश्वर जो भक्तों का पूज्य है और जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव, इन तीनों से ऊपर है। अतएव हरि और भी व्यापक अर्थ में राम का ही पर्याय है। इन दोनों को इस प्रकार पर्याय मानने का कारण स्पष्ट है। तुलसी की इच्छा थी कि राम - भक्ति - धारा का क्षेत्र विस्तृत हो और राममत में कृष्णमत का भी समावेश किया जा सके।

रामनाम की महिमा का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है (१।२५।१)—

राम सुकंठ बिभीषन दोऊ, राखे सरन जान सब कोऊ।
राम गरीब अनेक निवाजे, लोक वेद बर बिरिद बिराजे।

अरबी गरीब और पारसी निवाज (हिंदी रूप में) यहाँ जान कर रखे गए हैं। इस प्रकार के अनार्य प्राणी अधम और आर्य क्षेत्र से बहिर्भूत हैं जिन्हें राम कथा में बंदर या राक्षसों का रूप दिया गया है। जिस प्रकार राम के दर्शन से कपीश्वर सुग्रीव और राक्षस योनि में उत्पन्न विभीषण पवित्र हो गए वैसे ही राम के नाम ने उन जैसे सब जीवों को पवित्र कर दिया जो दुर्भाग्य से द्विज कोटि से बाहर उत्पन्न हुए हैं।

इस दृष्टि से इन दोनों विदेशी शब्दों का यहाँ प्रयोग विशेष अर्थ रखता है। नाम - धर्म की व्यापक महिमा ने भक्तिधर्म के उस उदार दृष्टिकोण में जो सामान्यतः उसकी विशेषता है और चार चाँद लगा दिए हैं।

८. प्रल्हाद ७।४ - ५ - ६, गज ८।२ - ३ - ४, ध्रुव ४।८ - ९ - १२, अजामिल ६।१ - २ - ३, पिंगला ११।८। इन्हीं व्यक्तियों का रामचरितमानस में कांड ७।१३० छंद १ में पुनः वर्णन है।

४ (६३-२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आमुख से यह भी प्रकट होता है कि तुलसी की दृष्टि में शिव का कितना उच्च स्थान था। शिव को अन्य सब देवताओं से ऊपर संमान दिया गया है। आरंभ के श्लोक में कहा गया है कि शिव और उनकी शक्ति के बिना सिद्ध लोग अपने अंतःकरण में स्थित भगवान का दर्शन नहीं कर सकते। गुरु को भी, जिन्हें तुलसी इतना पूजनीय समझते हैं, शिव का अवतार माना गया है। हरिहर के रूप में विष्णु और शिव दोनों का साहचर्य है, और साधु लोग दोनों की ही उपासना करते हैं, जब कि राम कथा से द्वेष करने वाले खल हरि - हर - रूपी चंद्रमा के लिये राहु के समान कहे गए हैं।

आमुख में जैसा कि रामचरितमानस में अन्यत्र भी, शिव और पार्वती को राम का महान भक्त कहा गया है — दोनों ही राम के नाम का जप करते हैं। यही वह महामंत्र है जिसका शिव, काशी में मृत्यु को प्राप्त होनेवालों के कान में तारक या मोक्षदायक मंत्र की तरह उच्चारण करते हैं। शिव स्वयं ही इस मंत्र के कर्ता हैं, क्योंकि मूलरामायण के शतकोटि श्लोकों में से इसी दो अक्षर के मंत्र को उन्होंने चुन लिया था।

राम के परम भक्त होने के अतिरिक्त शिव आगमों के प्रकट करनेवाले हैं। आगमों का अर्थ तंत्र है जिन्हें तुलसी 'श्रुति' रूप में अत्यंत प्रमाण मानते हैं। आमुख में उनका उल्लेख किया गया है (१।१५।२-३)—

गुरु पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीन बंधु दिन दानी।
सेवक स्वामि सखा सिय पी के। हित निरुपधि सब विधि तुलसी के।
कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा। साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरजा।
अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू।

अतएव तुलसी को तंत्र साहित्य का पता था और वे उनके मंत्रों की अद्भुत शक्ति को भी मानते थे। किंतु इतने ही से यह न समझना चाहिए कि तुलसी ने रामचरितमानस के निर्माण में उस प्रकार के साहित्य से कोई सीधी सहायता ली थी, अथवा उन्हें वाम मार्ग के शाक्त मतों से कोई सहानुभूति थी, जिनमें एकमात्र इस प्रकार के साहित्य का उल्लेख आता है। तथ्य तो यह है कि रामचरितमानस के कुछ स्थलों में तुलसी ने शाक्तों के आचारों के विषय में अरुचि प्रकट की है। कोई इतना मान सकता है कि तुलसी ने अपने कथानक को शिव - पार्वती के संवाद रूप में बाँधने का भाव तंत्रों से ग्रहण किया। किंतु कथाबंध की यह प्रणाली अध्यात्म रामायण और दूसरे सांप्रदायिक ग्रंथों में भी पहले से थी, जहाँ से तुलसी ने उसे लिया होगा।

शिव - पार्वती संवाद का कोई उल्लेख आमुख के पूर्वार्द्ध में नहीं है, यद्यपि रामचरितमानस का एक अंश इस संवाद की पृष्ठभूमि में कहा गया है। तुलसी ने शिव की बड़ाई करते हुए उन्हें राम का परम भक्त माना है। उन्होंने अपने आपको शिव की शरण में रखते हुए राम कथा के वर्णन में सफलता की प्राप्ति के लिये उनके वरदान या कृपा की प्रार्थना की है। पर वे यह कहीं नहीं कहते कि शिव ही राम कथा के आदि कर्ता या प्रथम वक्ता हैं। इसके विपरीत सब प्रकार से यही प्रतीत होता है कि अपनी कथा की रचना का सारा दायित्व स्वयं तुलसी का ही है। यह तो इस बात से ही प्रकट है कि कितने श्रम से कवि ने क्षमायाचना द्वारा अपनी रक्षा का प्रयत्न किया है और यह कहा है कि यह कथा श्रुति और स्मृति दोनों से संमत है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई कह सकता है कि शिव पार्वती संवाद एक साहित्यिक युक्ति मात्र है। चाहे शिव का नाम इसमें आवे या न आवे, पाठक को कोई भ्रांति नहीं हो सकती, क्योंकि रामचरितमानस किसी अज्ञात रचयिता का ग्रंथ नहीं है। किंतु यदि यह मान लिया जाय कि रामकथा के वक्ता के रूप में शिव का कोई विशेष महत्त्व नहीं है तो भी यह तो ज्ञात होता ही है कि आरंभ से ही शिव को इस कथा में यह स्थान प्राप्त था। किंतु आमुख के पूर्वार्द्ध में एक ओर जहाँ शिव का कई बार नाम लिया गया है और उन्हें कथा का कर्त्ता या वक्ता नहीं कहा गया वहीं तुलसी ने स्वयं अपने लिये यह घोषणा की है कि वे रामकथा कहने जा रहे हैं जिसमें वे शिव पार्वती संवाद की कोई चर्चा नहीं करते।

कथामुख के प्रथम भाग में रामचरितमानस, इस नाम के विषय में भी कुछ नहीं कहा गया। छंद चौदह के दोहा तीन में जो बाद में जोड़ा गया जान पड़ता है, कवि ने अन्य कोविदों को रामचरित रूपी मानसरोवर का हंस कहा है, पर वहाँ तक काव्य का यह नाम कहीं नहीं आया। सर्वत्र उसे भणिति, गाथा या चरित कहा है। आमुख के उत्तरार्द्ध में छंद पैंतीस तक पहुँचकर ग्रंथ का विशेष नाम रामचरितमानस और उसके पौराणिक उद्भव की कुछ व्याख्या की गई है।

आमुख का उत्तरार्द्ध

छंद ३० – ४३

आमुख के पूर्वार्द्ध में जिसका ऊपर विश्लेषण किया गया है, तुलसी ने चार बार कथा के आरंभ करने का उल्लेख किया है —

१ - वर्तमान काल में	संस्कृत वंदना में	आतनोति
२ - वर्तमान काल में	बरनति रामचरित	(२।१)
३ - भविष्यत् काल में	करिहउँ रघुपति कथा	(१४।१)
४ - वर्तमान काल में	बरनउँ रघुबर बिसद जसु	(२९ दोहा ३)

अंतिम वर्तमान काल आसन्न भविष्य के लिये है, अर्थात् मैं राम के विशद यश का वर्णन करने ही वाला हूँ।

अतएव कथा का आरंभ तुरंत बाद तीसवें छंद में होने की आशा थी। पर वस्तुतः वह बहुत बाद में चौवालिसवें छंद में होता है। २९ और ४४वें छंद के बीच में एक लंबा व्यवधान है जो ऊपर कहे हुए संदर्भ से बिलकुल नहीं मिलता। उस अंश में एक प्रकार का दूसरा आमुख पाया जाता हैं, जो पहले से बहुत बातों में भिन्न है।

छंद तीस में एक दम से ऋषि याज्ञवल्क्य और उनके श्रोता ऋषि भारद्वाज का परिचय मिलता है—

जागवलिक जो कथा सुहाई, भरद्वाज मुनिबरहिं सुनाई।
कहिहउँ सोइ संवाद बखानी, सुनहुँ सकल सज्जन सुखु मानी।

इसमें क्रिया का काल बदल गया है। इसमें वह वर्तमान (अर्थात् आसन्न भविष्य) नहीं है, जैसा पहली पंक्तियों में है, वरन् भविष्य है। वस्तुतः दोनों ऋषियों का संवाद छंद ४७ से आरंभ होगा। इस बीच में तुलसी अपनी कथा की उत्पत्ति बताने लगते हैं (१।३०।२ दोहा १)—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा।
सोइ शिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। रामभगत अधिकारी चीन्हा।
तेहि सन जागवलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा।
ते श्रोता बकता समसीला। सब दरसी जानहिं हरि लीला।
जानहिं तीनि काल निज ग्याना। करतल गत आमलक समाना।
औरउ जे हरि भगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधि नाना।

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।

यहाँ तुलसी ने राम कथा के काल्पनिक वक्ताओं का उल्लेख किया है। क्रमानुसार उनके नाम ये हैं–शिव, भुशुंडि और याज्ञवल्क्य। स्पष्ट ही शिव को इस चरित का कर्ता कहा गया है।

तथ्य यह है, जैसा हम देखेंगे, कि ग्रंथके अधिकांश भाग में अर्थात् बालकांड के अंतिम भाग और संपूर्ण अयोध्याकांड में इन तीनों में से एक भी वक्ता का उल्लेख नहीं आता, और कवि स्वयं अपनी कथा के वक्ता हैं। किंतु रामचरितमानस के अवशिष्ट भाग में इनमें से किसी न किसी वक्ता का नाम ठहर ठहर कर आता रहता है।

इस स्थल से यह अनुमान करना सुसंगत है कि यह कथा चार संवादों के रूप में चली आती थी, अर्थात् शिव - पार्वती, शिव - भुशुंडि, भुशुडि - याज्ञवल्क्य और अंत में याज्ञवल्क्य - भारद्वाज। किंतु इन चार संवादोंमें से केवल पहले दो और चौथे का ही रामचरितमानसमें वर्णन आया है। आमुख में इस स्थल के अतिरिक्त और कहीं भी न तो यह कहा गया है और न इसकी कोई ध्वनि है कि शिव ने इस कथा को भुशुंडि से कहा था या भुशुंडि ने याज्ञवल्क्य से। वक्ता के रूप में भुशुंडि और याज्ञवल्क्य परस्पर स्वतंत्र विदित होते हैं, शिव और भुशुंडि पर निर्भर नहीं। कांड ३ से ६ तक शिव और भुशुंडि क्रम से वक्ता के रूप में आते हैं, किंतु उनमें से कोई दूसरे की बात नहीं दोहराता। केवल सातवें कांड के अंत में शिव ने भुशुंडि का उल्लेख किया है, भुशुंडि ने शिव का कहीं नहीं। अतएव आमुख का उक्त उल्लेख समस्त ग्रंथ से अन्यथा सिद्ध हो जाता है और ग्रंथ के तथ्यों से मेल नहीं खाता।

तुलसी अपने पाठकों को सूचित करते हैं कि उन्होंने यह कथा अपने गुरु से सूकरखेत में सुनी थी, पर पहले उनकी समझ में नहीं आई, क्योंकि वे उस समय इतने मूढ़ और विषयासक्त थे कि उस गूढ़ रामकथा का जिसके श्रोता वक्ता ज्ञाननिधि थे। समझ पाना उनके लिए संभव न था। तुलसी ने जो कथा सूकर खेत में सुनी थी वह वाल्मीकि कृत कथा नहीं हो सकती थी। वह कोई ऐसी रामायण थी, जिसके रचयिता शिव कहे जाते थे और जिसके वक्ता पौराणिक पुरुष थे और जिसके द्वारा किसी अध्यात्म तत्त्व का उपदेश देने का दावा था। संभवतः यह कथा संस्कृत में थी, क्योंकि तुलसी उसे भाषा में करना चाहते हैं (१।३१।१)—

भाषाबद्ध करब मैं सोई।

रामकथा की उत्पत्ति के विषय में इस प्रकार की व्याख्या की उससे संगति नहीं बैठती जो आमुख के पूर्वार्द्ध में कहा गया है। क्योंकि यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि इस काव्य का उद्भव इसी स्रोत से हुआ था, तो तुलसी का दायित्व बहुत कुछ कम हो जाता है और उनकी लंबी क्षमायाचना अर्थहीन हो जाती है।

छंद तीस में एक नया विचार रामकथा की अनंतता के विषय में है। शिव को अग्रस्थान देने पर भी यह कहा गया है कि सब वक्ता समान हैं, और कवि का यह भी कहना है कि कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और भी ऋषि हैं, जिन्होंने इसी कथा को 'अनेक प्रकार से' (विधि नाना) कहा है। रामकथा के वर्तमान रूपों और अन्य रूपों में जो भेद पाए जाएं, उन्हें परस्पर विरोधी नहीं मानना चाहिए। वे सभी रूप एक समान 'सत्य' हैं, क्योंकि ऐसे मुनियों ने उन्हें कहा है जो सब एक समान हरि लीला के विज्ञ और सूक्ष्म दृष्टि युक्त थे। आगे तुलसी ने अपने पाठकों को यह चेतावनी दी है (१।३३।२ दोहा — ३४।१)—

जेहिं यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरजु करैं सुनि सोई॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी। नहिं आचरजु करहिं अस जानी॥
रामकथा कै मिति जग नाहीं। असि प्रतीति तिन्ह के मनमाहीं॥
नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा॥
कलप भेद हरि चरित सुहाए। भांति अनेक मुनीसन्ह गाए॥
करिअ न संसय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रतिमानी॥

राम अनंत अनंत गुन, अमित कथा विस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं, जिन्ह कें विमल विचार॥

एहि विधि सब संसय करि दूरी। सिर धरि गुरुपद पंकज धूरी॥
पुनि सबहीं बिनवउँ कर जोरी। करत कथा जेहि लाग न खोरी॥

राम के अवतारों की अनेकता और उसके कारण रामायण की अमितता का भाव रामावत संप्रदाय में भागवत धर्म से लिया गया जान पड़ता है। भागवत के अनुसार कृष्ण प्रत्येक कल्प में अवतार लेते हैं और नरचरित करते हैं जो उनकी माया की लीला या क्रीड़ा है। रामकथा की अनंतता में विश्वास अधिकांश मध्यकालीन रामायणों में पाया जाता है। जैसे योगवाशिष्ठ, अध्यात्मरामायण, अद्‌भुतरामायण, आनंदरामायण, संभवतः भुशुंडिरामायण में भी। अद्‌भुतरामायण वाल्मीकिरामायण की परिशिष्ट या आठवाँ कांड कही जाती है। कहा जाता है कि महर्षि वाल्मीकि ने दो रामायणें बनाई थीं। एक देवताओं के लिये सौ करोड़ श्लोकों की, दूसरी चौबीस हजार श्लोकों की मनुष्यों के लिये, जो कि वर्तमानवाल्मीकि रामायण है। अद्‌भुतरामायण पहली का एक अंश होने का दावा करती है, जैसा कि उसमें लिखा है।

अध्यात्मरामायण को भी किसी अपरिमित समग्र ग्रंथ का एक छोटा सा अंश कहा जाता है। पहले अध्याय में ब्रह्मा नारद से कहते हैं (प्रस्तावना श्लोक ४६ - ४७) —

'रामगीता की महिमा का पूरा ज्ञान केवल शंकर को है, पार्वती केवल उसका आधा भाग जानती हैं और मैं उस आधे का आधा जानता हूँ। मैं तुम्हें उसका एक अंश सुनाऊँगा, पूरे का वर्णन नहीं हो सकता।'

रामकथा की अनंतता और रामअवतारों की अनेकता एक दूसरे से पृथक नहीं की जा सकती, अतएव अध्यात्मरामायण में सीता राम से वन चलने का आग्रह करती हुई यह अकाट्य युक्ति देती हैं (२।४।७६) —

'मैं तुमसे और भी यह कहूँगी, जिसे जानकर तुम्हें मुझे वन में ले चलना चाहिए। बहुत से ब्राह्मणों ने अनेकों रामायणें सुनी हैं। कब और कहाँ राम सीता के बिना वन में गए हैं, मुझे बताइए।'

अतएव हम देखते हैं कि तुलसी ने आमुख के इस भाग में भागवतपुराण और सांप्रदायिक रामायणों का दृष्टिकोण ग्रहण किया है। बालकांड के पूर्वार्ध में और उत्तरकांड में राम-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथा और राम के अवतारों की अनंतता के विषय में उसी प्रकार के कथन हैं। पर शेष काव्य में कहीं ऐसा नहीं मिलता। उन्हीं भागों में हम देखते हैं कि राम के चरित को लीला कहा गया है और संप्रदायप्रग्रस्त रामायणों का उन पर स्पष्ट प्रभाव है।

अपने पाठकों को इस प्रकार आश्वस्त करके और पहले से ही उनकी शंकाओं का निराकरण करके तुलसी ने अपने काव्य की निश्चित तिथि और समय बताया है (१।३४।२ - ३)।

संवत सोरह सै एकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा।
जेहि दिन रामजनम श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं।

उस शुभ दिन सब संत तथा देवता अयोध्या में आते हैं, जिससे उसकी पवित्रता और भी बढ़ जाती है (१।३५।३)।

सब विधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगल खानी।
विमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा।

अपने काव्य के नाम की इस प्रकार व्याख्या करके तुलसी कहते हैं —

कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥ —(१,३५,७)

यह चौपाई जिसमें 'रामचरितमानस' की रचना के संबंध में निश्चित सूचना दी हुई है, अपनी व्याख्या के विषय में एक समस्या उत्पन्न करती है। यदि सब टीकाकारों के साथ हम भी यह मानें कि छंद ३४ की अर्धाली ३, ४ मिलकर एक तिथि सूचित करती है, तो मानना पड़ेगा कि तुलसी ने अपना काव्य सं० १६३१ (१५७४ ई०) में चैत महीना की नवमी को जिस दिन मंगल था, लिखना शुरू किया था। पर जैकोबी और ग्रियर्सन की गणना के अनुसार सं० १६३१ में चैत की नवमी के दिन बुधवार था, मंगल नहीं।

इस विरोध को मिटाने के लिये ग्रियर्सन का सुझाव है कि चांद्रगणना और दूसरी प्रचलित गणना में अंतर था।[९]

माताप्रसाद गुप्त ने इस कठिनाई का दूसरा हल सुझाया है।[१०] उनका कहना है कि छंद के पहले अनुच्छेद में (छंद ३४ अर्धाली १–४) क्रिताएँ वर्तमान काल की हैं। (बरनउ करउ)। इसके विरुद्ध दूसरे अनुच्छेद में क्रियाएँ भूतकाल की हैं (प्रकासा, कीन्हा)। तीसरे अनुच्छेद में (छंद ३५ अर्धाली ७ - १३) क्रिया फिर वर्तमान काल में है (कहउ)। इससे वे यह यथार्थ परिणाम निकालते हैं कि दूसरा अनुच्छेद (छंद १४, अर्धाली १ - ६) राम नवमी को नहीं लिखा गया होगा, क्योंकि उस दशा में छंद ३४ अर्धाली ६ में 'जेहि दिन' के स्थान पर 'आज' होना चाहिए था। इसी प्रकार वह दूसरा अनुच्छेद अयोध्या में नहीं लिखा गया होगा, क्योंकि उसका संकेत निकटवाची 'यहाँ' से न करके दूरवाची 'वहाँ' से किया गया है।

इस कठिनाई को सुलझाने के लिये उन्होंने एक सुझाव दिया है। उनका कहना है कि दूसरा अनुच्छेद उस समय नहीं लिखा गया जब पहले और तीसरे लिखे गए, वरन् बहुत

९. नोट्स आन तुलसीदास, इंडियन एंटिक्वेरी २२।८९।
१०. रायल एसियाटिक सोसाइटी की पत्रिका, १९३५, ४।७७७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाद में लिखा गया जब कवि अयोध्या से चले आए थे और उनके ग्रंथ का अधिकांश भाग लिखा जा चुका था। वैसी हालत में दिन की गड़बड़ी (बुद्ध की जगह मंगल) कवि की विस्मृति के कारण हुई होगी, क्योंकि उस घटना को बहुत समय बीत चुका था।' संक्षेप में माताप्रसाद जी का मत इस प्रकार है —

'तुलसीदास ने पहला और तीसरा अनुच्छेद अयोध्या में सं० १६३१ की रामनवमी को लिखा। उसी समय उन्होंने संवत् का उल्लेख कर दिया था, पर मास और दिन या स्थान का उल्लेख नहीं किया। कुछ वर्ष बाद उन्होंने महीने की तिथि और स्थान का उल्लेख जोड़ कर उस भूल का सुधार कर दिया। पर अब उन्हें उस विषय में ठीक स्मृति न रही थी इसीलिये दिन लिखने में भूल हुई।'

यह कल्पना संभाव्य नहीं जान पड़ती। इस प्रकार तिथि और दिन का छूट जाना बहुत कम संभव है। इसके अतिरिक्त उक्त चौपाइयों में घटाने बढ़ाने का कोई चिह्न नहीं मिलता। सारा अंश एक साथ लिखा गया जान पड़ता है। यदि हम मूल की और गहराई से समीक्षा करें तो पता चलता है कि छंद ३४ की अर्धाली ४ - ५ जो दो अलग अलग चौपाइयों के अंतर्गत हैं मिलकर एक ही तिथि सूचित नहीं करतीं, क्योंकि दोनों पंक्तियों में क्रिया के काल भिन्न भिन्न है। अतएव संवत १६३१ जिसमें कवि ने आमुख का वह अंश लिखा है और रामचरितमानस नामक ग्रंथ के आरंभ करने की सूचना दी है, वही वर्ष नहीं था जब उसने रामकथा लिखना आरंभ किया था। हमारी संमति में रामचरितमानस ग्रंथ और कवि द्वारा रामकथा के आरंभ करने के वर्ष भिन्न भिन्न थे। तुलसी ने उक्त अर्धालियों वाला अंश सं० १६३१ में लिखा, पर अयोध्या और रामनौमी वाले अंश का स्मरण तब किया जब पहले पहल रामकथा लिखना आरंभ किया था। इसमें आश्चर्य नहीं कि वह स्थान और वह दिन उनकी स्मृति में छप गया था, उन्हें सप्ताह का दिन मंगल भी याद था। पर उस पहले वर्ष का उल्लेख उन्होंने नहीं किया, अन्यथा उन्हें दो तारीखें देनी पड़तीं जो कि कुछ अटपटा लगता। अतएव हम निम्नलिखित परिणाम पर पहुँचते हैं। तुलसी ने अयोध्या में राम का चरित सं० १६३१ से पहले किसी वर्ष में लिखना शुरू कर दिया था। पर संवत १६३१ में उन्होंने रामचरितमानस अर्थात शिव के मानस में जो रहस्यात्मक कथा थी उसे आरंभ किया। उस समय रामचरित का महत्वपूर्ण भाग वे लिख चुके थे, और प्रथम लिखित अंश को उन्होंने अपने बड़े ग्रंथ में संमिलित कर लिया। जब वे अपने काव्य के लिये प्रस्तावना लिखने लगे (आमुख का उत्तरार्ध) तो तुलसी ने सावधानी से इस बात का स्मरण किया कि किस शुभ स्थान और किस शुभ दिन में उन्होंने रामचरित लिखा था जो संवत् १६३१ में संघटित किए जानेवाले रामचरितमानस का अंश बन गया। इस कल्पना की संभावना इस बात से और भी बढ़ जाती है कि काव्य का बीच का भाग जिसमें तुलसी ही वक्ता हैं पहले लिखा जा चुका था। और ग्रंथ का अवशिष्ट अंश एवम् आमुख का उत्तरार्ध बाद में लिखा गया।[११] संवत के साथ काव्य का भी इस प्रकार उल्लेख किया गया है —

रामचरितमानस एहि नामा। सुनत स्रवन पाइय विश्रामा॥
मन करि विषय अनल बन जरई। होई सुखी जो यहिं सर परई॥ (१।३५।५ - ७)

तुलसी ने उस नाम के कारण और महत्व पर भी प्रकाश डाला है।

११. परिच्छेद ७ – ४ अयोध्याकांड का पूर्व लेखन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामचरितमानस मुनि भावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन।
त्रिविध दोष दुख दारिद दावन। कलि कुचालि कुल धनुष नसावन।
रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा।
ताते रामचरित मानस बर। धरेउँ नाम हियँ हेरि हरषि हर।
कहौं कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई।

यहाँ नाम रामचरित के कर्ता के रूप में शिव की करनी से संबंधित बताया गया है। उसका आधार मानस के श्लेषपरक दो अर्थों पर है। एक मन और दूसरा मानसरोवर। अतएव मानसरोवर का अर्थ समझा जा सकता है 'राम के चरित का मानस अर्थात् मानसरोवर' या अंतरात्मा। मानस शब्द पर इस प्रकार का श्लेष तीसरे कांड में दो बार [12] और सातवें कांड में कई बार आया है पर वहां काव्य के नाम का संकेत नहीं है। इसी प्रकार (१।१४६) में स्वायंभुव मनु ने राम की स्तुति करते हुए उन्हें भुशुंडि के मनरूपी मानसरोवर का हंस कहा है (जो भुसुंडि मन मानस हंसा)। वस्तुतः हिंदी रामायण में 'रामचरितमानस' नाम का उल्लेख आश्चर्यजनक रूप से विरल है। आमुख के ऊपर लिखे स्थल के अतिरिक्त वह केवल दो बार और आया है। एक तो बालकांड के छंद १२० के एक अतिरिक्त सोरठे में जहाँ भुशुंडि को रामचरितमानस का वक्ता कहा गया है, और दूसरे सातवें कांड के भुशुंडिचरित में जहां लोमश ऋषि कागभुशुंडि को रामचरितमानस सुनाते हैं। हो सकता है कि तुलसी ने यह नाम वहीं से लिया हो जहां से सातवें कांड के भुशुंडिचरित की सामग्री ली थी। कुछ भी हो वह नाम रामकथा के वक्ता भुशुंडि से जान पड़ता है। यह संभव है कि अपने ग्रंथ का यह नाम रखने का विचार तुलसी को कुछ बाद में आया हो।[13]

इस प्रकार रामचरित मानस की दिव्य उत्पत्ति और नाम की सार्थकता बताकर कवि पुनः वर्तमानकाल में (कहउं) अपनी कथा के आरंभ की घोषणा करता है, जिससे यह आशा हुई थी कि शिव-पार्वती-संवाद का आरंभ होगा। पर वस्तुतः वह संवाद बहुत बाद में छंद १०५ पर आता है। एक दूसरे आकस्मिक विचार को बीच में रखते हुए तुलसी बताते है कि उनके काव्य के साथ रामचरितमानस नाम की संगति किस प्रकार है। पर जो कुछ कहा गया है उसमें नाम की व्याख्या कम है और ग्रंथ की मानसरोवर के साथ अलंकारात्मक और प्रतीकात्मक तुलना हम अधिक देखते हैं। यहाँ कवि में आमुख के पूर्वार्ध की अपेक्षा आत्मविश्वास की मात्रा कहीं अधिक है (१।३६।१)—

संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरितमानस कवि तुलसी।

शिव की कृपा से तुलसी के हृदय में सुमति (काव्य स्फूर्ति) जाग्रत हुई है और वह रामचरितमानस का कवि हो गया।

पर दूसरा अर्थ भी संभव है और हम समझते हैं वही अधिक संभाव्य है—

शिव की कृपा धन्य है जिससे तुलसी के हृदय में स्फूर्ति उत्पन्न हुई और रामचरितमानस धन्य है, जिससे तुलसी कवि बन गया।

१२. ३।८।१ ११।४।
१३. परिच्छेद १४, २ रामचरितमानस की रचना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस मानस के वर्णन में आमुख का शेषांश अर्थात् आठ छंद प्रयुक्त हुए हैं। इस विचित्र वर्णन को ठीक ठीक सारांश कहना उपयुक्त नहीं होगा। फिर भी यह निश्चित है कि बाद में लिखकर कवि ने अपने ग्रंथ की सौंदर्यपरक विशेषताओं और उससे मिलनेवाले आध्यात्मिक लाभों की ओर संकेत किया है (१।३६।२ दोहा ३७।१ – ४)—

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू, बेद पुरान उदधि घन साधू।
बरषहिं राम सुजस बर बारी, मधुर मनोहर मंगलकारी।
लीला सगुण जो कहहिं बखानी, सोइ स्वच्छता करइ मल हानी।
प्रेम भगति जो बरनि न जाई, सोइ मधुरता सुसीतलताई।
सो जल सुकृत सालि हित होई, राम भगत जन जीवन सोई।
मेधा महि गत सो जल पावन, सकिलि स्रवन मग चलेउ सुहावन।
भरेउ सुमानस सुथल थिराना, सुखद सीत रुचि चारु चिराना।

सुठि संदर संबाद बर बिरचे बुद्धि बिचारु।
तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारु॥

सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मनमाना॥
रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोई बर बारि अगाधा॥
राम सीय जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि बिलास मनोरम॥
पुरइन सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई॥
छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा॥
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा॥
सुकृत पुंज मंजुल अलि माला। ज्ञान बिराग बिचार मराला॥
धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भांती॥

कवि ने कुछ भी विवरण पाठकों के सोचने के लिये नहीं छोड़ा। सुकृती साधुओं और रामनाम के गुणों की जलपक्षियों से तुलना की गई है। भक्ति के अनेक विधान वृक्षों के समान कहे गए हैं, जिनमें शम, दम और नियम के फूल फूलते हैं और ज्ञान के फल लगते हैं। एवम् अनेक प्रसंग और उपकथाएँ उन वृक्षों पर कलरव करनेवाले 'शुकपिक' के समान हैं, जो इस कथा को गाते या सुनते हैं। वे इस मानस के रखवाले अधिकारी हैं। उसके विपरीत जो विषयों में डूबे हुए हैं वे उन बगुलों और कौवों के समान हैं जो इस सर के निकट नहीं आते (१।३९।५ – ६)—

अस मानस मानस चष चाही। भइ कवि बुद्धि बिमल अवगाही॥
भएउ हृदय आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू॥
चली सुभग कविता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो॥

कथा के प्रत्येक भाग की तुलना उस मानस के किसी न किसी भाग से की गई है। काव्य के मुख्य भागों को छह ऋतुओं के समान माना है। शिव-पार्वती-विवाह हेमंत है। राम के जन्म का आनंद शिशिर है। राम का विवाह बसंत है। राम का वन गमन निर्मम ग्रीष्म है। राक्षसों से घोर युद्ध वर्षा है। राम का सुखी राज्य सुंदर शरद ऋतु है। यह विचित्र है कि कवि अपनी विनय और दीनता का भी उल्लेख करता है जो कि आमुख के पूर्वार्धं में वर्णित है। उसका कहना है कि मेरी यह दीनता ही उस मानस के जल का हल्कापन (ललित लघुता) है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस स्थल के अंत में भूतकाल का प्रयोग इस वर्णन के बाद की रचना होने का समर्थन करता है (१।४३। दोहा १)—

मति अनुहारि सुबारि गुन गन गनि मन अन्हवाइ।
सुमिरि भवानी संकरहिं कह कबि कथा सुहाइ ॥

यह लंबा संदर्भ कई कारणों से आश्चर्यजनक है । इसमें रामचरितमानस का वर्णन ग्रंथ के रूप में उतना नहीं जितना नीति या धर्मप्रधान काव्य के रूप में है जिसमें गंभीर संवाद, दार्शनिक विचार ही मुख्य विषय हैं। कथात्मक भाग के बीच की उपकथा और आख्यानों को शुकपिक के समान कहा गया है। इस प्रकार का वर्णन सांप्रदायिक रामायणों के सदृश ज्ञान या अध्यात्मप्रधान ग्रंथों के लिये अधिक चरितार्थ होता है। संपूर्ण हिंदी रामायण के लिये यह इतना उपयुक्त नहीं है जितना केवल उसके कुछ अंशों के लिये, विशेषतः सातवें कांड के लिये जिसका अंतिम भाग (कागभुशुंडिसंवाद) सांप्रदायिक रामायण के ढंग पर निर्मित हुआ है।

उन संवादों का उल्लेख जो उस मानस के चार घाट हैं, स्पष्ट नहीं है। वे कौन से संवाद हैं ? रामकथा के पात्रों में जो पारस्परिक संवाद हुए हैं उनसे तो तात्पर्य हो नहीं सकता क्योंकि इस प्रकार के कथनोपकथन बहुत से हैं और उन्हें उस प्रकार के घाट नहीं माना जा सकता जिनसे रामचरितमानस तक पहुँचा जाता है। स्पष्टतः इनका संकेत उन संवादों से होना चाहिए जो कथा के विभिन्न वक्ता-श्रोताओं के बीच हुए हैं। सब टीकाकारों ने संवादों को उसी अर्थ में समझा है पर उनकी पहचान करने में सबको कठिनता पड़ती है। शिव - पार्वती, याज्ञवल्क्य - भारद्वाज और भुशुंडि-गरुड़, इन तीनों संवादों के विषय में सब एक मत है, पर चौथा संवाद कौनसा लिया जाय ? किसी ने तुलसी और संतों के बीच में एक संवाद माना है, दूसरे ने राम और उनके भक्तों के बीच में, पर ऐसे सुझावों का कोई आधार नहीं है।

हमारी संमति में इस प्रश्न का समाधान हो सकता है, यदि हम सातवें कांड की विशेष रचना पर ध्यान दें। वस्तुतः रामचरितमानस में दो शिव-पार्वती-संवाद हैं, एक बालकांड में, दूसरा उत्तरकांड में। जैसा आगे विचार करेंगे तुलसी ने उन दोनों संवादों के संमिश्रण का प्रयत्न किया है जिससे वे भुशुंडि द्वारा कही रामायण को शिव द्वारा वर्णित रामायण के समकक्ष ला सकें।[१४] पर वस्तुतः बालकांड में शिव की वही स्थिति है जो प्रथम कांड में याज्ञवल्क्य की। पहले कांड में कथा के प्रथम वक्ता शिव हैं, सातवें कांड में वे भुशुंडि की अपेक्षा गौण हो जाते हैं। कांड एक और सात की रचना समान ढंग से हुई है। दोनों में एक संवाद और एक-एक उपसंवाद को नीचे ऊपर रखकर कांड का रूप खड़ा किया गया है। अतएव आमुख में चार संवादों का संकेत ग्रंथ के तथ्यों से पूर्णतः समन्वित होता है।

रामचरितमानस के आलंकारिक वर्णन में तुलसी ने अपने ग्रंथ के काव्यात्मक गुणों पर बल दिया है और यह बात कुछ आश्चर्यजनक है। क्योंकि आमुख के पूर्वार्ध में वे इससे कुछ अन्यथा कह चुके हैं। अब हम देखते हैं कि हिंदी रामायण का रचयिता अपने कवि होने की घोषणा करता है और उसका विचार है कि इस ग्रंथ में काव्य की सब आवश्यकताओं का

१४. परिच्छेद १३ ३, भुशुंडि द्वारा कथित रामायण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्वाह किया गया है। विज्ञजन इसके छंद, चौपाई और दोहों के कारण एवम् ध्वनिवक्रोक्ति आदि कवित्वगुणों के कारण इसका रसपान करेंगे। तुलसी ने अपने ग्रंथ और अपनी शक्ति के बारे में पूर्व की अपेक्षा बिलकुल ही दूसरे प्रकार का विचार व्यक्त किया है। जो पहले भक्ति-प्रधान ग्रंथ था और सुखदायक होने पर भी काव्यगुणों के विषय में जिसका दावा न था, अब इस प्रकार का काव्य बन गया है जिसके विषय में उसके लेखक को गर्व है।

अंतिम विश्लेषण करते हुए प्रतीत होता है कि ऊपर के इस वर्णन का कोई अर्थ नहीं है, यदि हम सातवें कांड की रचना और विषय पर ध्यान दें जिसमें शिव नहीं वरन् भुशुंडि राम-कथा या रामचरितमानस के साक्षात् वक्ता हैं। उसी कांड में यह बताया गया है कि भुशुंडि की रामकथा का आरंभ रामचरित रूपी मानस के वर्णन से किया गया है—

रामचरित सर कहेसि बखानी, ७।६४।४।

भुशुंडि का वह वर्णन उसी प्रकार का रहा होगा जैसा तुलसी ने आमुख के उत्तरार्ध में दिया है। यहां और वहाँ दोनों का स्रोत एक ही रहा होगा।

रामचरितमानस के आमुख पर व्यापक दृष्टि

रामचरितमानस का आमुख विशेष रूप से जटिल है जैसा हमने अभी देखा, क्योंकि इसमें ग्रंथ की जटिलता का प्रतिनिधित्व है। उसका पूर्वार्ध (१ – २६) भाव सरलता के कारण विशिष्ट है, जिसमें कवि के निजी विचार और कहीं कहीं कथानक भी हैं और किसी प्रकार का काव्यात्मक ठाठ नहीं है। इसके द्वारा जिस वस्तु का आरंभ किया गया है वह स्वांतः सुखाय और सर्वशास्त्रसंमत तुलसी की विरचित रामकथा है।

उसमें रामचरित रूपी मानस या कथा के काल्पनिक वक्ताओं का कोई उल्लेख नहीं है। और न कथा की अनंतता या शिव-पार्वती-संवाद का उल्लेख है।

आमुख के पूर्वार्ध में कुछ शब्दगत विशेषताएँ भी हैं। 'हरि' शब्द का अर्थ कभी विष्णु लिया जाता है, जैसे हरिहर (विष्णु और शिव या विधि हरिहर — ब्रह्मा, विष्णु और शिव) शब्दों में। जब हरि शब्द का अकेले प्रयोग होता है तब वह राम का पर्यायवाची है और उसका अर्थ भगवान परब्रह्म या उपनिषदों का ब्रह्म आत्मतत्व है, जो कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव से भी महान है। केवल एक स्थल में (२०–४) उसका अर्थ कृष्ण है। हरि संज्ञक राम के मानवीय कर्मों को 'चरित' कहा गया है 'लीला' नहीं। अंत में धार्मिक शब्दावली के अंतर्गत 'गरीब नेवाजु' 'साहिब' जैसे अरबी फारसी के शब्द हैं जो कि आमुख के उस भाग में और अयोध्याकांड में ही आए है, शेष काव्य में अन्यत्र नहीं। इसमें धार्मिक अभिमत कुछ अस्पष्ट सा है। उसकी मुख्य विशेषता एक प्रकार का समन्वय है जो भागवत पुराण से लिया गया है पर जो उससे आगे बढ़कर कबीरपंथी कोटि तक पहुँच जाता है। जैसा विदित है गुरु की ईश्वररूप में कल्पना, ईश्वर के नामउच्चारण या जप की महिमा उसी पंथ की विशेषताएँ हैं। और भी, यद्यपि कबीर अवतारवाद को नहीं मानते, पर वे अपने ईश्वर को राम या हरि कहते हैं।

आमुख का उत्तरार्ध, पूर्वार्ध से भाव और रचना में भिन्न है और कई बातों में विरुद्ध भी। अब रामचरितमानस अर्थात राम के चरितरूपी सरोवर का कवि परिचय देते हैं, जिसे मूलतः शिव ने पार्वती से कहा था और जो कई संवादों की परंपरा से तुलसी को प्राप्त हुआ है जैसे शिव, कागभुशुंडि, याज्ञवल्क्य-भारद्वाज की शृंखला, जिनकी शरण कवि ग्रहण करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह मानस अनेक कथाओं का भंडार है जो सब सत्य हैं और उस नित्यरामायण से उत्पन्न है जो शिव के मुख से प्रकट हुई थी। क्योंकि राम के अवतार अनेक हैं, उनकी कथा भी अनंत है। उनके नरचरित भागवत पुराण के कृष्ण के चरितों के समान उनकी माया की लीला या क्रीड़ा है।

ग्रंथ के इस भाग को समझने में कठिनाई होती है। संपूर्ण काव्य के साथ मिलान करने से और विशेषतः सातवें कांड से तुलना करने पर ही, जो यहाँ अवश्य विवक्षित है, इस प्रसंग को समझा जा सकता है। अतएव यह भाग सबसे अंत में लिखा गया होगा। वस्तुतः इसमें ग्रंथकर्ता ने अपने काव्य के विभिन्न भागों के पारस्परिक विरोधों को मिटाने का और उसे एकात्मकता का रूप प्रदान करने का भारी प्रयत्न किया है।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुजरात की हिंदीसेवा

अंबाशंकर नागर

गुजरात शब्द का प्रयोग दो विभिन्न अर्थों में किया जाता है। एक अर्थ में आबू से दमणगंगा तक के प्रदेश को और दूसरे अर्थ में इससे भी अधिक विस्तृत और व्यापक सीमावाले गुजरातीभाषी प्रदेश को गुजरात कहा जाता है।

गुजरात की राजनीतिक सीमाएँ समय समय पर बदलती रही हैं। वर्तमान समय में उत्तर में आबू से लेकर दक्षिण में दमण गंगा तक और पश्चिम में द्वारका से लेकर पूर्व में दाहोद तक फैला हुआ प्रदेश गुजरात कहलाता है। इस प्रदेश की भाषा और लिपि गुजराती है। इस गुजरातीभाषी प्रदेश ने हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में भी कुछ योग दिया है अथवा नहीं, इसका अनुसंधान और उद्घाटन ही इस निबंध का उद्देश्य है।

यहाँ हिंदीसाहित्य में 'हिंदी' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में होता आया है। अपभ्रंश, डिंगल, अवहट्ट, व्रज, अवधी और खड़ी बोली आदि भाषाओं और उनके साहित्यों का समावेश हिंदी के अंतर्गत हो जाता है। हेमचंद्राचार्य, चंदवरदायी, विद्यापति, सूर, तुलसी और कबीर, क्रमशः उपर्युक्त विभिन्न भाषाओं के कवि हैं, फिर भी इन सबको हम हिंदी के कवि मानते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है कि 'हिंदी शब्द उतना एकरूपा भाषा के अर्थ में व्यवहृत नहीं होता जितना परंपरा के अर्थ में होता है।'' [१]

इसलिये इस निबंध में भी हिंदी का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। सुविधा के लिये गुजराती कवियों द्वारा प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी, डिंगल, व्रज, अवधी और खड़ी बोली में लिखे ग्रंथों को हिंदी ग्रंथ माना गया है। वैसे कवि अथवा ग्रंथ का विवेचन करते समय भाषा विशेष का भी यथास्थान स्पष्ट निर्देश कर दिया गया है।

गुजरात एक अहिंदीभाषी प्रदेश है। हिंदीभाषी प्रदेश का विस्तार राजस्थान की पश्चिमी सीमा से लेकर बिहार की पूर्वी सीमा तक और उत्तर प्रदेश की उत्तरी सीमा से मध्यप्रदेश के मध्य भाग तक माना जाता है।[२] इसके अतिरिक्त पंजाब, बंगाल, असम, गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत आदि शेष सभी प्रदेश अहिंदीभाषी प्रदेश कहे जाएँगे।

अब तक हिंदी भाषा और साहित्य का क्षेत्र हिंदीभाषी प्रदेश तक ही सीमित माना जाता रहा है। पर आगे चलकर जब अहिंदीभाषी प्रदेशों में प्रांतीय भाषाओं के अंचल में छिपे हुए हिंदी साहित्य की खोज की जायगी तब अनेक आश्चर्यजनक तथ्य प्रकाश में आएँगे और यह स्पष्ट हो जायगा कि हिंदी का प्रचार और प्रसार केवल हिंदीभाषी प्रदेश तक ही सीमित नहीं

१. हिंदी साहित्य, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम संस्करण, पृ० २।
२. वही, पृ० २।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। हिंदी प्रारंभ से ही अंतरभाषा के रूप में विकसित हुई थी और उसका प्रचार और प्रसार भारतव्यापी था। महाराष्ट्र, पंजाब, बंगाल, गुजरात और दक्षिण भारत में आज से शताब्दियों पहले हिंदी का पर्याप्त प्रचार था। इन सभी प्रदेशों के सिद्धों, नाथों और संत कवियों ने हिंदी के चरणों में श्रद्धा और भक्ति के साथ काव्यप्रसून चढ़ाए हैं।

महाराष्ट्र—मराठी भाषा के आदिकवि ज्ञानेश्वर (सन् १२७६) की हिंदी रचनाएँ प्राप्त हैं। इनके अतिरिक्त निवृत्तिनाथ, सोपानदेव, भानुदास, सोहिरोबा, बयाबाई, दयाबाई, मुक्ताबाई, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ, जनीजनार्दन, देवनाथ, देवदास आदि महाराष्ट्र के संतों ने भी मराठी में लिखने के साथ साथ हिंदी में कविता की है। महाराष्ट्र के राजाओं के आश्रय में भी हिंदी को फलने फूलने का पर्याप्त अवसर मिला। शिवाजी के पिता शाहूजी से लेकर बड़ौदा के श्रीमंत सयाजीराव गायकवाड़ पर्यंत मराठा राज्यों में हिंदी को सदैव संरक्षण प्राप्त रहा। शाहूजी, शिवाजी, महादजी सिंधिया और दौलतराव सिंधिया के दरबार में हिंदी के अनेक कवि रहते थे। महादजी और दौलतराव सिंधिया स्वयं भी हिंदी में अच्छी कविता कर लेते थे। आधुनिक युग में डा० भांडारकर, संगीतज्ञ पं० विष्णु दिगंबर तथा श्री भातखंडे, माधवराव सप्रे, बाबूराव पराड़कर, दत्तोबामन पोद्दार, प्रभाकर माचवे तथा श्री नेने जी के हाथों हिंदी की अच्छी सेवा हुई है।

पंजाब—हिंदी की व्यापकता के चिह्न पंजाब में स्पष्टतया देखे जा सकते हैं। सिक्ख गुरुओं ने हिंदी को जिस प्रेम से अपनाया, उसकी जितनी सराहना की जाए कम है। गुरुनानक, गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव, गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविंदसिंह ने हिंदी की अनन्य सेवा की है। गुरु गोविंदसिंह संस्कृत, फारसी और हिंदी के अच्छे जानकार थे। उनके आश्रय में लगभग ५० वेतनभोगी हिंदीकवि रहते थे और उनके आदेशानुसार हिंदी में रचनाएँ करते थे। गुरु गोविंदसिंह ने स्वयं भी हिंदी में अनेक रचनाएँ की हैं। गोविंदसिंह जी के पश्चात आधुनिक युग में संतोषसिंह, संत गुलाबसिंह और ज्ञानी ज्ञानसिंह ने हिंदी में रचनाएँ करके पंजाब में हिंदी की परंपरा को जीवित रखा है।

बंगाल—भारत के पूर्वी छोर पर स्थित बंगाल और असम में भी हिंदी की परंपरा खोजी जा सकती है। विद्यापति, जयदेव, उमापति आदि की भाषा में हिंदी के प्राचीन रूप विद्यमान हैं। बंगाल और असम में वैष्णव भक्तों ने ब्रजबुलि (ब्रजभाषा) में कृष्णभक्ति की सुंदर रचनाएँ की हैं। राधावल्लभ, कृष्णदास, गोपाल भट्ट, परमानंद, माधो रघुनाथदास इत्यादि १६वीं शती ई० के बंगाली कवियों ने 'ब्रजबुलि' में सुंदर पद रचे हैं। वैष्णव कवियों के अतिरिक्त बंगाल के मुसलमान कवियों ने भी हिंदी की परंपरा को आगे बढ़ाया।

दक्षिण भारत—उत्तर भारत की भाषाओं में आपस में बहुत समानता है। बंगाल, गुजरात महाराष्ट्र, और पंजाब, के निवासियों द्वारा हिंदी आसानी से समझी जा सकती है। क्योंकि इनकी स्वभाषाओं में और हिंदी में बहुत साम्य है। दक्षिण भारत की भाषाएँ द्रविड़ परिवार की हैं। अतएव द्रविड़ भाषाभाषी क्षेत्रों में हिंदी आसानी से नहीं समझी जा सकती। इस भिन्नता के होते हुए भी दक्षिण भारत में हिंदी की परंप्रा प्रचलित रही है। बीजापुर की आदिलशाही, गोलकुंडा की कुतुबशाही, बीदर की बरीदशाही, बरार की इमामशाही और अहमद नगर की निजामशाही रियासतों मे हिंदी को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। कुछ विद्वानों के मतानुसार इन रियासतों की भाषा उर्दू थी, पर बाबूराम सक्सेना ने इसे दक्खिनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी कहा है और यह सिद्ध किया है कि हिंदीभाषा का विकास और उसमें साहित्यरचना का कार्य केवल उत्तरी भारत में नहीं हुआ है। दक्षिणभारत की रियासतों, उनके शासकों और साहित्यिकों का भी इसके निर्माण और विकास में महत्वपूर्ण हाथ रहा है।[3]

दक्खिनी के कवियों में हुसेनी, निजामी, कुली कुतुबशाह, इब्राहीम आदिलशाह, इब्न-निशाती गुलामअली, मुकीमी, नशरती, इशरती, इत्यादि कवियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। न केवल इन मुसलमानी रियासतों में वरन् सुदूर दक्षिण में भी हिंदी की परंपरा के प्रमाण प्राप्त होते हैं। त्रावणकोर राज्य के महाराज 'गर्भश्रीमान' की हिंदी कविताएँ त्रावणकोर तक हिंदी के व्याप्त होने का प्रमाण हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी का प्रचार और प्रसार केवल हिंदी-भाषी क्षेत्रतक ही सीमित नहीं था। राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित होने से कितनी ही शताब्दियों पूर्व हिंदी समस्त भारत में समझी और बोली जाती थी। अहिंदीभाषी प्रदेशों में हिंदी की इस व्यापकता को देखकर आश्चर्य होना स्वाभाविक है।

अहिंदीभाषी प्रदेशों में हिंदी की व्यापकता के निम्नलिखित कारण हैं —

१. सांस्कृतिक, २. धार्मिक, ३. राजनैतिक, ४. साहित्यिक, ५. व्यापारिक तथा ६. राष्ट्रीय।

१. सांस्कृतिक

सांस्कृतिक दृष्टि से सारा भारत एक है। इस एकता को स्थापित करने में हमारे तीर्थ-स्थानों का विशेष हाथ रहा है। उत्तर में बदरीविशाल, दक्षिण में रामेश्वरम्, पश्चिम में द्वारका और पूर्व में कामाक्षा तक सारे देश में तीर्थों का जाल सा बिछा हुआ है। इन तीर्थों ने जाति, धर्म और प्रांतों की दूरी और पृथकता को हटाकर जहाँ विभिन्न धर्मों और प्रांतों के लोगों को एक दूसरे के निकट लाने में अभूतपूर्व योग दिया है, वहाँ विचारविनिमय के लिये एक सामान्य भाषा को भी पनपने का सुअवसर प्रदान किया है। देश के एक छोर से दूसरे छोर तक की यात्रा करनेवाले यात्रियों को विचारविनिमय और लेनदेन के लिये किसी एक भाषा का सहारा लेना ही पड़ता था और वह भाषा 'मध्यप्रदेश' की भाषा हिंदी थी। सर जार्ज ग्रियर्सन ने ठीक ही कहा है कि 'यह भाषा प्रारंभ से ही आंतरभाषा के रूप में विकसित हुई।'[४]

२. धार्मिक

धार्मिक आंदोलनों ने भी हिंदी के विकास में प्रशंसनीय योग दिया है। निर्गुण संतमत के कारण सधुक्कड़ी हिंदी और वल्लभ संप्रदाय के कारण ब्रजभाषा का जो प्रचार हुआ वह सुविदित है।

निर्गुण संतमत के प्रचारकों ने संस्कृत भाषासरणि को त्यागकर लोकभाषा हिंदी को अपनाया। कबीर ने संस्कृत को 'कूपजल' और भाषा को 'बहता नीर' कहा है। संत कवियों द्वारा हिंदी को अपनानें का कारण यह भी था कि उनका कार्यक्षेत्र किसी एक प्रांत तक सीमित

३. देखिए — दक्खिनी हिंदी, बाबूराम सक्सेना, प्रथम संस्करण, भूमिका।
४. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, खंड ६, पृ० ४४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न होकर सार्वदेशिक था। इन रमते रामों ने अपनी वाणी में सभी प्रांतों की भाषाओं के व्यंजक और अनूठे शब्दों को स्थान दिया है। यही कारण है कि संतों की वाणी अपरिमार्जित होते हुए भी प्रभावोत्पादक और हृदय पर सीधा प्रभाव करनेवाली है।

संतसमागम से अहिंदीभाषी प्रदेशों में हिंदी का पर्याप्त प्रचार हुआ है। पंजाब के नानक और महाराष्ट्र के नामदेव इसी परंपरा की कड़ियाँ हैं। यदि हम इन संतों को हिंदी का आदि-प्रचारक कहें तो अत्युक्ति न होगी।

वल्लभ संप्रदाय के कारण ब्रजभाषा को जो महत्व प्राप्त हुआ वह सर्वविदित है। वैष्णव धर्म के साथ साथ ब्रजभाषा का कितना अटूट संबंध स्थापित हो गया था यह देशरत्न डा० राजेंद्रप्रसाद की निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट हो जायगा—

'ब्रजभाषा का तो उनकी लीला के साथ इतना तादात्म्य स्थापित हो गया है कि इनके लीलागान से पृथक् भी इसका कोई अस्तित्व है, इसका ज्ञान केवल कुछ इनेगिने लोगों को ही होगा।'[४]

कृष्णभक्त कवि, चाहे किसी भी प्रांत के क्यों न हों, उन्हें अपने आराध्य का गुणगान ब्रजभाषा में किये बिना संतोष ही नहीं होता था। यही कारण है कि बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों के कवि भी स्वभाषा में रचनाएँ करने के साथ साथ ब्रजभाषा में भी रचनाएँ करते थे।

इसी प्रकार रामभक्त कवियों ने अवधी भाषा में अपने आराध्य का गुणगान किया है। पर अहिंदीभाषी प्रदेशों में ब्रजभाषा की तुलना में अवधी का प्रचार नहीं के बराबर रहा।

सूफी कवियों ने भी हिंदी के विकास में पर्याप्त योग दिया है। अपने धार्मिक सिद्धांतों का प्रचार करने के लिये सूफी संतों ने लोकभाषा को ही अपनाया था। हिंदी के सूफी संतों की अधिकतर रचनाएँ अवधी में हैं। पर गुजरात तथा दक्षिण भारत के सूफी संतों की वाणी सीधी-सादी खड़ी बोली में है। गुजरात तथा अन्य अहिंदीभाषी प्रदेशों में सूफीसंतों के कारण हिंदी का पर्याप्त प्रचार हुआ है। इस संबंध में गुजरात के सुप्रसिद्ध विद्वान स्व० डार का यह कथन उल्लेखनीय है — 'दरबार और लश्कर के मुकाबले में उर्दू (अर्थात् हिंदी) जबान का ताल्लुक ज्यादातर खानकाह से रहा है और इसकी तरक्की में बड़ा हिस्सा औलियाये करीम और सूफियों का है।'

३. राजनीतिक

राजनीतिक कारणों से भी भाषा का विकास या ह्रास होता है — यह तथ्य सुविदित है। राजाश्रय तथा अन्य अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर भाषाएँ फलती-फूलती और समृद्ध होती हैं तथा विपरीत परिस्थितियों में पड़कर वे अपनी सौरभ - सुगंध गँवा बैठती हैं और शनैः शनैः मृतप्राय हो जाती हैं।

हिंदी का जन्म ही विपरीत परिस्थितियों में हुआ था। दिल्ली, कन्नौज और महोबा, ये तीन ऐसे हिंदू राज्य थे जिनके आश्रय में हिंदी जन्मी थी। पर सन् १२०० तक हिंदी के ये

४. साहित्य, शिक्षा और संस्कृति — डा० राजेंद्रप्रसाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संरक्षक राज्य हिंदू राजाओं के हाथ से निकल गए और हिंदी एक प्रकार से अनाथ बनकर रह गई। इसके पश्चात् ३०० वर्ष तक भारतवर्ष में तुर्कों का राज्य रहा। ये हिंदी के लिये दुर्दिन थे। मुगलों के हाथ में शासन की बागडोर आने पर हिंदी को एक बार फिर सजने सँवरने और दरबारों में बैठने का अवसर मिला। मुगल दरबारों और राजाओं के रजवाड़ों में पुनः हिंदी-कवि संमानित होने लगे। मुगल शासक जहाँ भी गए राज्यभाषा के रूप में फारसी और बोलचाल के लिये हिंदी को साथ लेते गए। गुजरात और दक्षिण की मुसलिम रियासतों में हिंदीप्रचार का बहुत कुछ श्रेय इन मुगल शासकों को भी है।

४. साहित्यिक

हिंदी की व्यापकता का श्रेय उसके प्राणवान साहित्य को भी है। ब्रजभाषा और अवधी के लक्ष्य ग्रंथों की ओर अहिंदीभाषी लोगों का स्वाभाविक आकर्षण था। सूरसागर, रामचरितमानस और रीतिकाल के कवियों के रीतिग्रंथ सबके आकर्षण के केंद्र बने हुए थे। अहिंदीभाषी प्रदेश के लोग इन ग्रंथों का श्रद्धा और भक्ति के साथ अध्ययन और स्वभाषा में इस प्रकार के साहित्य का निर्माण करने का प्रयत्न भी करते थे।

ब्रजभाषा को अभी कुछ समय पहले तक साहित्यभाषा का पद प्राप्त था। सरलता, सुमधुरता, सुघड़ता और संगीतात्मकता इस भाषा की निजी विशेषताएँ थीं। यह भाषा काव्य और संगीत के लिए अत्यंत उदयुक्त थी। अहिंदीभाषी प्रदेश के कवि इस कारण भी अपनी प्रांतीय भाषाओं में रचनाएँ न करके ब्रजभाषा में रचना करने के लिये आकर्षित हुए थे।

५. व्यापारिक

लेनदेन और व्यापारव्यवहार के लिये एक सामान्य भाषा का होना अत्यंत आवश्यक है। उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक चारो धाम की यात्रा करनेवाले यात्रियों और उनसे व्यापार करनेवाले व्यापारियों को निःसंदेह किसी एक भाषा का सहारा लेना पड़ता होगा। कल्पना की जा सकती है कि वह भाषा हिंदी ही रही होगी। व्यापार के निमित्त भाषाएँ कैसे जन्म लेती हैं, इसका अच्छा उदाहरण उर्दू है। तुर्की भाषा में उर्दू 'छावनी' को कहते हैं। छावनी के निकट बोली जाने के कारण विदेशी सैनिकों और देशी दुकानदारों के बीच की मिलीजुली भाषा 'छावनीभाषा' या उर्दू कहलाई। वस्तुतः यह खड़ी बोली ही थी। इस खड़ी बोली का प्रचार मुगल शासन में उत्तर से दक्षिण तक हो गया था और लोग प्रायः इसके द्वारा लेनदेन और व्यापारव्यवहार करने लगे थे। विदेशों से व्यापार के लिये भारत का सिंहद्वार गुजरात था। सूरत और भड़ौच बड़े बंदरगाह थे। पाश्चात्य देशों से समस्त देश का व्यापार गुजरात के इन बंदरगाहों के द्वारा होता था। इन बंदरगाहों और व्यापार की मंडियों पर सामान्य भाषा के रूप में अवश्य ही कोई एक भाषा काम में ली जाती होगी। बहुत संभव है वह भाषा हिंदी ही रही हो। अंग्रेजों ने भी भारत आनेपर यहाँ की भाषा को सीखा, क्योंकि वे व्यापार के निमित्त आए थे। उनके कारण भी हिंदी की प्रगति हुई, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

६. राष्ट्रीय

आधुनिक युग में राष्ट्रीय भावनाओं के उदय के साथ हिंदी का पुनः भाग्योदय हुआ। सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम के विफल हो जाने के पश्चात् विभिन्न प्रांतों के विचारकों को देश की एकता सुदृढ़ करने के लिये एक सामान्य भाषा की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। देश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के चोटी के विचारकों ने एकमत होकर हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का निश्चय किया। परिणामस्वरूप हिंदीभाषा और नागरीलिपि का प्रचार करने के लिये 'नागरी प्रचारिणीसभा' (सन् १८९३) और हिंदी साहित्य संमेलन (१९१०) जैसी संस्थाओं का जन्म हुआ। गांधी जी के प्रयत्नों से सन् १९१८ में मद्रास में दक्षिण भारत हिंदीप्रचारसभा, १९२० में, अहमदाबाद में गुजरात विद्यापीठ और १९३६ में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा की स्थापना हुई। इन संस्थाओं ने तथा ऐसी अन्य संस्थाओं ने अहिंदीभाषी प्रदेशों में हिंदी का प्राणपण से प्रचार किया। परिणामस्वरूप भारतवर्ष के स्वतंत्र होने पर १४ सितंबर १९४९ को भारतीय संविधान ने नागरी लिपि में लिखी जानेवाली हिंदी को भारतीय संघ की राजभाषा घोषित किया।

अहिंदी भाषी प्रदेशों में हिंदी की व्यापकता और परंपरा का विहंगावलोकन तथा उसके कारणों पर विचार कर चुकने के पश्चात् अब हम इस परंपरा में गुजरात के योग पर विस्तार से विचार करेंगे।

गुजरातियों के हाथों हिंदी की विपुल सेवा हुई है। गुजरातियों ने एक ओर जहाँ हिंदी में ग्रंथ लिखकर हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में योग दिया है वहाँ दूसरी ओर उन्होंने हिंदी का प्रचार करके उसे राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने के लिये उत्कट प्रयत्न किए हैं। गुजरातियों की इस सेवा को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं — १. सर्जनात्मक और २. प्रचारात्मक।

गुजरात के जैन, वैष्णव, स्वामीनारायणी, संतमतावलंबी और सूफी कवियों ने हिंदी में रचनाएँ की हैं। इनके अतिरिक्त गुजरात के राजाओं, राजाश्रित कवियों और भाट-चारणों ने भी हिंदी में कविता की है। इन विभिन्न संप्रदायों के अनुयायियों तथा राजाश्रित कवियों की इस साहित्यसेवा को हम सर्जनात्मक कह सकते हैं।

राष्ट्रीय जागरण के साथ इस शताब्दी के प्रथम चरण में अन्य प्रांतों की भाँति गुजरात में भी राष्ट्रभाषा का प्रचारकार्य प्रारंभ हुआ। गुजरात में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा, हिंदुस्तानी प्रचार सभा वर्धा, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद और बंबई विद्यापीठ जैसी संस्थाओं ने हिंदीप्रचार का कार्य किया। इन संस्थाओं और इनके प्रचारकों द्वारा की गई हिंदी की सेवा को हम प्रचारात्मक सेवा कह सकते हैं।

अध्ययन की सुविधा के लिये सर्जनात्मक पक्ष को हम क्रमशः आठ भागों में विभाजित करेंगे।

१. प्राग्नरसिंह युग की भाषा और साहित्य

गुजराती भाषा और साहित्य के कितने ही इतिहास लेखकों ने नरसिंह मेहता (१६वीं शती ई०) को गुजराती का आदि कवि माना है। आज गुजराती भाषा जिस रूप में बोली या लिखी जाती है उस रूप का उच्चारणगत आदि रूप तो नरसिंह मेहता के समय से ही मिलता है, पर गुजराती भाषा का मूल रूप हेमचंद्राचार्य (१२वीं शती ई०) के समय के अपभ्रंशों में झलकने लगता है। इसलिये पंडित बेचरदास, केशवराम का० शास्त्री तथा अन्य गुजराती विद्वानों ने गुजराती भाषा का प्रारंभ हेमचंद्राचार्य से माना है।

हेमचंद्राचार्य से लेकर नरसिंह मेहता तक का साहित्य वस्तुतः अपभ्रंश साहित्य है। विद्वानों ने इस काल के साहित्य की भाषा को विभिन्न नाम दिए हैं। इस भाषा के लिये डा०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टेसीटरी ने 'प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी', श्री नरसिंह राव दिवेटिया ने 'गुर्जर अपभ्रंश', श्री केशवलाल ध्रुव ने 'प्राचीन गुजराती' तथा श्री उमाशंकर जोशी ने 'मरुगुर्जर' नाम सूचित किए है। आश्चर्य की बात तो यह है कि इसी साहित्य में से कुछ का समावेश राजस्थानी के अंतर्गत करके श्रीयुत मोतीलाल मेनारिया ने इसकी भाषा को 'प्राचीन राजस्थानी' और रामचंद्र शुक्ल और मिश्रबंधुओं ने 'प्राचीन हिंदी' कहा है।

वस्तुतः प्राग्नरसिंहयुग का साहित्य हिंदी, राजस्थानी और गुजराती का आदि साहित्य है। डा० टेसीटरी के कथनानुसार १६वीं शताब्दी तक गुजरात तथा राजस्थान में एक ही सामान्य भाषा का प्रचार था। इस भाषा से ही आगे चलकर गुजराती, राजस्थानी और पश्चिमी हिंदी का विकास हुआ।।

१२वीं से १६वीं शती तक के गुजराती, राजस्थानी और हिंदी के इस सामान्य साहित्य का संक्षेप में विहंगावलोकन करके फिर हम नरसिंह मेहता से लेकर आज तक के गुजराती कवियों की हिंदी सेवा का विस्तार सहित वर्णन करेंगे।

प्राग्नरसिंह युग के साहित्य में हेमचंद्राचार्य से पूर्व का समस्त साहित्य अपभ्रंश साहित्य है। पाटण निवासी हेमचंद्राचार्य ने अपने 'सिद्ध हेमशब्दानुशासन' में जो लोकसाहित्य के उदाहरण दिए हैं उनसे ११वीं शती के आसपास बोली जानेवाली लोकभाषा के स्वरूप का पता चलता है। भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से हेमचंद्राचार्य की साहित्यसाधना प्रशंसनीय है।

हेमचंद्राचार्य के अतिरिक्त वढवाण के जैनाचार्य मेरुतुंग ने १३०५ ई० में प्रबंधचिंतामणि की रचना की। इस कृति में भी मुंज, मृणाल और राणकदेवी से संबंधित अनेक अपभ्रंश दोहे हैं।

हेमचंद्राचार्य और मेरुतुंग के पश्चात् गुजरात के अनेक जैन कवियों ने रास, फाग और बारमासी साहित्य का निर्माण किया है।

रास—हिंदी का 'रासो' और गुजराती का 'रास' एक ही काव्यप्रकार है। गुजराती विद्वानों ने इसकी उत्पत्ति गेय उपरूक 'रासक' से मानी है। मूल रूप में 'रासक', 'रासु' या 'रासो' संगीतप्रधान काव्य था, पर कालांतर में अपना स्वरूप बदलकर वह वार्ता-प्रधान बन बैठा।

हिंदी साहित्य में भी इस युग में रासो लिखे जा रहे थे। गुजराती राससाहित्य की यह विशिष्टता रही कि उसके प्रणेता मुख्यतया जैन रहे और उन्होंने रासग्रंथों में राजाओं का गुणगान न करके धर्मपुरुषों और श्रावकों का चरित्रचित्रण किया। गुजरात के जैन कवियों ने विपुल रास साहित्य की रचना की है। इन रचनाओं में सालिभद्र सूरि कृत भरतेश्वर बाहुबलि-रास (११८५ ई०), धर्म सूरि कृत जंबु सामिचरिय (१२१० ई०), जिनदत्त सूरिकृत रेवंत गिरि रासु और किसी अज्ञात कवि का १२७१ ई० में रचित सप्तक्षेत्रि रास साहित्यिक दृष्टि से महत्व-पूर्ण रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त पेथडरास, कछुलीरास और समरारास भी ऐतिहासिक तथ्यों और भाषा की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है।

फागु(सं० फल्गु > प्रा० फग्गु > गुज० फागु > ब्रज फगुवा)—'फाग' या 'फागुकाव्य' रास का ही एक विशिष्ट प्रकार है, भेद केवल इतना है कि रास का आकार जहाँ महाकाव्य के जैसा होता है वहाँ फागुकाव्य एक छोटे खंडकाव्य या गीतिकाव्य के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदृश होता है। फागुकाव्य में ऋतुवर्णन और नायिका के विरहवर्णन को प्रधानता दी जाती है। जैन कवियों ने नेमराजुल और स्थूलभद्र कोश्या को नायक नायिका के रूप में मानकर अनेक 'फागु काव्य रचे हैं। गुजराती फागुकाव्यों में जिनपद्मसूरिकृत सिरि-थूलिभद्द फागु (१३३४ ई०) राजशेखर सूरिकृत नेमिनाथ फागु (१३४४ ई०) और जैनेतर फागुकाव्यों में वसंतविलास फागु, नारायणफागु और अमरसंदेश फागु विशेष उल्लेखनीय हैं।

बारमासी—गुजराती साहित्य में 'बारमासी' काव्य का एक स्वतंत्र रूप है। हिंदी कविता में जायसी तथा अन्य कवियों ने बारहमासे लिखे हैं, पर उनकी गणना काव्य के स्वतंत्र रूपों में नहीं होती। बारामासी में बारह महीनों का क्रमिक ऋतुवर्णन रहता है। वर्णन करनेवाली प्रायः विरहिणी नायिका स्वयं होती है। बारमासों की परंपरा में बीसलदेव रासो प्रथम बारहमासा है। इस काव्य के अतिरिक्त ई० सन् १२४४ में रचित 'नेमिनाथ चतुष्पदिका' भी एक सुंदर बारहमासा काव्य है।

दो वीर काव्य—प्राग्नरसिंहयुग के साहित्य में श्रीधर कृत रणमल्लछंद (१३९८) और पद्मनाभकृत कान्हड दे प्रबंध (१४५६ ई०) का उल्लेख भी अनिवार्य प्रतीत होता है। इन दोनों कृतियों को राजस्थान के विद्वान् राजस्थानी का, गुजरात के विद्वान गुजराती का और हिंदीवाले हिंदी का मानते हैं। इस प्रकार हिंदी, राजस्थानी और गुजराती भाषा के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से ये काव्य अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

२. गुजरात के वैष्णव कवियों की हिंदीसेवा

गुजरात में वैष्णवधर्म का प्रचार — भक्तियोग के मूल उपदेशक भगवान श्री कृष्ण के मथुरा छोड़कर यादवों के साथ द्वारका जाबसने का उल्लेख महाभारत, हरिवंश और भागवत आदि ग्रंथों में मिलता है। पर ५वीं शती ई० तक गुजरात में वैष्णव धर्म के प्रचार का कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। ५वीं से १५वीं शताब्दी तक पौराणिक भागवत-वैष्णव-भक्ति गुजरात में प्रचलित रही। १५वीं शताब्दी के पश्चात् वैष्णव धर्म का प्रवाह गुजरात में विभिन्न रूपों में प्रकट हुआ।

गुजरात में वैष्णव भक्ति के प्रचार का श्रेय वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी को है। इन्होंने १६वीं शताब्दी में वैष्णवधर्म के प्रचारार्थ गुजरात में अनेक यात्राएँ की थीं। वल्लभीय विचारधारा से प्रभावित होकर गुजरात के अनेक कवियों ने व्रजभाषा में भावभक्ति की कविता की है। गुजरात में वल्लभ संप्रदाय का इतना अधिक प्रभाव रहा है कि यहाँ वैष्णवधर्म का अर्थ ही प्रायः वल्लभ संप्रदाय समझा जाता है।

गुजरात के वैष्णव भक्तों और कवियों की परंपरा भालण और नरसिंह के समय से ही चल पड़ी थी, पर ये कवि असांप्रदायिक थे। वल्लभाचार्य जी के गुजरात आगमन के पश्चात् गुजरात के कवि वल्लभीय विचारधारा की ओर आकर्षित हुए और अन्य वैष्णव कवियों की भाँति व्रजभाषा में काव्यरचना करने लगे। इन कवियों के हृदय में अपने आराध्य श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य अनुराग था। श्रीकृष्ण की मातृभूमि (व्रज) और वहाँ की भाषा (व्रजभाषा) भी इन्हें अपने आराध्य की ही भाँति प्रिय थी। इसी श्रद्धा और प्रेम से प्रेरित होकर इन गुजराती कवियों ने स्वभाषा को छोड़कर व्रजभाषा में रचनाएँ की हैं।

व्रजभाषा की परंपरा—गुजरात में व्रजभाषा की काव्यपरंपरा संभवतः सूरदास से भी पहले प्रचलित हो चुकी थी। यदि गुजराती साहित्यकारों द्वारा भालण, केशवराम और नरसिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महेता का जो काल निर्धारित किया गया है, वह सही है और इन कवियों की जो हिंदी कृतियाँ प्राप्त हुई हैं वे प्रक्षिप्त नहीं हैं, तो इसे स्वीकार करने से इनकार नहीं किया जा सकता कि १५वीं शती ई० के अंत तक गुजरात में व्रजभाषा का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। गुजराती साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान श्रीयुत केशवराम का० शास्त्री ने भालण को व्रजभाषा का आदि कवि कहा है।[६]

गुजरात के मध्यकालीन वैष्णव कवियों में से लगभग सभी ने कुछ काव्य व्रजभाषा में लिखे हैं। व्रजभाषा में काव्यरचना करना उन दिनों गौरव की बात मानी जाती थी। इसलिये गुजरात के अनेक कवियों ने गुजराती में न लिखकर व्रजभाषा में काव्यरचना की है।

गुजरातियों द्वारा प्रयुक्त व्रजभाषा — गुजराती कवियों द्वारा प्रयुक्त व्रजभाषा शुद्ध और परिमार्जित नहीं है। व्रजमंडल से दूर रहने और इस भाषा को सीखने के साधनों के अभाव के कारण गुजराती कवि व्रजभाषा में पूर्णतया दक्ष नहीं हो पाते थे। साथ ही इनकी भाषा प्रांतीय भाषा (गुजराती) के प्रभाव से भी मुक्त नहीं हो पाती थी। बंगाल के वैष्णव कवियों की 'व्रजबुली' जिस प्रकार व्रजभाषा और बँगला का मिला जुला रूप है, उसी प्रकार गुजरात के वैष्णव कवियों की व्रजभाषा भी व्रज और गुजराती का मिलाजुला रूप है। गुजरात के कृष्णदास, हर्षदास, दयाराम आदि जिन कवियों को व्रजमंडल में यात्रा के निमित्त आने-जाने और रहने का अवसर मिला, उन कवियों की भाषा अन्य गुजराती कवियों की अपेक्षा प्रांतीय प्रभाव से अपेक्षाकृत मुक्त है।

गुजरात के प्रमुख वैष्णव कवि—गुजरातके वैष्णव कवियों में भालण, केशवराम, नरसिंह मेहता, संगीताचार्य बैजू बावरा, मीरां, कृष्णदास अधिकारी, विश्वनाथ जानी, मुकुंद गुगली, त्रिकमदास, हरखदास, दयाराम और गिरधर विशेष उल्लेखनीय है। गुजरात के इन हिंदीसेवी वैष्णव कवियों में रामभक्त कवि नहीं के बराबर हे। अधिकतर कवि कृष्णोपासक हैं। इन्होंने व्रजभाषा में कृष्णलीला के गेय पदों की रचना की है। संगीतात्मकता इनके काव्यों की प्रमुख विशेषता है। चरितकाव्यों की परंपरा में द्वारका के कवि मुकुंद (१६५२ ई०) ने 'कबीरचरित्र' की, त्रिकमदास (१७३४ से १७९९ ई०) ने 'डाकोरलीला' और 'रुक्मिणी विवाह' तथा गिरधर (१७८७ से १८५२ ई०) ने 'दाणलीला' और 'श्रीकृष्ण जन्म वर्णन' आदि ग्रंथों की व्रजभाषा में रचना की है।

मीरां—गुजरात के हिंदीसेवी वैष्णव कवियों में मीरां का उल्लेख अनिवार्य प्रतीत होता है। इस कवयित्री का जन्म यद्यपि राजस्थान में हुआ था, पर जैसा कि अब सिद्ध हो चुका है, इसके जीवन के अंतिम १५ वर्ष गुजरात में बीते थे।[७] मीरां की गणना गुजराती भाषा के आदि कवियों में की जाती है और उसके लगभग १०० पद गुजराती भाषा और साहित्य की संपत्ति बने हुए हैं। मीरां के कारण हिंदी और गुजराती भाषाओं में निकटता स्थापित हुई है। उसकी कविताओं में आए हुए गुजराती, राजस्थानी और व्रज के शब्द सभी प्रदेशों में व्यापक बने हैं। इस प्रकार मीरा की रचनाओं ने एक ओर गुजरात में हिंदी को व्यापक बनाया और दूसरी ओर गुजराती शब्दों और मुहावरों से हिंदी के भंडार को समृद्ध किया।

६. गुजराती साहित्य नुं रेखादर्शन, पृ० ९२, प्र० सं०।
७. देखिए, कविचरित – केशवराम का० शास्त्री।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बैजू बावरा—सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ बैजू बावरा (१६वीं शती ई०) गुजरात के चाँपानेर का निवासी था। संगीतज्ञ होने के साथ वह कवि भी था और ब्रजभाषा में कृष्णभक्ति की सुंदर रचनाएँ करता था। इसके अनेक पद कृष्णानंद व्यास द्वारा संपादित 'संगीत रागकल्पद्रुम' में मिलते हैं, यथा—

राग टोड़ी (स्वर फाख्ता)
पक्षीमणि गरुड़, गजमणि ऐरावत
दिनमणि दिवाकर।
गीतमणि संगीत, वनमणि वृंदावन
तरुमणि कल्पतर॥
नरमणि नारायण, तारामणि ध्रुव
तीर्थमणि गंगा, देवमणि शंकर॥
नारिमणि उरवशी, पुष्पमणि कमल
दास बैजू मुख मुरलीधर॥

कृष्णदास—अष्टछाप के आठ कवियों में से एक कृष्णदास अधिकारी (१४९६ से १५७९ ई०) गुजरात में चरोतर के पाटीदार थे। ये इतने समर्थ थे कि एक बार इन्होंने गोसांई विट्ठलनाथजी को भी श्रीनाथजी की सेवा से च्युत कर दिया था। ये पुष्टिमार्गीय सिद्धांतों के गूढ़ ज्ञाता और राधाकृष्ण के युगल स्वरूप के अनन्य उपासक थे। इन्होंने राधा को ब्रह्म की रसरूप शक्ति के रूप में माना है और श्रृंगारभक्ति के सुंदर पदों की रचना की है। इनकी रचनाओं से हिंदीसंसार परिचित है।

दयाराम—हिंदीसेवी गुजराती कवियों में दयाराम सर्वश्रेष्ठ हैं। इनका जन्म सन् १७८७ में और मृत्यु १८५२ ई० में हुई। इन्होंने ब्रजभाषा में ५० के लगभग छोटे बड़े ग्रंथों और हजारों स्फुट पदों की रचना की है। दयाराम पुष्टिमार्ग के अनुयायी थे। इनके आधे से अधिक ग्रंथों में पुष्टिमार्ग के सिद्धांतों का विवेचन है। शेष रचनाएँ उपदेशात्मक और श्रृंगारिक हैं। इनकी हिंदी रचनाओं में 'सतसैया' सर्वोत्कृष्ट है। यह कृति बिहारी सतसई के टक्कर की रचना है।[८] इसके अतिरिक्त 'रसिक रंजन', 'क्लेश कुठार', 'वस्तुवृंद दीपिका' आदि भी कवि की सुंदर रचनाएँ हैं।

'सतसैया' से दयाराम की रचना के कुछ उदाहरण देखिए—

रसिक नैन नाराच की, यही अनौखी रीत।
दुसमन को परसे नहीं, मारें अपनो मीत॥ १२०॥
रूप भूप के राज में, यह महान अन्याय।
नाम न ले को मूढ़ को, चातुर मारे जाय॥ १२१॥
प्रीति जुरी प्रकृति न मिलि, वह दुहुपख दुखपाय।
रोटी गंडेरी चवी, क्यो डारे क्यों खाय॥ ६४२॥

८. विशेष परिचय के लिये देखिए नागरी प्रचारिणी पत्रिका संवत् २०१३, अंक १ में लेखक का 'दयाराम कृत सतसैया' शीर्षक लेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन कवियों के अतिरिक्त शामल, प्रेमानंद, हरपदास महेता, गिरधर और संगीताचार्य आदि कवियों ने भी ब्रजभाषा में सुंदर कविता की है।

३. स्वामीनारायण संप्रदाय के कवि

१८वीं शती ई०.के अंतिम चरण में गुजरात में स्वामिनारायण के उद्धव नामक एक नए संप्रदाय का जन्म हुआ। इस संप्रदाय के संस्थापक सहजानंद स्वामी माने जाते हैं।

जिन दिनों गुजरात में इस संप्रदाय की स्थापना हुई, उन दिनों गुजरात की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति बड़ी दयनीय थी। श्री कन्हैयालाल मुंशी के शब्दों में 'मारे उसकी तलवार और जीते उसका देश तथा वरे उसकी नहीं पर हरे उसकी स्त्री'[१], यह प्रवृत्ति उस समय के समाज में व्याप्त थी। जैन और वल्लभ संप्रदायों पर से जनता की श्रद्धा उठ चुकी थी। समाज में शूद्रों का स्थान अत्यंत दयनीय था। ऐसी परिस्थितियों में स्वामिनारायण संप्रदाय का प्रादुर्भाव गुजरात में हुआ। इस संप्रदाय ने सभी सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों से मोर्चा लिया और व्यसनों में फँसे हुए अछूतों और शूद्रों का उद्धार किया। गुजरात में अछूतोद्धार के काम का श्रीगणेश करनेवालों में सहजानंद सर्वप्रथम व्यक्ति थे।

न केवल समाज सुधारक और संप्रदाय के संस्थापक रूप में बल्कि साहित्य और कला के उद्धारक के रूप में भी सहजानंद स्वामी की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। इन्होंने अपने अनुयायियों को साहित्य और संगीत के अध्ययन की ओर प्रवृत्त किया। सहजानंद स्वामी से प्रेरणा प्राप्त करके गुजरात में अनेक कवि गुजराती और हिंदी में कविता करने लगे। इनके अनुयायियों में मुक्तानंद, ब्रह्मानंद, प्रेमानंद, निष्कुलानंद आदि कवियों ने ब्रजभाषा मारवाड़ी और चारणी भाषा में सुंदर रचनाएँ की है। ये सभी कवि संगीत के जानकार थे और इन सभी ने हिंदी में नीति, वैराग्य और कृष्णभक्ति-विषयक सुंदर गेय पदों की रचना की है।

मुक्तानंद स्वामी (१७६१ से १८३० ई०)—इनका जन्म 'ध्रांगध्रा' में और मृत्यु गढडा में हुई। ये स्वामीनारायण संप्रदाय के संस्थापक सहजानंद स्वामी के गुरु भाई थे। इन्होंने कृष्णभक्ति तथा ज्ञानवैराग्य विषयक पदों की रचना की हैं। इनकी कविता अत्यंत सरल, सुमधुर और बोधप्रद है। विवेक चिंतामणि और सत्संग शिरोमणि इनकी हिंदी रचनाएँ हैं। इनकी रचनाओं में कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम है। एक उदाहरण —

छाँड़ के घनश्याम और को धरूं जो ध्यान।
फाड़ डारो छाती मोरी, कठिन कुठार सों॥

ब्रह्मानंद स्वामी (१७७२ से १८३२ ई०)—ये स्वामीनाराण संप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इनका जन्म डुंगरपुर परगने के खाण नामक गाँव में चारण कुल में हुआ, शिक्षा दीक्षा भुज (कच्छ) की पाठशाला में हुई और जीवन काठियावाड़ में बीता। इनका बचपन का नाम लाड़ू बारौट था। बड़े होकर स्वामीनारायण संप्रदाय में दीक्षित होने पर ये श्री रंग और ब्रह्मानंद स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन तीनों ही नामों से उन्होंने कविता की है। गुजराती के अतिरिक्त इन्होंने, मारवाड़ी, चारणी और ब्रजभाषा में भी अनेक ग्रंथों तथा

१. मध्यकालनां साहित्यप्रवाह, पृ० २१२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संगीतात्मक पदों की रचना की है। संप्रदायप्रदीप, सुमतिप्रकाश, उपदेशचिंतामणि और व्रजविलास इनकी हिंदी रचनाएँ हैं। ये संगीत और पिंगल के अच्छे जानकार थे। भाव और भाषा की दृष्टि से इनकी रचनाएँ अत्यंत उत्कृष्ट हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है —

वहान कुँवर मन भाये, आलीरी मेरे वहान कुँवर मन भाये।
मैं ज्युँ खड़ी थी अपने भुवन में, चलके अचानक आये॥
कोमलगात न जात बखाने, छैल छगन रंग छाये।
ब्रह्मानंद जोर दृग मो सों, मंद मंद मुसकाये॥

प्रेमानंद स्वामी (१७७६ से १८४५ ई०)—ये 'प्रेम सखी' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इनका निवासस्थान गढड़ा था और ये गाने वजाने में अत्यंत पटु थे। इनकी कविता में भक्ति, आत्मदैन्य और प्रेम की प्रमुखता है। इन्होंने संगीतात्मक पदों में श्रीकृष्ण तथा सहजानंद स्वामी का गुणगान किया है। इन्होंने व्रजभाषा और मारवाड़ी में ७००० के लगभग पदों की रचना की है। इनकी भाषा और रचना शैली को देखकर मीरां की याद आए विना नहीं रहती। एक उदाहरण देखिए —

वैरन बाजेरे मोरी बाँसुरी ॥ टेक ॥
श्रवन सुनत मोरी सुध बुध विसरी, नैना वहत रे मोरे आँसुरी।
विरहा भरी बाजे बन बाँसुरी, छेदे करेजारे मोरी पाँसुरी॥
कैसी करूँ अब कल न परे मोहे, निकसत नहीं मोरी साँसुरी।
प्रेमानंद घनश्याम पिया मोरे, जीय में डारी रे प्रेम फाँसुरी॥

इन कवियों के अतिरिक्त इस संप्रदाय में निष्कुलानंद, भूमानंद, दयानंद और देवानंद आदि कवियों ने भी हिंदी में रचनाएँ की हैं।

४. गुजरात के संत कवि

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना। इस समन्वयसंस्थापन का बहुत कुछ श्रेय मध्यकालीन संतों को है। इन संतों ने देश के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच कर ज्ञान, भक्ति और प्रेम का अलख जगाया और जाति तथा धर्म के भेदभावों को मिटाकर एकेश्वरवाद और विराट् मानवधर्म की स्थापना करने का प्रयत्न किया। ये किसी एक प्रांत के न होकर समस्त भारत के थे, इसलिए इन्होंने प्रांतीय भाषाओं को छोड़कर सर्वसुलभ सधुक्कड़ी वाणी को अपने उपदेशों के लिये अपनाया।

गुजराती साहित्य में भारतीय संतपरंपरा के प्रभाव के चिह्न १५वीं शती से दृष्टिगोचर होने लगते हैं। नरसिंह मेहता के ज्ञान - वैराग्य के पदों में कबीर का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। श्री किशनसिंह चावड़ा के मतानुसार कबीर अपने पुत्र कमाल के साथ सन् १५०८ ई० में गुजरात में आए थे और कुछ समय तक भृगुकच्छ (भरौंच) के तट पर ठहरे भी थे। श्री चावड़ा ने सौराष्ट्र और गिरनार में भी कबीर के पर्यटन का उल्लेख किया है।[१०]

कबीर गुजरात में आए थे अथवा नहीं, यह विषय संदिग्ध एवं विवादास्पद हो सकता है पर गुजराती समाज और साहित्य पर कबीर का जो प्रभाव पड़ा है, उसे अस्वीकार नहीं किया

१०. कबीर संप्रदाय, किशनसिंह चावड़ा, पृ० १४१ - १४५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता। नरसिंह मेहता से लेकर आजतक के कवियों पर कबीर का थोड़ा बहुत प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

गुजरात में कबीर पंथ के अतिरिक्त प्रणामी, रामानंदी, दादू आदि पंथों का भी प्रचलन है। पर इनमें सबसे अधिक प्रभावशाली पंथ कबीरपंथ हैं। इन सभी पंथों के अनुयायी संतों ने खड़ी बोली हिंदी की परंपरा को गुजरात में जीवित रखा है और अपनी वाणी द्वारा ज्ञान-वैराग्य का उपदेश जनता को दिया है।

गुजरात का संतसाहित्य भारतीय संतसाहित्य की परंपरा की ही एक कड़ी है। सभी संतों ने वाह्याचारों का खंडन तथा संयम, शील और सदाचार का समर्थन किया हैं। सभी संत हिंदू-मुसलिम एकता के समर्थक, उपदेशक और समाजसुधारक थे। इन संतों ने संसार की असारता और देह की नश्वरता के गीत गाए हैं, पर इसके पीछे इनका उद्देश्य जनता को अकर्मण्य या जीवन से विमुख करने का नहीं था। ज्ञान या वैराग्य का उपदेश देकर ये जनता को ईश्वरोन्मुख करके उसे अहिंसा और परोपकार का पाठ पढ़ाना चाहते थे। यही कारण है कि भाषा और साहित्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण न होते हुए भी लोककल्याण की दृष्टि से संत साहित्य की देन अद्वितीय है।

संतों ने भाषा को सदा से गौण स्थान दिया है। कबीर का 'का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिये साँच' और जायसी का 'जामे मारग प्रेम का सबै सराहै ताहि' कथन इसकी पुष्टि करते हैं। गुजरात के संत कवियों का भी भाषा के संबंध में यही दृष्टिकोण रहा है। गुजराती कवि अखा ने कहा हैं, भाषा (हथियार) से क्या होता है? शूरवीर तो वह कहलाता है जो रण में पराक्रम दिखाए।[११]

गुजराती संतों की भाषा सधुक्कड़ी-हिंदी है, जिसपर गुजराती भाषा का भी पर्याप्त प्रभाव है। छंदयोजना की ओर भी इन्होंने ध्यान नहीं दिया है। कबीर और दादू द्वारा प्रयुक्त साखियों, पदों और भजनों का ही ये संत अनुकरण करते से प्रतीत होते हैं। कुछ संतों ने राग रागिनियों और तालों के आधार पर भी रचनाएँ की हैं। कुछ की वाणी गुजराती काव्यप्रकारों में से गरबा, गरबी, चावला, होरी, काफी, छप्पा और चरचरी आदि काव्यस्वरूपों में भी व्यक्त हुई है। गुजराती संतों में से कुछ प्रमुख संतों का यहाँ संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है —

दादू – दादू दयाल का नाम हिंदीसेवी संसार में सुपरिचित हैं। दादूपंथियों के मतानुसार ये १५४५ ई० में लोदीराम नामक नागर ब्राह्मण को अहमदाबाद में साबरमती नदी में बहते हुए मिले थे।[१२] ११ वर्ष की अल्पायु में ही ये विरक्त होकर घर से निकल पड़े थे और इनका शेष जीवन राजस्थान में बीता। दादू की वाणी बड़ी प्रभावोत्पादक और ऊँचे घाट की है। सगुण कवियों में जैसे सूर और तुलसी वैसे ही निर्गुण कवियों में कबीर और दादू हैं। इन्होंने गुजराती

११. भाषाने शुं वलगे भूर।
जे रण माँ मारे ते शूर॥

१२. उत्तर भारत की संत परंपरा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मराठी, पंजाबी, सिंधी तथा हिंदी में सुंदर पदों की रचना की है। हिंदीसेवी संसार इनकी रचनाओं से परिचित है।

अखा (ई० सन् १५९१ से १६५६)—ब्रह्मज्ञानी अखा कबीर की भांति अक्खड़, फक्कड़ और मनमौजी थे। वे जेतलपुर के निवासी थे और अहमदाबाद में रहकर सुनार का पेशा करते थे। आगे चलकर इन्हें जीवन से विरक्ति हो गई और सब कुछ छोड़कर ये सतगुरु की खोज में निकल पड़े। बनारस रहकर कुछ समय तक इन्होंने अध्ययन किया। ज्ञान प्राप्त होने पर ये गुजरात में लौट आए और जनसाधारण को उपदेश देने लगे। इनकी कविता अत्यंत प्रभावोत्पादक, मार्मिक और सचोट है। संसार की अप्रामाणिकता, स्वार्थपरायणता और क्षुद्रता को इन्होंने खोलकर रख दिया है। कवि की अपेक्षा अखा अपने आपको ज्ञानी कहलाना पसंद करते थे। उन्होंने हिंदी और गुजराती दोनों भाषाओं में रचना की है। हिंदी में इन्होंने संतप्रिया, ब्रह्मलीला, अवस्थानिरूपण और 'एकलक्ष रमणी', इन चार ग्रंथों की तथा छप्पा, सोरठा, साखी, पद, भजन, जकड़ी, भूलणा आदि स्फुट छंदों की रचना की है। गुजरात के संत कवियों में अखा का व्यक्तित्व अद्वितीय है। यदि हम अखा को गुजरात का कबीर कहें तो अत्युक्ति न होगी। इनकी रचना का एक उदाहरण देखिए —

अकल कला खेलत नर ज्ञानी।
जैसे हि नाव हिरे फिरे दसों दिश
ध्रुवतारे पर रहत निशानी ॥ अकल ॥
चलन वलन अवनी पर वाकी
मन की सुरत अकाश ठरानी।
तत्व समास भयो है स्वतंतर
जैसे हिम होत है पानी ॥ अकल ॥
अजब खेल अद्भुत अनुपम है
जाकूँ है पहचान पुरानी।
गगनहि गैब भया नर बोले
एहि अखा जानत कोई ज्ञानी ॥ अकल ॥

प्राणनाथ इंद्रामती (१६१८ से १६९५ ई०) — धामी पंथ के प्रवर्तक सर्वधर्म-समन्वयी संत प्राणनाथ का जन्म काठियावाड़ प्रदेश के जामनगर में हुआ था। इंद्रामती इनकी पत्नी थी। इन्होंने सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र, मालवा आदि प्रदेशों में खूब भ्रमण किया। महाराज छत्रसाल इनके प्रधान शिष्य थे। इन्हें अरबी, फारसी, संस्कृत, गुजराती, मराठी और हिंदी आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। इस दंपति ने मिलीजुली भाषा में १४ ग्रंथों की रचना की है, जिनमें 'कलजमे शरीफ' विशेष प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ की भाषा गुजराती, सिंधी और हिंदी का मिला जुला रूप है। भाषा और साहित्य की दृष्टि से इनकी रचनाएँ अपरिमार्जित और गद्य के समान नीरस है। इनकी रचनाओं से भी हिंदीसेवी संसार परिचित है।

प्रीतमदास (मृत्यु सन् १७९९ ई०)—ये गुजरात के खेड़ा जिले के बावला गाँव के निवासी लोकप्रिय संत थे। इनके संबंध में गुजरात में यह उक्ति प्रचलित है कि 'गरबी दयाराम की और पद प्रीतम के'। इन्होंने सधुकड़ी भाषा में अत्यंत भावपूर्ण पद और साखियाँ लिखी है। कुछ उदाहरण अवलोकनीय है —

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छिन छिन आछा होत है, अंजलि केरा नीर।
कहे प्रीतम कैसे रहे, नव छिद्र युक्त शरीर॥
तृष्णा तू थाकी नहीं, खायो सब संसार॥
कहे प्रीतम करूं दूरथी, कर जोडी नमस्कार॥

धीरो (मृत्यु सन् १८२५ ई०)—ये बड़ौदा प्रांत के सावली के निकट गोठडा नामक गाँव के निवासी थे। प्रारंभ में कृष्णभक्ति की कविता करते थे, पर आगे चलकर ज्ञान-भक्ति की कविता करने लगे। हिंदी में इन्होंने पद और कुंडलियाँ लिखी हैं। उदाहरण—

दम का भरोसा मतकर भाई, साधन करंदा साईं।
साधन करंदा साईं, मैं बारी बर्या दमका॥'

निरांत (सन् १७४७ से १८५२ ई०)—ये गुजरात के प्रमुख ज्ञानमार्गी कवियों में से एक हैं। इन्होंने हिंदी में पद और साखियाँ लिखी हैं। इन्हें संगीत का भी अच्छा ज्ञान था। भाषा की दृष्टि से इनकी हिंदीरचनाएँ बहुत साधारण हैं। इनकी रचनाएँ प्राचीन काव्यमाला भाग १० में संगृहीत हैं।

भोजों भगत (जन्म सन् १७८५ से १८५० ई०)—काठियावाड़ के प्रसिद्ध संत भोजो भगत अत्यंत प्रतिभासंपन्न व्यक्ति थे। इनकी वाणी मार्मिक और प्रभावोत्पादक है। इनकी मान्यता थी कि जिस प्रकार मरियल घोड़ा बिना चाबुक के नहीं चलता, उसी प्रकार गलित समाज भी वाणी की चाबुकें मारे बिना सीधे रास्ते पर नहीं आता। इन्होंने समाज की कुरीतियों को आड़े हाथों लिया है और उसपर वाणी की चाबुकों की वर्षा की है। गुजराती साहित्य में इनके चाबखे (चाबुक) बहुत प्रख्यात हैं। इन्होंने हिंदी में भजन, पद, होली इत्यादि की रचना की है। भाषा अपरिमार्जित एवं अव्यवस्थित है। इनके कुछ हिंदीपद प्राचीन काव्यमाला भाग ५ में संग्रहीत हैं।

मनोहर स्वामी 'सच्चिदानंद' (सन् १७८८ से १८४५)—जूनागढ़ के ब्रह्मज्ञानी नागर संत कवि मनोहरदास संस्कृत, फारसी गुजराती और हिंदी के अच्छे जानकार थे। इन्होंने अपनी कविताओं में स्वस्वरूप को पहचानकर जीवन्मुक्ति प्राप्त करने का उपदेश दिया है। इनकी हिंदीकविता सरल होते हुए भी सचोट है। इन्होंने पाखंडियों को खूब लताड़ा है—

भल कलयुग में भाँड गवैया, परमहंस बन बैठे भैया।
कुत्सित नर कूँ कहत कन्हैया
ब्रह्म विद्या की बात न जानत
झूम झनन ठूम ठनन बजैया
तोते जिमि पढ़ि काग की नाईं
कीवी कीवी कीवी कीवी कीवी की करैया॥
दूना कंठी गरे महु डारिके,
पामर नर के धनहि हरैया।
मृग जिमि राग रसिकजन आगे।
नादर दानी तुम दर दानी तुम दर दर गवैया!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सच्चिदानंद ब्रह्म से उलटि कें ।
थनगन थनगन नाच नचैया ॥

छोटम (सन् १८१२ से १८८५ ई०)—इनका जन्म पेटलाद तालुके के एक नागर परिवार में हुआ । बचपन से ही इनकी रुचि अध्यात्म की ओर थी । इन्होंने पाखंडियों के पंथ का खंडन करके नीतिधर्म की स्थापना के लिये लोगों को गुजराती और हिंदी में उपदेश दिए हैं । कहा जाता है कि इन्होंने अपने अंतिम दिनों में 'बोधसुधा' नामक ग्रंथ लिखा था, जो अभी तक अप्राप्य है । इनके जो हिंदीपद और और साखियाँ प्राप्त हैं, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनकी रचनाएँ अत्यंत भावपूर्ण और सारगर्भित हैं, भाषा में हिंदी-गुजराती का संमिश्रण हैं । कुछ उदाहरण देखिये—

दुरिजन सज्जन ना बने, कीजे कोटि उपाय ।
धोवे नित नित दूध से, काग हंस ना थाय ॥
सरिता को जल सिंधु में, सहजहि आवत धाय ।
त्यूं विद्या गुन ज्ञान सब, सज्जन मांहि समाय ॥
मात विछोया बाल ज्यूं, माता ढूँढ़त रोय ।
यूँ रोवे प्रभु मिलन को, प्रभु पद पावे सोय ॥

संक्षेप में कहें तो गुजरात का संतसाहित्य भारतीय संतपरंपरा की ही एक कड़ी है। उसका कलापक्ष गौण और भावपक्ष प्रधान है । संत साहित्य का एक मात्र उद्देश्य लोककल्याण रहा हैं । गुजरात के संतों ने अपने समय की आवश्यकता के अनुसार जनता को उपदेश दिए हैं । ऊपर बताए गए संतों के अतिरिक्त गुजराती संतों में माणदास, रविसाहब, खेमसाहब, मोरार साहब, त्रिक्रमसाहब, हाथीसाहब, जीवणदास, मूलदास, महात्मा हरदास, कल्याण, दीन दरवेश, अर्जुन भगत, अनवर, नृसिंहाचार्य आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । इनके अतिरिक्त खालस, गणपतराम, देवकृष्ण, पीतांबर, रणछोड़ आदि अनेक संतों ने खड़ी बोली में ज्ञानभक्ति की कविता करके गुजरात में संतपरंपरा को जीवित रखा है ।

५ - गुजरात के जैन कवियों की हिंदी सेवा

गुजरात में जैनधर्म—गुजरात जैन धर्म का एक प्रधानकेंद्र रहा है । बहुत प्राचीन समय से गुजरात में जैन धर्म के प्रचलित होने के प्रमाण मिलते हैं । जैनियों के २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के गिरिनार में समाधि लेने और ई० ५वीं शती में मुनि सुव्रत तीर्थंकर के शकुनि-विहार नामक आश्रम, भृगुकच्छ में होने का उल्लेख अनेक विद्वानों ने किया है।[13] इसके अतिरिक्त वल्लभी के राजा शिलादित्य (५वीं शती), वृद्धपुर के राजा ध्रुवसेन (५वीं शती) और फिर आगे चलकर वनराज चावड़ा आदि के जैन धर्म में दीक्षित होने का उल्लेख मिलता है । इन ऐतिहासिक उल्लेखों तथा गिरनार, पावागढ़ आदि सिद्ध क्षेत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म का गुजरात में पर्याप्त प्रचार रहा है ।

१३. देखिए 'मध्यकालीन गुजराती साहित्य' — क० मा० मुंशी ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुजरात का प्राचीन जैनसाहित्य—जैनियों के हाथों भाषा और साहित्य की भी प्रशंसनीय सेवा हुई है। आज प्राचीन भाषा और साहित्य के जो ग्रंथ उपलब्ध हैं उनकी सुरक्षा के लिये हम जैनियों के ही ऋणी हैं। जैनियों के हाथों अपभ्रंश, हिंदी और गुजराती की विशेष सेवा हुई है। १५वीं शती के पहले के गुजराती साहित्य में जैन कवियों की संख्या इतनी अधिक है कि उसे प्राचीन गुजराती साहित्य न कहकर प्राचीन जैन साहित्य कहने को जी चाहता है।

१५वीं शती से पहले के जैन कवियों ने अपभ्रंश तथा प्राचीन हिंदी और प्राचीन गुजराती में जो रचनाएँ की हैं उनके बारे में हम प्राग् नरसिंह युग में कह आए हैं। यहाँ हम नरसिंह महेता के परवर्ती हिंदीसेवी जैन कवियों का उल्लेख करेंगे।

जैन कवियों की प्रिय भाषा अपभ्रंश रही है। १०वीं शती से १७वीं शती तक जैन कवियों ने मुख्यतया अपभ्रंश में ही रचनाएं की हैं। १७वीं शती के पश्चात् गुजरात के जैन कवि व्रजभाषा और खड़ी बोली में भी रचनाएँ करते प्रतीत होते हैं। न केवल भाषा में वरन् उनके विचारों में भी धीरे धीरे असांप्रदायिकता आगई है। सांप्रदायिकता के संकीर्ण बंधनों को छोड़कर नरसिंह महेता के परवर्ती जैन कवियों की वाणी लोकहितार्थं व्यापक बनती गई है। जैन कवि भी संत कवियों के स्वर में स्वर मिलाकर संगीतात्मक पदों और मुक्तकों में जाति-पाँति और ऊँचनीच के भेदभाव की व्यर्थता का उपदेश देते दिखाई देते हैं। इनकी कविता में भी वही प्रेम, मस्ती, अनासक्ति, रूढ़ियों का त्याग, अंतर्मुखी प्रवृत्ति, संयम, शील और सदाचार का उपदेश है, जो संतों ने दिया है। प्रमुख हिंदीसेवी जैन कवियों का परिचय आगे दिया जा रहा है।

आनंदघन — ये १७वीं शती ई० के जैन कवि हैं। इन्होंने मेडता (मारवाड़) में समाधि ली। इनकी प्रथम कृति 'आनंदघन चौबीसी' गुजराती में मिलती है। इससे इनके गुजराती होने अथवा लंबे समय तक गुजरात में रहने का अनुमान होता है। इन्हें व्रज, मारवाड़ी और खड़ी बोली का अच्छा ज्ञान था। ये अंतर्मुखी प्रवृत्तिवाले आध्यात्मिक पुरुष थे। इन्होंने व्रज और मारवाड़ी में भावपूर्ण और संगीतात्मक पदों की रचना की है। इनकी भाषा भाववाही और परिमार्जित है। एक उदाहरण देखिए —

राम कहो रहमान कहो कोउ, कान कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वमेव री॥
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खंड कल्पना रोपित, आप अखंड स्वरूप री॥
निज पद रमे राम सो कहिये, रहम करे रहमान री।
कर्षे करम कान सो महिये, महादेव निर्वाण री॥
परसे रूप पारस सो कहिये, ब्रह्म चीन्हें सो ब्रह्म री।
इहि विधि साधो आप आनंदघन, चेतनमय निष्कर्म री॥

ज्ञानानंद — ये भी १७वीं शती के जैन कवि हैं। इनकी वाणी में मीरा की वाणी जैसा पदलालित्य और कबीर की वाणी जैसा अर्थगांभीर्य है। श्रीयुत पुरुषोत्तमदास जी टंडन ने भी इनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। रचनाशैली का एक उदाहरण अवलोकनीय है—

मेरे मुनि वीतराग, चित्त मांहे जोई।
और देव नाम रूप, दूसरो न कोई॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घाति करम भसम छाए, देह में लगाई।
परम योग शुद्धभाव, स्वायक चितलाई॥
तंबू तो गगन भाव, भूमि शयन भाई।
चारित नवनिधि सरूप, ज्ञानानंद भाई॥

विनयविजय — ये १७वीं शताब्दी के जैन कवि थे। संस्कृत भाषा और जैन आगमों के ये पंडित थे। हिंदी में इनकी बनाई हुई अनेक स्तुतियाँ प्रचलित हैं। इनकी भाषा में व्रज और मारवाड़ी का मिश्रण है। यथा —

जोगी ऐसा होय फरूं।
परम पुरुष सूं प्रीत करूं और सें प्रीत हरूं॥

× × ×

मेरे सतगुरु ने उपदेश दियो है, निरमल जोग बतायो।
विनय कहे मैं उनको ध्याऊँ, जाने शुद्ध मारग दिखायो॥

यशोविजय — पाटण निवासी जैन कवि यशोविजय १७वीं शती में वर्तमान थे। इनकी शिक्षा-दीक्षा आगरे और काशी में हुई थी। विद्वत्ता, प्रतिभा और तलस्पर्शी अध्ययन को देखकर अगर इन्हें जैन समाज का दूसरा हेमचंद्राचार्य कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। इन्होंने सुंदर और परिमार्जित व्रजभाषा में भजन, पद, रास आदि लिखे हैं। एक उदाहरण देखिए —

देखो माई अजब रूप जिनजी को।
उनके आगे और सबन को रूप लगे मोहे फीको॥
लोचन करुना अमृत कचोले, मुख सोहे अति नीको।
कवि जसविजय कहे यों साहिब, नेमजी त्रिभुवन टीको॥

किशनदास — गुजरात के सुप्रसिद्ध जैन कवि किशनदास ने अपनी बहन रतनबाई की मृत्यु पर सन् १७११ ई० में व्रजभाषा में 'उपदेश बावनी' की रचना की है। भाषा और भाव की दृष्टि से यह रचना अत्यंत सुंदर है। शांतरस की इस लोकप्रिय रचना का मुख्य विषय ज्ञानोपदेश है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है —

अंजलि के जल ज्यों घटत पल पल आयु।
विष से विषम व्यवसाय विष रस के॥
पंथ को मुकाम कछु बाप को न गाम यह
जैबो निज धाम तातें कीजे काम यश के॥
खान सुलतान उमराव राव राना आन
किसन अजान जान कोउ न रही सके।
साँझरु विहान चल्यो जात है जिहान तातें
हमहू निदान महिमान दिन दस के॥ २०॥

६ - गुजरात के राजा और राजाश्रित कवि

गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ के राजा - महाराजाओं के हाथों भी हिंदी की अच्छी सेवा हुई है। इन्होंने हिंदी कवियों को आश्रय देकर प्रजा के लिये हिंदी सीखने की सुविधाएँ जुटा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर तथा सबसे बढ़कर स्वयं हिंदी में रचनाएँ करके इस भाषा के प्रति अपने अनन्य प्रेम का परिचय दिया है।

गुजरात के राजाओं के राज्यों में हिंदीकवियों को विशेष रूप से संमानित किया जाता था। राजवंश की विरुदावली का गान करने के लिये दरबार में भाट - चारण अनिवार्य माने जाते थे। कच्छ के महाराव लखपतिजी (१७८२ – ६१ ई०) ने भुज में व्रजभाषा की एक पाठशाला स्थापित की थी। इस पाठशाला में न केवल गुजरात के बल्कि सुदूर प्रदेशों के भी विद्यार्थी पढ़ने जाते थे। समस्त भारत में यह अपने ढंग की एक अनोखी पाठशाला थी। इससे बढ़कर गुजरात के राजा - महाराजाओं के हिंदीप्रेम का ज्वलंत उदाहरण और क्या होगा हिंदी कवियों को आश्रय देने तथा हिंदी सीखने की सुविधाएँ प्रदान करने के अतिरिक्त गुजरात के राजा-महाराजाओं ने स्वयं भी हिन्दी में ग्रंथ लिखे हैं।

गुजरात के राजा-महाराजाओं ने हिंदी में जो रचनाएँ की हैं वे परिमाण की दृष्टि से कम होते हुए भी प्रभाव की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। १८वीं शताब्दी तक गुजरात राजनीतिक हलचलों का केंद्र बना रहा। इसलिये राजाओं को साहित्यिक प्रवृत्तियों में रस लेने का अधिक अवकाश ही नहीं मिला। इसके पश्चात् जैसे तैसे देश में शांति स्थापित होती गई, इनकी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भी विकसित होती गईं। राजाओं का हिंदी के प्रति प्रेम देखकर प्रजा भी स्वाभाविक रूप से हिंदी की ओर आकर्षित हुई।

राजकुमार महेरामणसिंह — राजकोट के राजकुमार महेरामणसिंह कृत प्रवीणसागर (संवत १८३८, सन् १७८२) को देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। ८४ सर्गों का यह विशालकाय महाकाव्य चारणी, व्रज और खड़ी बोली में लिखा गया है। गुजरात के राजघरानों की यह हिंदी को सबसे बड़ी देन है।[१४] भाषाशैली के परिचय के लिये एक उदाहरण यहाँ उद्धृत किया जाता है —

कटि फेंट छोरन में, भृकुटि मरोरन में,
सीर पेंच तोरन में, अति उरझाय कें।
मंद मंद हाँसन में, बरुनि विलासन में,
आनन उजासन में चकचौंध छाय कें।
मोती मनि मालन में, सोसनी दुसालन में,
चिकुटी के तालन में, चेटक लगाय कें।
प्रेम बान दे गयो न जाने किते गयो,
सु पंथी मन ले गयो झरोखे दृग लायके॥ १८ - २॥

झाला राजा — सौराष्ट्र के झाला राजाओं के हाथों भी हिंदी की सेवा हुई है। १८वीं शती तक सौराष्ट्र का राजनीतिक वातावरण भी बहुत अशांत रहा। १८०७-८ में काठियावाड़ के राजाओं का कर्नल वाकर के साथ समझौता हो जाने पर सौराष्ट्र में शांति स्थापित हुई और

१४. विशेष विवरण के लिये देखिए 'संमेलन पत्रिका' संवत २०१३, अंक २ में लेखक का 'महेरामणसिंह कृत प्रवीणसागर' शीर्षक लेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजाओं को साहित्यिक प्रवृत्तियों में रस लेने का अवकाश मिला। ध्रांगधरा के झाला राजाओं में राजा साहब अमरसिंह जी (१८०४ से १८४३ ई०), राजा साहब रणमलसिंह जी (१८४३ से १८६८ ई०) और राजा साहब मानसिंह जी (१८६८ से १९०० ई०) ने हिंदी में सुंदर रचनाएँ की हैं। महाराजा साहब मानसिंह जी ने तो खड़ी बोली में कुछ गजलें भी लिखी हैं, जैसे —

मयखाने इश्क से पीरे मुर्गां।
कोई जाम गुलाबी मिला हीं नहीं॥
क्या साकी से तेरे हमने कहा।
बुते होश रुबा का गिला ही नहीं॥

महाराव लखपति जी — कच्छ के महाराव लखपति जी (सन् १७५२ से १७६१) ने 'लखपति शृंगार' नामक एक सुंदर ग्रंथ रचकर तथा भुज (कच्छ) में व्रजभाषा की पाठशाला स्थापित करके हिंदी की प्रशंसनीय सेवा की है। इनकी रचनाशैली का एक उदाहरण देखिए—

विश्रब्ध नवोढा (रति वर्णन)

सीस सों सीस, मुखै मुख सों छतियाँ अपनी छतियाँ बरजोरी।
बाहु सों बाहु लपेटि लई कटि सों कटि गाढि करी है किशोरी॥
जाँघ सों जाँघनि पिंडि सो पिंडन बाँधे पगे पग घूँघरु डोरी।
राति की रीझ लखी मैं सखी तबतें मोरे चित्त में चित्त बिहारी॥

उन्नडजी तथा अन्य कवि — खाँखर गाँव कच्छ के ठाकुर उन्नडजी (ई० सन् १८३६) ने हिंदी में 'खुशबूकुमारी', 'भागवतपिंगल', 'उन्नडबावनी', 'मेघाडंबर', 'ब्रह्मछतीसी' 'नीति मर्यादा' आदि अनेक ग्रंथ हिंदी में रचे हैं। इनके अतिरिक्त खानकोटडा (कच्छ) के जाडेजा ठाकुर हरिसिंह ने 'ज्ञानकटारी' और महाराज विजयसिंह ने ई० सन् १८८९ में 'विजय-रस-चंद्रिका' की रचना की है।

गुजरात के राजघरानों की अनेक बेटियाँ राजस्थान के राजाओं को ब्याही गईं। इन रानियों में काकरेची ठकुरानी, हरीजी रानी चावडी और जामसुता प्रतानबाला के नाम उल्लेखनीय हैं। गुजरात की इन बेटियों ने हिंदी में काव्यरचना करके हिंदी की सेवा की है।

राजाश्रित कवि

चारण कवि — राजाश्रित कवियों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। एक राजाश्रित चारण कवि और दूसरे अन्य कवि। चारण कवियों ने डिंगल भाषा में और अन्य कवियों ने प्रायः व्रजभाषा में रचनाएँ की हैं। अपने ग्रंथों में आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा करना दोनों प्रकार के कवियों का उद्देश्य रहा है।

चारणों का पियर सोरठ — गुजरात का सोरठ प्रदेश 'चारणों का पियर' कहलाता है।[१५] पर गुजरात चारणों का मूल प्रदेश नहीं है। गुजरात के चारण राजस्थान से ही आकर यहाँ बसे हैं। गुजरात के राजाओं ने चारणों को आश्रय और अपने दरबारों में आदरणीय

१५. देखिए 'चारणो अने चारणी साहित्य' — मेघाणी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थान दिया था। संभवतः इसीलिये सोरठ को 'चारणों का पियर' कहा जाता है। गुजरात में चारणियों का भी बड़ा आदर है। आज भी देवियों के समान उनकी पूजा होती है।

गुजराती चारणी साहित्य — अभी तक चारणी साहित्य का क्षेत्र राजस्थान ही माना जाता है, पर आगे चलकर यह स्पष्ट हो जायगा कि गुजरात में भी चारणी साहित्य की विपुल रचना हुई है। सन् १९४२ में श्रीयुत मेघाणी ने 'चारणों अने चारणी साहित्य' विषय पर गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद के तत्वावधान में गुजराती में एक भाषण दिया था। यह भाषण ही गुजराती चारणी साहित्य की जानकारी का एकमात्र आधार है। स्व० श्री झवेरचंद मेघाणी को छोड़कर अभी तक अन्य किसी विद्वान ने गुजराती चारणी साहित्य के उद्धार का प्रयत्न नहीं किया।

भाषा और रस — गुजरात के चारणों ने डिंगल भाषा में मुक्तक और प्रबंधकाव्यों की रचना की है। भाषा पर गुजराती भाषा का भी प्रभाव है, जो स्वाभाविक है और एक हद तक क्षम्य भी।

चारणी साहित्य का मुख्य रस वीर है। चारणों की लेखनी से उतरे सैन्यसज्जा, अस्त्र-शस्त्र और युद्ध के वर्णनों को देखकर चकित रह जाना पड़ता है। युद्ध के हूबहू चित्र खींचने की कला चारणों की अपनी है। इस कला में कोई इनसे होड़ नहीं लगा सकता। युद्धवर्णन के अतिरिक्त शृंगार और शांत रस के चित्र भी गुजराती चारणों की लेखनी से सुंदर उतरे हैं।

प्रबंध काव्य — गुजरात के चारणों के प्रबंध काव्यों का प्रिय विषय पौराणिक आख्यान और आश्रयदाताओं का गुणगान है। श्रीधर कृत रणमल्ल छंद (सन् १४०० ई०) इस परंपरा की पहली कड़ी है। इसके पश्चात मोरबी के आश्रित कवि हरदास मीशण कृत भृंगी पुराण, जालंधर पुराण और सभापरव, ईसर बारोट कृत हरिरस और देवयाण, कुंभा भुला कृत रुक्मणीहरण, सांया झुला कृत नागडमण, पाता भाई कृत जसाविलास, लांगीदास महेडू कृत एकादशी महात्म्य और और ओखाहरण और वजमल जो महेडु कृत विभाविलास गुजराती चारणों की डिंगल में लिखी गई प्रबंध रचनाएँ हैं। सांयाझुला कृत नागडमण से भाषा शैली का एक उदाहरण —

कठां हूत आयो, अठे काज केहा।
गृहा भूलियो बापरा साप गेहा।
कहो कोर चम्पे रही आव कावे,
असो बाल देखी दया मोर आवे।
हजारां मुखा जागसी नाग हेवाँ,
न डूलो न छंडे निरुद्धार नेवाँ।
महाकाल काली न को बाल माने,
पड़ी बोकरी आज ही काल पाने।

— नागडमण

पिंगल ग्रंथ — गुजराती चारणों ने रस, अलंकार और पिंगल पर भी ग्रंथ बनाए हैं। इन ग्रंथों में विषय का विवेचन करने के साथ साथ इन्होंने अपने आश्रयदाताओं की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रशंसा भी की है। पिंगल ग्रंथों में नागपिंगल, हमीरपिंगल, रसपिंगल और रणपिंगल ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं।

मुक्तककाव्य — प्रबंध के साथ साथ मुक्तककाव्यों की रचना भी गुजराती चारणों के हाथों हुई है। गुजरात के चारणों ने दोहा और सोरठा का बहुत प्रयोग किया है। 'सोरठियाँ दूहाँ भला' वाली कहावत प्रसिद्ध ही है। सौराष्ट्र के चारणों के दोहे अत्यंत मार्मिक और सचोट हैं। दूहों की यह परंपरा सिद्धराज सोलंकी के दरबारी चारण अणंद करमाणंद के समय से गुजरात में उत्तरोत्तर समृद्ध होती दिखाई पड़ती है। आणंद करमाणंद के दोहों के अतिरिक्त सोनल और राणक देवी के दोहे भी प्राचीन गुजराती साहित्य की अमूल्य संपत्ति हैं। दोहा गुजरात के चारणों का प्रिय छंद रहा है। वीरों को विलासिता की नींद से झटक कर जगाने के लिये चारणों के तीक्ष्ण बाण इसी छंद में छूटे हैं। सोरठ की अनेक ऐतिहासिक और प्रेमकथाएँ इन दूहों के पंखों पर बैठकर सुदूर प्रदेशों में पहुँची हैं और आजतक जीवित रही हैं। एक चारणी साहित्य के विद्वान का दावा है कि सोरठा और सोरठ राग हिंदी को गुजरात की ही अनूठी देन है।[१६]

गुजरात के चारणों में आणंद करमाणंद, ईसर बारोट, साँया झुला, देवीदास, जसुराम गोपाल, कालिदास, वजमलजी महेंडु, पिंगलशी गढवी, केसरीसिंह, रविराज, युगलकिशोर, कनक कुशल दूला काग, आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। सोरठी दूहों के कुछ अप्रतिम उदाहरण द्रष्टव्य हैं —

जनम अकारथ ही गयो, भड सिर खग्ग न भग्ग।
तीखा तुरी न माणिया, गोरी गले न लग्ग॥

\+ + +

काग उडावण धण खड़ी, आयो पीव भडक्क।
आधी चूडी काग गल, आधी भूँय तडक्क॥

\+ + +

थंभ थडके मेडी हँसे, खेलन लागी खाट
सो सजणा भल आवियो, जेनीं जोताँ बाट
पहेलो पहेरो रेयणो, दिवठा झाकम झोल
पियु कंटालो केवडो, धण्य कंकुनी लोल
बीजो पहेरो रेनरो, वधिया नेह सनेह
धण्य त्यां धरती हे रही, पियु आषाढ़ो मेह
त्रीजो पहेरो रेणरो, दिवडा साख भरे
धण्य जीती पियु हारियो, राख्यो हार करे
चोथो पहोरो रेणरो, बोल्या कूकड काग
धण संभाले कंचवो, पियु संभाले पाग

(चारणो अने चारणी साहित्य से)

१६. 'क्षत्रीमित्र' के संपादक श्री धीरजसिंह के मतानुसार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य कवि — चारण कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी राजाओं के आश्रय में रहकर हिंदी में सुंदर रचनाएँ की हैं। ऐसे कवियों में सोमतीर्थ के पुहकर, काशी निवासी गुजराती कवि गंजन, अहमदाबाद निवासी और उदयपुर के महाराणा जगतसिंह के आश्रित कवि दलपतिराय वंशीधर, झालावाड़ के ओघड तथा अहमदाबाद के केवलराम, आदितराम और उत्तमराम कवीश्वर के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

७ - गुजरात के सूफी कवियों की हिंदीसेवा

गुजरात के सूफी संतों के हाथों भी हिंदी की बड़ी सेवा हुई है। बहुत से लोग इन संतों की भाषा को उर्दू कहते हैं। पर इन संतों ने कहीं भी अपनी भाषा को उर्दू नहीं कहा है। गुजरात के सूफी संतों ने सदैव अपनी भाषा को 'गुजरी' कहा है। वैसे भी उर्दू कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है वह हिंदी की ही फारसी - अरबी शब्दों से मिश्रित एक विशिष्ट शैली है। गुजरात के सुप्रसिद्ध विद्वान डार साहब का कहना है कि 'यह गुजरात ही की पाक सरजमी थी जहाँ सबसे पहले उर्दू जबान को अदबी तशकील हासिल हुई।' डार साहब का यह कथन सत्य है। सूफी संतों और दरबारों की छत्रछाया में गुजरात में खड़ी बोली (उर्दू) को फूलने फलने का पर्याप्त सुअवसर प्राप्त हुआ था।

गुजरात में उर्दू शैली में रचना करनेवाले अनेक कवि हुए हैं। यहाँ हम संक्षेप में केवल उन प्राचीन सूफी संतों का उल्लेख करेंगे जिन्होंने खड़ी बोली के विकास में योग दिया है। सूफी संतों की यह परंपरा १४वीं शताब्दी ई० के अंतिम चरण से प्रारंभ होती दिखाई देती है।

गुजरात के सूफी संतों में शेख बहाउद्दीन बाजन (१३८८ से १५०६), काजी महमूद दरियायी (मृत्यु १५३५ ई०), शाह अलीजी गामधनी (मृत्यु १५६७ ई०), हजरत खूब मुहम्मद चिश्ती (१६१३ ई०), तथा हजरत कुतबेआलम, हजरत सैयद मुहम्मद जौनपुरी, शेख वजीहुद्दीन, संयद शाह हाकिम आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। गुजरात में गूजरी या उर्दू के नाम से खड़ी बोली की यह परंपरा आज भी जीवित है। अहमदाबाद के फख साहब जैसे वर्तमान शायर इस परंपरा के जीवित उदाहरण हैं। शेख बहाउद्दीन बाजन और फख साहब की कविता का एक एक नमूना यहाँ दिया जाता है —

यूँ बाजन बाजेरे इसरार छाजे
मंडल मन में धमके, रबाब रंग में झमके
सूफी उन पर ठमके
यूँ बाजन बाजे रे इसरार छाजे

— शेख बहाउद्दीन बाजन (१५वीं शती ई०)

अय फख हर कमाल है कोशिश पे मुनहसिर।
देहली में जो रहे वही अहले जबां नहीं॥

— फख साहब (वर्तमान)

८ - गुजरात के आधुनिक युग के कवियों और लेखकों की हिंदी सेवा

आधुनिक युग से तात्पर्य पिछले सौ - सवासौ वर्षों से है। इस समय तक गुजराती भाषा का पर्याप्त विकास हो चुका था और लगभग सभी कवि ब्रजभाषा और खड़ी बोली को छोड़कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वभाषा में रचनाएँ करने लगे थे। गुजराती में कविता करने में जहाँ प्राचीन कवि एक प्रकार का संकोच अनुभव करते थे, वहाँ इस युग में पहुँचकर स्वभाषा में रचना करना एक गौरव की बात समझी जाने लगी। पर इस युग में भी कुछ गुजराती कवियों ने हिंदी के परंपरागत प्रवाह को गुजरात में प्रचलित रखा। ऐसे कवियों में नभुलाल (सन् १८०२ से १८७२), दलपतराम[१७] (१८२० से १८९८ ई०), नर्मद (१८३३-१८८६ ई०), सवितानारायण (जन्म १८४० ई०), बालाशंकर (सं० १८५६ - १९९८), नान्हालाल (१८७७ - १९४५ ई०) हीराचंद कानजी (१९वीं शती), गोविंद गिल्लाभाई (१८४९ से १९२५ ई०), डाह्याभाई 'बुलबुल' (जन्म १८५७) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। वर्तमान कवियों में वीरायण महाकाव्य के कर्ता मूलदास, गाँधी बावनी के रचयिता दूलेराय काराणी, श्री सुंदरम् और 'परेदशी' नाम से रचना करनेवाली महिला शांतादेवी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। दलपतराम कृत 'श्रवणाख्यान' मूलदासकृत 'वीरायण' से इस काल के कवियों की रचनाशैली के उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं –

जो पितु मातु की भक्ति करी नहिं, तो हरि भक्ति करी न करी।
जो पितु मातु की पीर हरी नहिं, तो पर पीर हरी न हरी॥
जो पितु मातु की बानी धरी नहिं, वेद की बानी धरी न धरी।
जो पितु मातु पदे न ढरे रति, तो प्रभु पाव ढरी न ढरी॥

— श्रवणाख्यान, दलपतराम (१९वीं शती ई०)

नील कंज सम सुहत शरीरा,
नख द्युति मानहु उज्वल हीरा।
भरित कपोल गोल अरुणारे,
कंठ सुललित कंबु अनुसारे॥
पूर्ण चंद्र आनन छबि छाये,
देखत काम कोटि लजवाये।
नयन पद्म शुभ प्रकाशवंता,
कुंचित केश कृष्ण सोहंता॥
ध्वज अंकुश धनुपद त्रय रेखा,
नाभि भँवर जन गंभिर देखा।
रानि अनुज्ञा किंकर पाई,
प्रमुदित वदन सुनाइ बधाई॥

— वीरायण काव्य, मूलदास (वर्तमान)

पद के अतिरिक्त इस युग में गद्यलेखन में भी गुजराती लेखकों ने हाथ बटाया है। हिंदी गद्य के प्रारंभिक चार उन्नायकों में से एक लल्लूलाल गुजराती थे। उन्होंने अपने आपको गुजराती कहा है, यही उनके गुजराती होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। इनके पूर्वज गुजरात से ही आगरे जाकर बसे थे। गुजरात के हिंदीसेवियों में स्वामी दयानंद सरस्वती का उल्लेख भी

१७. दलपतराम और उनके हिंदी संबंधकाव्य 'श्रवणाख्यान' के विशेष परिचय के लिये देखिए 'साहित्य' अप्रैल १३५७ में लेखक का दलपतराम कृत श्रवणाख्यान शीर्षक लेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिवार्य प्रतीत होता है। इन्होंने गुजराती होते हुए भी आर्यधर्म के प्रचारार्थ हिंदी को चुना और उसीमें अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थप्रकाश' तथा अन्य ग्रंथों की रचना की। अन्य लेखकों में नारायण हेमचंद्र, महात्मा गांधी, काका कालेकर, पंडित सुखलाल जी, कन्हैयालाल मुंशी और इंद्र वसावड़ा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रचारात्मक

गुजरात द्वारा की गई हिंदी की दूसरी सेवा प्रचारात्मक है। गुजरातियों ने हिंदी-प्रचार-आंदोलन में जो सक्रिय भाग लिया है और उसे राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कराने के जो प्रयत्न किए हैं, उसे हमने प्रचारात्मक सेवा नाम दिया है और उसी का उल्लेख हम इस प्रकरण में करेंगे।

राष्ट्रभाषा आंदोलन — सन् १८५७ का आंदोलन दासता के विरुद्ध स्वतंत्रता का प्रथम आंदोलन था। यह आंदोलन यद्यपि संगठन और एकता के अभाव के कारण असफल रहा, पर इसने भारतवासियों के हृदय में स्वतंत्रता की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न कर दी। आगे चलकर जब भारत के विभिन्न प्रांतों में स्वतंत्रता के लिये संगठित प्रयत्न प्रारंभ हुए, तो यह स्पष्ट हो गया कि बिना एक सामान्य भाषा के देश में संगठन होना असंभव है। देश के चोटी के नेता एक सामान्य भाषा की आवश्यकता पर जोर देने लगे। बंगाल के केशवचंद्र सेन और बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, महाराष्ट्र के तिलक, गुजरात के महात्मा गांधी, दक्षिण के दीवान बहादुर टी० विजयराघवाचार्य और श्रीनिवास आयंगर आदि ने इस सामान्य भाषा के लिये हिंदी का नाम प्रस्तावित किया। हिंदी के लिये यह कम गौरव की बात नहीं है कि उसे राष्ट्रभाषा बनाने का प्रस्ताव अहिंदीभाषियों की ओर से रखा गया।

हिंदी की इस माँग को देखकर हिंदी भाषा और नागरी लिपि के प्रचारार्थ १६ जुलाई सन् १८६३ को काशी में नागरीप्रचारिणी सभा और १० अक्टूबर १६१० को प्रयाग में हिंदी साहित्य संमेलन की स्थापना हुई। आगे चलकर गांधीजी के सत्प्रयत्नों से १६१८ में मद्रास में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, १६२० में अहमदाबाद विद्यापीठ, १६३६ में वर्धा में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति और १६४२ ने हिंदुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा की स्थापना हुई।

गुजरात में हिंदीप्रचार का काम करनेवाली सँस्थाएँ — इस प्रकार पिछले पचास-साठ वर्षों में समस्त भारत में हिंदीप्रचार का कार्य बड़े वेग और उत्साह के साथ हुआ। विश्व की शायद ही किसी भाषा का प्रचार इतनी शीघ्रता से और इतने बड़े पैमाने पर हुआ हो, जितना कि हिंदी का। अब हम गुजरात में हिंदी - प्रचार का काम करनेवाली संस्थाओं के प्रचारकार्य का उल्लेख करेंगे। गुजरात में हिंदीप्रचार का काम करनेवाली संस्थाएँ निम्नलिखित हैं —

१ – राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की गुजरात प्रांतीय शाखा।
२ – हिंदुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा (अब बंबई)
३ – गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद।
४ – बंबई विद्यापीठ, बंबई।

१. गुजरात प्रांतीय राष्ट्रभाषा - प्रचार - समिति।

अहिंदीभाषी प्रदेशों में हिंदीप्रचार करने के निमित्त संमेलन के अंतर्गत राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना सन् १६३६ में हुई। इस समिति का कार्यक्षेत्र अत्यंत व्यापक है। गुजरात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका प्रमुख कार्यक्षेत्र है। इस समिति की स्थापना से ही गुजरात में हिंदीप्रचार का कार्य प्रारंभ हो गया था, पर गुजरात में सुचारु रूप से हिंदीप्रचार का काम करने के लिये इस समिति की गुजरात प्रांतीय शाखा की स्थापना सन् १९४४ में हुई। समिति का कार्यालय अहमदाबाद में रखा गया। इस प्रांतीय समिति के वर्तमान अध्यक्ष श्री कन्हैयालाल मुंशी और मंत्री श्री जेठालाल जोशी हैं।

समिति का कार्यक्षेत्र गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ तक विस्तृत है। समिति की ओर से प्रारंभिक, प्रवेश, परिचय, कोविद और राष्ट्रभाषारत्न नाम की हिंदी की पाँच परीक्षाएँ साल में दो बार ली जाती हैं। इस समिति के ८०० के लगभग परीक्षाकेंद्र और १००० प्रमाणित प्रचारक हैं। समिति की परीक्षाओं में लगभग ५० हजार परीक्षार्थी प्रतिवर्ष बैठते हैं।

इस समिति को गुजरात के चोटी के साहित्यकारों का सहयोग प्राप्त है। प्रचारकों और उत्साही कार्यकर्ताओं में श्री रणधीर उपाध्याय, श्री जयेंद्र त्रिवेदी, गोकुल भाई, प्रो० रामचंद्र पंड्या, श्री विपिनविहारी 'चटपट' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

२. हिंदुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा

हिंदी उर्दू के मिलेजुले रूप हिंदुस्तानी का दोनों लिपियों में प्रचार करने के लिये इस सभा की स्थापना सन् १९४२ में हुई। इसके प्रथम सभापति डा० राजेंद्रप्रसाद, उप - सभापति गांधी जी और मंत्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल बने। इस सभा को भारतवर्ष के चोटी के नेताओं का समर्थन और सहयोग प्राप्त हुआ।

सभा का प्रमुख कार्यक्षेत्र पश्चिम भारत है, वैसे दक्षिण भारत को छोड़कर समस्त भारत में इसके १०० से अधिक केंद्र और २०० से अधिक प्रमाणित प्रचारक हैं। सभा के द्वारा पहली, दूसरी, तीसरी, काबिल और विद्वान ये पाँच परीक्षाएँ ली जाती हैं। सन् ५६ के अंततक इन परीक्षाओं में लगभग ३२००० हजार विद्यार्थी बैठ चुके हैं। सभा का परीक्षा-विभाग पैरीन सेप्टीन की देखरेख में बंबई में और साहित्यविभाग काकासाहब की निगरानी में दिल्ली में चलता है।

३. गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद।

इस संस्था की स्थापना राष्ट्रीव विश्वविद्यालय के रूप में सन् १९२० में गाँधी जी के हाथों हुई। स्थापनाकाल से ही विद्यापीठ में हिंदी का शिक्षण अनिवार्य रहा। सन् १९४६ से विद्यापीठ ने हिंदीप्रचार का काम करना प्रारंभ किया। इस संस्था ने गांधी जी की भाषा-नीति को अपनाकर उसके प्रचारार्थ पहली, दूसरी, तीसरी, विनीत और सेवक ये पाँच परीक्षाएँ प्रारंभ कीं। विद्यापीठ का कार्यक्षेत्र गुजरात तक ही सीमित है। सौराष्ट्र और कच्छ में इस संस्था की एक स्वतंत्र समिति 'सौराष्ट्र-हिंदी-प्रचार-समिति' के नाम से हिंदी-प्रचार-कार्य करती है। विद्यापीठ के ४०० के लगभग प्रचारकेंद्र और ५०० के लगभग प्रमाणित प्रचारक हैं। विद्यापीठ की परीक्षाओं में अबतक लगभग ६ लाख विद्यार्थी बैठ चुके हैं।

४. बंबई हिंदी विद्यापीठ।

इस संस्था की स्थापना बंबई में सन् १९३८ में हुई। संस्था के कुलपति राजबहादुर सिंह और मंत्री बीरबल सिंह रावत है। बंबई विद्यापीठ का प्रमुख कार्यक्षेत्र बंबई और गुजरात है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसकी गुजरात प्रांतीय शाखा की स्थापना सन् १९५० में 'गुजरात हिंदी - प्रचार - समिति' के नाम से स्थापित हुई। इस समिति की ओर से प्रवेश, प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा, राष्ट्रभाषारत्न' साहित्यसुधाकर, साहित्यरत्नाकर आदि परीक्षाएँ साल में दो बार ली जाती हैं। लगभग १० – १२ हजार विद्यार्थी गुजरात से प्रतिवर्ष इन परीक्षाओं में बैठते हैं।

इन संस्थाओं के हिंदीप्रचार का अवलोकन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन सभी संस्थाओं ने गुजरात में हिंदी के प्रचार और प्रसार में योग दिया है। आज गुजरात, काठियावाड़ और कच्छ में कुल मिलाकर २००० के लगभग केंद्र हैं, जिनमें ३००० से कहीं अधिक प्रचारक सेवाभाव से हिंदीप्रचार का कार्य कर रहे हैं। यदि हिंदीप्रचार की दृष्टि से देखा जाय तो गुजरात का स्थान अहिंदी - भाषी प्रदेशों में सर्वप्रथम है। इन संस्थाओं में यदि भाषा के स्वरूप के संबंध में आपसी मतभेद न होता तो गुजरात में हिंदी की प्रगति और भी द्रुत गति से हुई होती।

हिंदी-उर्दू-हिंदुस्तानी का झगड़ा पुराना हो चुका है, पर आश्चर्य की बात तो यह है कि विधान द्वारा हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में घोषित किए जाने पर भी अभी तक उसके स्वरूप के संबंध में मतभेद बना हुआ है। हिंदुस्तानी के प्रचारक विधान के आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि राष्ट्रभाषा हिंदी का स्वरूप प्रांतीय हिंदी से भिन्न होगा।[१८] और वह स्वरूप अब न केवल हिंदी उर्दू के समन्वय तक ही सीमित रहेगा, बल्कि उसमें एक हद तक भारतीय भाषाओं का भी समन्वय होगा। ऐसी बातें हिंदी के हिमायतियों को चुभती हैं और वे प्राणपण से हिंदी के स्वरूप और कलेवर की रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं।

परिणामस्वरूप संविधान के आठवें अनुच्छेद में उल्लिखित हिंदी के आधार पर प्रांतीय हिंदी और ३४३वीं धारा में वर्णित हिंदी के आधार पर राष्ट्रीय हिंदी की कल्पना उभर आई है। यदि हिंदीभाषियों ने हिंदी की व्यापकता को बाँधने का प्रयत्न किया, यह खाई दिन दिन चौड़ी होती जायगी और कोई आश्चर्य नहीं कि एक दिन प्रांतीय हिंदी और राष्ट्रीय हिंदी जैसी हिंदी की दो शैलियाँ भी चलने लगें। अतः विधान के आदेशानुसार हिंदी को अपने स्वरूप की रक्षा करते हुए आठवें अनुच्छेद में वर्णित सभी भाषाओं के शब्दों और मुहावरों से समृद्ध होने देना चाहिये। विशुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिंदी का आग्रह रखना, अन्य भाषाओं के शब्दों से परहेज करना और जो विदेशी शब्द हमारी भाषा के अंग बन गए हैं उन्हें जानबूझ कर निकालने की कोशिश करना संविधान के आदेश का उल्लंघन करना है। इतना ही नहीं, इससे हिंदी का बड़ा भारी अहित होने की भी संभावना है।

हिंदी की व्यापकता और परंपरा तथा गुजरात की सर्जनात्मक और प्रचारात्मक सेवाओं का अवलोकन कर चुकने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक साहित्यिक और व्यापारिक आदि कारणों से अहिंदी भाषी प्रदेशों में हिंदी का प्रचार बहुत पुराने समय से था। सभी अहिंदी भाषी प्रदेशों ने हिंदी की थोड़ी बहुत सेवा की है। हिंदी के राष्ट्रभाषा बन जाने पर अहिंदी भाषी प्रदेशों की हिंदीसेवाओं का अनुसंधान और उद्घाटन आवश्यक प्रतीत होता है। इस सत्प्रयत्न से हिंदी तो समृद्ध होगी ही अहिंदी भाषी प्रदेशों

१८. देखिये 'लेंगवेज पेटर्न अंडर कांसटीट्युशन' — एम० पी० देसाई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में हिंदी के प्रति जो तनाव है वह भी कम होगा और राष्ट्रभाषा और प्रांतीय भाषाओं के बीच की खाई, जो दिन दिन चौड़ी होती जा रही है, भर जायगी।

हेमचंद्राचार्य से लेकर आजतक गुजराती कवियों ने हिंदी की सेवा की है। अपभ्रंश, अवहट्ट, डिंगल, ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली आदि भाषाओं में गुजराती कवियों ने प्रबंध और मुक्तक काव्य लिखे हैं। प्रवीणसागर और वीरायण जैसे महाकाव्य, कान्हडदे प्रबंध रणमल्लछंद, बावीविलास, नागदमण और श्रवणाख्यान जैसे प्रबंधकाव्य, दयाराम सतसई, किशनबावनी, आनंदघन बहोतरी जैसे मुक्तक काव्य, अलंकार रत्नाकर, भावभूषण, पिंगलादर्श, बैकुंठपिंगल, रणपिंगल जैसे अलंकार और छंद शास्त्र के ग्रंथ, संगीतचौक देशा और संगीतादित्य जैसे संगीतशास्त्र के ग्रंथ तथा प्रेमसागर, सत्यार्थप्रकाश और घर की राह जैसे गद्य ग्रंथ लिखकर गुजरातियों ने हिंदी की प्रशंसनीय सेवा की है।

गुजरात के वैष्णव, स्वामिनारायणी, संत, जैन, राजाश्रित, सूफी और आधुनिक युग के कवियों और लेखकों ने हिंदी के विकास में योग दिया है। इन गुजराती कवियों और लेखकों में से कुछ तो प्रसिद्ध और लोकप्रिय हैं। स्वनामधन्य हेमचंद्राचार्य, प्रेमदिवानी मीरा, संत दादूदयाल, अष्टछाप के सुप्रसिद्ध कवि कृष्णदास, प्रख्यात संगीतज्ञ बैजू बावरा, उर्दू के बाबाआवम वली और हिंदी गद्य के निर्माता लल्लूलाल गुजराती थे। आधुनिक युग में सयाजी राव गायकवाड़, महात्मागांधी, कन्हैयालाल मुंशी, काका कालेलकर आदि गुजराती विद्वानों ने हिंदी की अनन्य सेवा की है।

इस खोज के आधार पर गुजरात के अनेक अज्ञात हिंदीसेवी कवियों और उनकी कृतियों को प्रकाश में आने का अवसर मिला है। पर इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना शेष है। गुजरात के जैनभंडारों, चारण कवियों के उत्तराधिकारियों के निजी संग्रहालयों और राजाओं के पोथीखानों में अभी और कितने ही ग्रंथ अज्ञात और उपेक्षित पड़े हैं। आशा है गुजरात के हिंदीप्रेमी अनुसंधित्सु आगे चलकर इस कमी को पूरा कर लेंगे।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत शोधनिबंध

कृष्णाचार्य

साहित्यकार

अब्दुर्रहीम

समरबहादुरसिंह – अब्दुर्रहीम खानखाना — ऐतिहासिक स्रोत की दृष्टि से अध्ययन, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

आलम

सरनदास भणोत, श्याम सनेही या आलम, (पंजाब वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५२)

कबीरदास

के०, एफ० ई० – कबीर एंड हिज फालोअर्स, कलकत्ता, आक्सफोर्ड यूनि० प्रेस, १९३१, (लंदन वि० वि०, पी-एच० डी०, १९३१)

शीलवती मिश्र – हिंदी संत और कबीर का विशेष अध्ययन, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल०, १९४८, मूल शीर्षक—हिंदीसंतोविशेषतया सूरदास, तुलसीदास और कबीर पर वेदांत-पद्धतियों का ऋण—दर्शन विभाग से)

गोविंद त्रिगुणायत – कबीर की विचारधारा, कानपुर, साहित्य निकेतन, १९५२, ४९९ पृष्ठ १८५ सें० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५१)

पारसनाथ तिवारी – कबीर का पाठ, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्, १९५७)

केशवदास

हीरालाल दीक्षित – आचार्य केशवदास, लखनऊ, लखनऊ वि० वि०, १९५४, ६, ४३१ पृ०, २४ ५ सें० (लखनऊ वि० वि०, पी० एच० डी०, १९५०)

किरणचंद्र शर्मा – केशवदास : उनके रीतिकाव्य का विशेष अध्ययन

घनानंद

मनोहरलाल गौड़ – घनानंद और मध्यकाल की स्वच्छंद काव्यधारा, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी, १९५४)

चंदबरदायी

विपिन बिहारी त्रिवेदी – चंदवरदायी और उनका काव्य, प्रयाग, हिंदुस्तानी एकेडेमी, १९५२, ४, ३७६ पृ०, २४ ५सें० (कलकत्ता वि० वि०, डी० फिल०, १९४८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चरनदास

त्रिलोकीनारायण दीक्षित – चरनदास, सुंदरदास और मलूकदास के दार्शनिक विचार, (लखनऊ वि० वि०, डी० लिट् १९५६)

जगन्नाथदास रत्नाकर

विश्वंभरनाथ भट्ट – रत्नाकर, उनकी प्रतिभा और कला, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५२)

जयशंकर प्रसाद

जगन्नाथप्रसाद शर्मा - प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, बनारस, सरस्वती मंदिर, ३०९ पृ०, २१सैं० (काशी वि० वि०, डी० लिट्, १९४३)

प्रेमशंकर – प्रसाद का काव्य, प्रयाग, भारती भंडार, १९५५, १२, ५८८ पृ०, २१ ५सैं० (सागर वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५३)

द्वारिकाप्रसाद सक्सेना – कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, आगरा, विनोद पुस्तक मंदिर, १९५८, ४९८ पृ०, २२सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच डी

दरिया साहब

धर्मेंद्र ब्रह्मचारी शास्त्री – संत कवि दरिया : एक अनुशीलन, पटना, वि० राष्ट्रभाषा परिषद् १९५४, ६, २६४, २५६ पृ०, सचित्र, २३सैं० (पटना वि० वि०, पी-एच० डी०, १९४४)

तुलसीदास

वाँद वील०, के० – रामचरित मानस का पाठक्रम (पेरिस डी० लिट्०)

कार्पेंटर जे० एन०–द थियोलाजी आफ तुलसीदास, मद्रास, क्रिश्चियन लिटरेरी सोसाइटी १९१८, २०२ पृ०, १८ सैं० (लंदन वि० वि०, डी० डी०, १९१८, हिंदी का प्रथम प्रबंध)

बलदेवप्रसाद मिश्र – तुलसी-दर्शन, प्रयाग, हिंदी साहित्य संमेलन, १९३८, ३४८ पृ०, २१सैं० (नागपुर वि० वि०, डी० लिट्०, १९३८)

हरिहरनाथ हुक्कू – रामचरितमानस के विशिष्ट संदर्भ में तुलसीदास की शिल्पकला का अध्ययन, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९३९)

माताप्रसाद गुप्त – तुलसीदास संजीवनी और कृतियों का समालोचनात्मक अध्ययन, प्रयाग, प्रयाग वि० वि० हिंदी परिषद् १९४२, २०, ६१६ पृ०, २१ ५सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० लिट्०, १९४०, मूल प्रबंध अंग्रेजी में स्वीकृत)

राजापति दीक्षित – तुलसीदास और उनका युग, काशी, ज्ञानमंडल, १९५२, २७, ४८६, पृ०, १५ ८सैं० (काशी वि० वि०, डी० लिट्० १९४९)

देवकीनंदन श्रीवास्तव – तुलसीदास की भाषा, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५३)

रामदत्त भारद्वाज – तुलसी दर्शन – (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५३)

सीताराम कपूर – रामचरित मानस के साहित्यिक स्रोत, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजाराम रस्तोगी – तुलसीदास : जीवनी और विचारधारा, (पटना वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

नागरीदास

फैयाज अली–संत नागरीदास, (राजस्थान वि० वि०, पी-एच० डी० १९५७)

परमानंददास

गोवर्धनलाल शुक्ल – कविवर परमानंददास और उनका साहित्य, (अलीगढ़ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

प्रेमचंद

शुक्ल, एस० एन० – उपन्यासकार प्रेमचंद : उनकी कला, सामाजिक विचार और जीवन-दर्शन, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी० , १९५३)

महेंद्र भटनागर – समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचंद, (नागपुर, वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

राजेश्वर गुरू – प्रेमचंद, (नागपुर वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

बरकत उल्लाह

लक्ष्मीधर शास्त्री – ऋषि बरकत ऊल्लाह प्रेमीकृत प्रेमप्रकाश का अनुसंधान, संपादन और अध्ययन, दिल्ली, फ्रैंक ब्रदर्स, १९४३, ४२, १७४ पृ०, २२ सैं० (पंजाब वि० वि०, पी-एच० डी०, १९४५)

बालकृष्ण भट्ट

राजेंद्र शर्मा – बालकृष्णभट्ट, उनका जीवन और साहित्य, आगरा, विनोद पुस्तक मंदिर १९५८, ४३७ पृ०, २२ सें० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

बालमुकुन्द गुप्त

नत्थनसिंह – बालमुकुंद गुप्त, उनके जीवन और साहित्य का अध्ययन, (आगरा वि० वि० पी-एच० डी०, १९५७)

बालादास

भगवतीप्रसाद सिंह – उन्नीसवीं शती का रामभक्ति साहित्य : विशेषतः महात्मा बालादास का अध्ययन, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

भिखारीदास

नारायणदास खन्ना – आचार्य भिखारीदास, लखनऊ, लखनऊ वि० वि०, १९५५, ६, ३६८ पृ०, २४·५ सैं० (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०; १९५२)

मलूकदास

त्रिलोकीनारायण दीक्षित – संत कवि मलूकदास, (लखलऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९४८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मलिक मुहम्मद जायसी

लक्ष्मीधर – पदुमावती—ए लिंग्विस्टिक स्टडी आफ दी सिक्सटींथ सैंचुरी हिंदी (अवधी), लंदन, लूजक एंड कं०, १६४६, ६, ३३५ पृ०, २२ सें० (लंदन वि० वि०, पी-एच०डी०, १६४०)

कुलश्रेष्ठ, जे० डी० – जायसी, उनकी कला और दर्शन (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १६४६)

मैथिली शरण गुप्त

उमाकांत गोयल – मैथिलीशरण गुप्त—कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, (दिल्ली वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५७)

कमलाकांत पाठक – गुप्तजी का काव्यविकास, (सागर वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५७)

रविदास

भगवतव्रत मिश्र – संतकवि रविदास और उनका पंथ, (लखनऊ वि० वि०, पी–एच० डी०, १६५४)

श्रीधर पाठक

रामचंद्र – हिंदी के आरंभिक स्वच्छंदतावादी काव्य और विशेषतः पं० श्रीधर पाठक की कृतियों का अनुशीलन (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५६)

सुंदरदास

महेशचंद्र सिंहल – संत सुंदरदास, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५६)

सूरदास

जनार्दन मिश्र – ? (कोनिग्सबुर्ग, पी-एच० डी०, १६३४)

ब्रजेश्वर वर्मा – सूरदास प्रयाग, वि० वि०, हिंदी परिषद् १६ , ५६३ पृ०, २१ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी-फिल्०, १६४५)

मुंशीराम शर्मा – भारतीय साधना और सूरसाहित्य कानपुर, आचार्य शुक्ल साधना-सदन, १६५३, ४६१ पृ०, २२ सें० (आगरा वि० वि० पी-एच० डी०, १६५१)

हरवंशलाल शर्मा – श्रीमद्भागवत और सूरदास, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी० १६५३)

रामधन शर्मा – सूर के दृष्टिकूट पद (पंजाब वि० वि०, पी-एच० डी० १६५४)

हरवंशलाल शर्मा – सूरदास और उनका काव्य, अलीगढ़ भारत प्रकाशन मंदिर, १६ (नागपुर वि० वि०, डी० लिट्०, १६५५)

मनमोहन गौतम – सूर की काव्य कला, दिल्ली, भारती साहित्य मंदिर, १६५८, २, ४०२ पृ०, २२ सैं० (दिल्ली वि० वि०. पी-एच० डी०, १६५६)

प्रेमनारायण टंडन – सूर की भाषा, लखनऊ, हिंदी साहित्य भंडार, १६५७, ८, ६२४ पृ० १४ सैं (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५७)

हरिश्चंद्र

शिवनारायण बोहरा – भारतेंदु हरिश्चंद (पंजाब वि० वि०, पी-एच० डी०, १६४६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक काव्य

केशरीनारायण शुक्ल – आधुनिक काव्यधारा, काशी, सरस्वती मंदिर, १९४४ (काशी वि० वि०, डी० लिट्०, १९४०, मूल अंग्रेजी में)

ब्रह्मदत्त मिश्र सुधींद्र – हिंदी कविता में युगांतर, १९०१–१९२०, दिल्ली, आत्माराम एंड संस, १९५०, १८, ५२२ पृ०, २२ सैं० (राजस्थान वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५०, मूल शीर्षक , द्विवेदी युग में हिंदी कविता का पुन–

शंभुनाथ पांडेय – आधुनिक हिंदी कविता में निराशावाद, आगरा, आगरा बुक स्टोर, १९५५, ४, ४२४ पृ०, २१ सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

रामेश्वरलाल खंडेलवाल – आधुनिक हिंदी कविता में प्रेम और सौंदर्य (आगरा वि० वि० पी-एच० डी०, १९५५)

अविनाशप्रसादअग्रवाल – भारतेंदु युगीन हिंदी कवि, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी० १९५६)

गद्य काव्य

पद्मसिंह शर्मा कमलेश – हिंदी गद्यकाव्य, दिल्ली, राजकमल, १९५८, ८, ३०५ पृ०, २१ सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५४, मूल, हिंदी गद्यकाव्य का आलोचनात्मक और रूपात्मक अध्ययन)

अष्टभुजप्रसाद पांडेय – हिंदी में गद्यकाव्य का विकास, (काशी वि० वि०, पी-एच० डी० १९५७)

गीति काव्य

शिवमंगलसिंह सुमन – गीतिकाव्य का उद्गम, विकास और हिंदी साहित्य में उसकी परंपरा, (काशी वि० वि०, डी० लिट्० १९५०)

श्यामसुंदरलाल दीक्षित – कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत, आगरा, विनोद पुस्तक मंदिर, १९५८ १९५८, ६, ४४० पृ०, २२सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५४ ।

स्नेहलता श्रीवास्तव – हिंदी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परंपरा, (दिल्ली वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

भक्तिकाव्य

दीनदयालु गुप्त – अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय, प्रयाग, हिंदी साहित्य संमेलन, १९४७, २ जि०, २४ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० लिट्०, १९४४)

रांगेय राघव (टी० एन० वी० आचार्य) श्रीगुरू गोरखनाथ और उनका युग, (आगरा वि० वि०, पी० एच० डी, १९४८)

सावित्री सिन्हा – मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियाँ, दिल्ली, आत्माराम, १९५३, ३१७ पृ०, २१ सैं० (दिल्ली वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५१)

जगदीश गुप्त – हिंदी और गुजराती कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मवीर भारती – सिद्ध साहित्य, प्रयाग, किताब महल, १९५५, ५४४ पृ०, २१ ५सें० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५३)

रामखेलावन पांडेय – मध्यकालीन संत साहित्य, पटना (पटना वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५३)

उषा गुप्त – कृष्ण भक्ति काव्य में संगीत (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

बदरीनारायण श्रीवास्तव – रामानंद संप्रदाय तथा हिंदी साहित्य पर उसका प्रभाव, आगरा (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

रत्नकुमारी – १६वीं शती के हिंदी और बंगाली वैष्णव कवि, दिल्ली, भारती साहित्य मंदिर, १९५६, ३, ४९० पृ०, २१ सें० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५५)

जयराम मिश्र – आदि गुरु ग्रंथ साहबजी के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धांत, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

मुंशीराम शर्मा – वैदिक भक्ति तथा हिंदी भक्तिकालीन काव्य में उसकी अभिव्यक्ति, (आगरा वि० वि०, डी० लिट्०, १९५६)

रामचंद्र तिवारी – शिवनारायणी संप्रदाय के हिंदी कवि (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

रामनिरंजन पांडेय – भक्तिकालीन हिंदी कविता में दार्शनिक प्रवृत्तियाँ, (नागपुर वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

विजयेंद्र स्नातक – राधावल्लभ संप्रदाय, सिद्धांत और साहित्य, दिल्ली, नेशनल पब्लि० हाउस, १९५७, २४, ६१२ पृ०, २५ सें० (दिल्ली वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

शांतिप्रसाद चंदोला – नाथ संप्रदाय के हिंदी कवि, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

ललितेश्वर झा – मैथिली के कृष्ण भक्त कवियों का अध्ययन, (लखनऊ वि० वि० पी-एच० डी०, १९५७)

महाकाव्य

हरिश्चंद्र राय – हिंदी साहित्य में महाकाव्य (लंदन वि० वि०, पी-एच० डी०, १९४९)

प्रतिपालसिंह – बीसवीं शती (पूर्वार्द्ध) के महाकाव्य, दिल्ली ओरियंटल बुकडिपो १९५५, ५, ३५० पृ०, ११·५ सें० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५२)

शंभुनाथ सिंह – हिंदी में महाकाव्य का स्वरूप - विकास, काशी, हिंदी प्रचारक पु०, १९५६, ७, ७१० पृ०, २२ सें० (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

पुष्पलता निगम – हिंदी महाकाव्यों में नायक, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

गोविंदराम शर्मा – हिंदी के आधुनिक महाकाव्य (पंजाब वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५८)

सूफीकाव्य

(पृथ्वीनाथ) कमल कुलश्रेष्ठ – हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य, १५००-१७५०, अजमेर, मानसिंह प्रकाशन, १९५३, ४२७ पृ०, १८ सें० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९४७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विमलकुमार जैन – सूफीमत और हिंदी साहित्य, दिल्ली, आत्माराम, १९५५, २, २७१ पृ०, २१ सैं० (दिल्ली वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५१)

हरिकांत श्रीवास्तव – हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य, काशी, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय; १९५५, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५१)

सरला शुक्ल – हिंदी सूफी कवि और काव्य, लखनऊ, लखनऊ वि० वि०, १९५६, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५४)

विमल वाघ्रे – दक्खिनी हिंदी के सूफी कवि, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५४)

काव्य में नारी

शैलकुमारी माथुर – आधुनिक हिंदी काव्य में नारी भावना—१९००-१९४५, प्रयाग, हिंदुस्तानी एके०, १९५१, ८, २६४ पृ०, २४'५ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्० १९४९)

रघुनाथ सिंह – आधुनिक हिंदी साहित्य में नारी, (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०१९५६)

उषा पांडेय – मध्यकालीन काव्य में नारी भावना (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्० १९५७)

काव्य में प्रकृति

किरणकुमारी गुप्ता – हिंदी काव्य में प्रकृतिचित्रण, प्रयाग, हिंदी साहित्य संमेलन, १९४९, १०, ४८४, ८ पृ०, २२ सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९४८)

रघुवंश (सहाय वर्मा) – प्रकृति और काव्य (हिंदी खंड), प्रयाग, साहित्य भवन लि०, २००५ वि०, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल०, १९४८, मूलः हिंदी साहित्य के भक्ति और रीतिकालों में प्रकृति और काव्य)

विविध काव्य

पीतांबरदत्त बड़थ्वाल – हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, अनु० परशुराम चतुर्वेदी; लखनऊ, अवध पब्लि० हाउस, १९५०, ८९, ४४२ पृ०, १८ सैं० (काशी वि० वि०, डी० लिट्० १९३४, मूलः दी निर्गुण स्कूल आफ हिंदी पोएट्री)

ब्रजमोहन गुप्त – काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ – १९७५ तक, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्० १९४६, अंग्रेजी में छपकर हुआ)

कामिल बुल्के – रामकथा—उत्पत्ति और विकास, प्रयाग, हिंदी परिषद्, १९५०, ४, ५३२ पृ०, १८ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल् १९४९)

सरजूप्रसाद अग्रवाल – अकबरी दरबार के हिंदी कवि, लखनऊ वि० वि०, १९५०, ९, ३५६ पृ०, २४ सैं० (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १५४९)

टीकमसिंह तोमर – हिंदी वीरकाव्य, १६००-१८००, प्रयाग, हिन्दुस्तानी एके०, १९५४, ४, ४१२ पृ० २४ सैं० प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५२)

दयाशंकर शर्मा – हिंदी में पशुचारण काव्य, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५४)

भोलानाथ तिवारी – हिंदी नीतिकाव्य, आगरा, विनोद पु० मंदिर, १९५८, ४२३ पृ०, २२ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५६)

विमला पाठक – रीवाँ दरबार के हिंदी कवि, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल०, १९५६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओमप्रकाश – हिंदी काव्य और उसका सौंदर्य, दिल्ली, भारती साहित्य मंदिर, १९५०, १०, २६८ पृ०, २२सैं० (दिल्ली० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

गोविंद त्रिगुणायत – हिंदी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

ब्रजकिशोर मिश्र – अवध के मुख्य कवियों का अध्ययन, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

रामयतनसिंह – हिंदीकविता में कल्पना विधान, (नागपुर वि० वि०, पी-एच० डी० १९५७)

हिंदी साहित्य का इतिहास

इंद्रनाथ मदान – मोडर्न हिंदी लिटरेचर—ए क्रिटिकल एनेलेसिस, लाहौर, मिनर्वा बुक शाप, १९३९, २४१ पृ०, २१.५सैं० (पंजाब वि० वि०, पी-एच० डी०, १९३८)

रामकुमार वर्मा – हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—७५० – १९५० ई० रामनारायणलाल, (नागपुर वि० वि०, पी-एच० डी०, १९४०)

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय – आधुनिक हिंदी साहित्य—१८५०–१९०० ई०, प्रयाग वि० वि० हिंदी परिषद्, १९४१, १७, २१८ पृ०, २१ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल०, १९४०, मूल अंग्रेजी में)

श्रीकृष्ण लाल – आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास—१९००-१९२५, प्रयाग वि० वि० हिंदी परिषद्, १९४२, २२, ४१३ पृ०, २१सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल०, १९४१, मूल अंग्रेजी में)

उदयभानु सिंह – महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, लखनऊ वि० वि०, १९५१, १६, ४३० पृ०, २३.५ सैं० (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी० ?, १९४६)

नगेंद्र (नागाइच) – रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, दिल्ली, गौतम बुकडिपो, १९४९, १६, २९९ पृ०, २१ सैं० (आगरा वि० वि०, डी० लिट्० १९४६) मूल रीतिकाल की भूमिका में देव का अध्ययन)

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय – आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका—१७५७-१८५७ तक, प्रयाग वि० वि०, १९५२, १२, ५१६ पृ०, २१ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० लिट्०, १९४६, मूल, हिंदी लिटरेचर एंड इट्स कल्चरल बैकग्राउंड फ्राम १७५७ टू १८५७)

जयकांत मिश्र – ए हिस्ट्री आफ मैथिली लिटरेचर प्रयाग, तिरभुक्त पब्लि०, १९४९-५०, २ जिल्द, २२ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९४८, अंग्रेजी विभाग से)

मोतीलाल मेनारिया – राजस्थान का पिंगल साहित्य, उदयपुर हितैषी पुस्तक भंडार, (राजस्थान वि० वि०, पी-एच० डी०, १९—? विशेष विवरण देखिए सावित्री सिनहा कृत अनुसंधान का स्वरूप में डा० उदयभानुसिंह का लेख)

भोलानाथ – हिंदी साहित्य १९२६, १९४७, प्रयाग वि० वि०, हिंदी परिषद् १९५४, ३, ४६६, पृ०, २१ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५२)

राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी – रीतिकालीन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन–१६०० १८५०, आगरा, सरस्वती सदन, १९५२, २२, ५३५ पृ०, १८ सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरिवंश कोछड़ – अपभ्रंश साहित्य, दिल्ली, भारतीय साहित्य मंदिर, १९५६, १३, ४३५ पृ०, २२ सैं० (दिल्ली वि० वि०, पी-एच० डी० १९५२)

इंद्रपालसिंह – आदिकालीन हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, (लखनऊ वि० वि०; पी-एच० डी०, १९५५)

बच्चनसिंह – रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना, वाराणसी, ना० प्र० सभा, १९५८, (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५८)

जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव – डिंगल साहित्य, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५७)

जैन, डी० के० – अपभ्रंश साहित्य, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

नाटक

सोमनाथ गुप्त – हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास, प्रयाग हिंदी भवन, १९४८, २७० पृ० २२ सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९४७)

शिवनंदन पांडेय – भारतीय नाटक साहित्य का उद्भव और विकास, (कलकत्ता वि० वि० डी० फिल्०, १९५१)

खन्ना, वी० पी० – हिंदी नाटक का उद्भव और विकास (पंजाब वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५२)

दशरथ ओझा – हिंदी नाटक : उद्भव और विकास, दिल्ली, राजपाल, १९५४, ५७५, १२ पृ०, १८ सैं० (दिल्ली वि० वि०, पी-एच डी०, १९५२)

वीरेंद्रकुमार शुक्ल – भारतेंदु का नाट्य साहित्य, प्रयाग, रामनारायणलाल, १९५५, ५, ३६० पृ०, २२ सैं० (सागर वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५२)

शकुंतला दुबे – हिंदी काव्यरूपों का विकास (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५२)

धर्मकिशोर लाल – अंग्रेजी नाटकों का हिंदी नाटकों पर प्रभाव, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल०, १९५३, अंग्रेजी विभाग से)

देवापि [illegible] – हिंदी के पौराणिक नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन, (अलीगढ़ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९[illegible])

रामचरण महेंद्र – हिंदी एकांकी : उद्भव और विकास, दिल्ली, सत्साहित्य प्रकाशन, १९५८, ४४० पृ०, २२ सैं० (राजस्थान वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

गोपीनाथ तिवारी – भारतेंदुकालीन नाटक साहित्य (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

पांडुरंग राव मुरली – आंध्र हिंदी रूपक—हिंदी और तेलुगु का नाटक साहित्य: एक अध्ययन (नागपुर वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

भानुदेव शुक्ल – भारतेंदुयुग के नाटककार, (सागर वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

कथासाहित्य

लक्ष्मीनारायण लाल – हिंदी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास, प्रयाग, साहित्य भवन् लिमिटेड, १९५३, १४, ३६२ पृ०, ३१ ५सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्० १९५२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शर्मा, बी० डी० – हिंदी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५४

देवराज उपाध्याय – आधुनिक हिंदी कथासाहित्य और मनोविज्ञान, प्रयाग, साहित्य भवन, १९५६, १६, ३५२ पृ०, २१ सें० (राजस्थान वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

निबंधसाहित्य

त्रिपाठी, यू० सी० – हिंदी निबंध के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५१)

बलवंत लक्ष्मण कोतमिरे – हिंदी गद्य के विविध साहित्य रूपों के उद्भव और विकास का अध्ययन (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

तुलना और प्रभाव

सरनाम सिंह – हिंदी साहित्य पर संस्कृत का प्रभाव, प्रयाग, रामनारायण लाल, १९५४, (राजस्थान वि० वि०, पी-एच० डी०, १९४९)

विश्वनाथ मिश्र – अंग्रेजी का हिंदी भाषा और साहित्य पर प्रभाव (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५०)

रामसिंह तोमर – प्राकृत और अपभ्रंश का हिंदी साहित्य पर प्रभाव, (प्रयाग वि० वि० डी० फिल्०, १९५१)

जगदीश गुप्त – हिंदी और गुजराती कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५३)

रवींद्रसहाय वर्मा – हिंदी काव्य पर आंग्ल प्रभाव, कानपुर, पद्मजा प्रकाशन, १९५४, ४, २९५ पृ०, २१ सें० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५३, अंग्रेजी विभाग से स्वीकृत द इन्फ्लूयेंस आव इंगलिश आन माडर्न हिन्दी पोइट्री एंड क्रिटिसिज्म)

भास्करन नय्यर, के० – हिंदी और मलयालम के भक्त कवियों का तुलनात्मक अध्ययन (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

रत्नकुमारी – १६वीं शती के हिंदी और बंगाली वैष्णव कवि, दिल्ली, भारतीय साहित्य मंदिर, १९५६, ३, ४९० पृ०, ११ सें० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५५)

विनयमोहन शर्मा – हिंदी को मराठी संतों की देन, पटना, वि० रा० भा० परिषद् १९५७, ३३, ५०० पृ०, २४ सें० (नागपुर वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

हिरण्मय – हिंदी और कन्नड़ में भक्ति आंदोलन का तुलनात्मक अध्ययन, (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

रामनाथ त्रिपाठी – कृतिवासी बंगला रामायण और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

शशि अग्रवाल – हिंदी कृष्णभक्ति साहित्य पर पौराणिक प्रभाव (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभाकर माचवे – हिंदी और मराठी संतकवियों का तुलनात्मक अध्ययन (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५८)

भाषा

मोहिउद्दीन कादरी ज़ोर – हिंदुस्तानी फॉनेटिक्स, विलेडनेसेंट - जोर्जेस, इंप्रीमेरी लू यूनियन टाइपोग्राफिक् १६३०, ११६ पृ०, १८ सें० (लंदन वि० वि०, पी-एच० डी०, १६३०, केवल प्रथम दो अध्याय ही प्रबंध के अंश हैं — संपूर्ण मूल पुस्तक संभवतः छपी ही नहीं, भाषा विषय पर पहिला और तिथिक्रम में दूसरा प्रबंध)

बाबूराम सक्सेना – इवोल्यूशन आफ अवधी — ए ब्रांच आफ हिंदी, प्रयाग, इंडियन प्रेस, १६३८, (प्रयाग वि० वि०, डी० लिट्०, १६३१)

धीरेंद्रवर्मा – ब्रजभाषा, प्रयाग, हिंदुस्तानी एकेडेमी, १६५४, (पेरिस, डी० लिट्०, १६३५, मूल फ्रेंच में, ला लेंगुई ब्रज (डाइलैक्टे द मथुरा, नाम से पेरिस से १६३५ में प्रकाशित)

नलिनीमोहन सान्याल – बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति और विकास – मैथिली, मगही तथा भोजपुरी बोलियों के मौलिक तत्वों की आलोचना, प्रयाग, रामनारायण लाल, १६४२, १६४ पृ०, १८ सें० (कलकत्ता वि० वि०, डी० फिल्०, १६४३)

सुभद्रा झा – मैथिली भाषा का विकास, (पटना वि० वि०, पी-एच० डी०, १६४४)

उदयनारायण तिवारी – भोजपुरी का विकास, पटना, बि० रा० भा० परिषद्, १६५४, २२७, ३६० पृ० २४ सें० (प्रयाग वि० वि०, डी० लिट्०, १६३५)

हरदेव बाहरी – हिंदी अर्थविचार, (प्रयाग वि० वि०, डी० लिट्०, १६४५)

विश्वनाथ प्रसाद – भोजपुरी ध्वनियों और ध्वनिप्रक्रिया का अध्ययन (लंदन वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५०)

हरिहरप्रसाद गुप्त – ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, १६५६, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १६५१)

कपिल[illegible] – अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन, प्रयाग, हिंदुस्तानी एकेडेमी, १६५१, ३२, ३८६ पृ०, २४ सें० (प्र[illegible] वि० वि०, डी० फिल्०, संस्कृत विभाग से)

गुणानंद जुयाल – मध्य पहाड़ी भाषा और उसका हिंदी से संबंध—एक आलोचनात्मक अध्ययन, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५१)

कपिलदेवसिंह – ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली, आगरा, विनोद पुस्तक मंदिर, ११ (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५५, मूल शीर्षक —गत सौ वर्षों में कविता के माध्यम के लिए ब्रजभाषा, खड़ी बोली संबंधी विवाद की रूपरेखा)

शितिकंठ मिश्र – खड़ी बोली का आंदोलन, काशी, ना० प्र० सभा, १६५६, १५, ३६६ पृ०, १२ सें० (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५५)

शिवस्वरूप शर्मा अंचल – राजस्थानी गद्य का विकास (राजस्थान वि० वि०, पी-एच०, डी०, १६५५)

नामवर सिंह – पृथ्वीराज रासो की भाषा, काशी, सरस्वती प्रेस, १६५६, (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कणिका विश्वास – व्रजभाषा और व्रजबुलि साहित्य (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

तारकनाथ अग्रवाल – बीसलदेवरासो की भाषा, (कलकत्ता वि० वि०, डी० फिल्०,१९५७)

शिवप्रसाद सिंह – सूरपूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९५८, (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

साहित्यशास्त्र

अलंकार

ओम्प्रकाश कुलश्रेष्ठ – हिंदी अलंकार साहित्य, दिल्ली, भारती सा० मंदिर, १९५६, १०, २९७ पृ० २२ सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच डी०, १९५१)

आलोचना

भगवतस्वरूप मिश्र – हिंदी आलोचना : उद्भव और विकास, देहरादून, साहित्य सदन, १९५४, ५, ६०५ पृ०, २१ सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५१)

कक्कड़, आर० के० – आधुनिक हिंदी साहित्य में आलोचना का विकास १८६८-१९४३, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

रामदरश मिश्र– आधुनिक आलोचना की प्रवृत्तियाँ, (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

रामलालसिंह – आचार्यशुक्ल के समीक्षा-सिद्धांत (सागर वि० वि०, पी-एच० डी० १९५६)

काव्यशास्त्र

रामशंकर शुक्ल रसाल – हिंदी काव्यशास्त्र का विकास, (प्रयाग वि० वि०, डी० लिट्०, १९३७)

भगीरथ मिश्र – हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, गोरखपुर, वि० वि० [illegible], १९५७, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९४७)

रमेशप्रसाद मिश्र – आधुनिक हिंदी साहित्य के बदलते हुए मानों का अध्ययन, (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

छंदशास्त्र

माहेश्वरी सिंह – मध्यकालीन छंद का ऐतिहासिक विकास (लंदन वि० वि०, पी-एच० डी०)

जानकीनाथसिंह मनोज – हिंदी छंदशास्त्र, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९४२)

पुत्तूलाल शुक्ल – आधुनिक हिंदी काव्य में छंदोयोजना, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५२)

नायक-नायिका-भेद

छैलबिहारी गुप्त राकेश – नायक-नायिका-भेद (प्रयाग वि० वि०, डी० लिट्० १९५२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रस शास्त्र

छैलबिहारी गुप्त राकेश – साइकालाजिकल स्टडीज इन रस, अलीगढ़, तारावतीगुप्त, १९५०, १७९ पृ०, २१ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९४३)

आनंदप्रसाद दीक्षित – काव्य में रस, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

बरसानेलाल चतुर्वेदी – हिंदी साहित्य में हास्य रस, दिल्ली, हिंदी साहित्य संसार १९५७, ६, ३२२ पृ०, २२ सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव – हिंदी काव्य में करुण रस, १४००-१७००, (आगरा वि० वि० पी-एच० डी०, १९५६)

वाद और संप्रदाय

प्रेमनारायण शुक्ल – हिंदी साहित्य में विविधवाद, कानपुर, पद्मजा प्रकाशन, १९५३, १६, ५२६ पृ०, २१ ५सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५२)

भोलाशंकर व्यास – ध्वनिसंप्रदाय और उसके सिद्धांत, काशी ना० प्र० सभा, १९५७, ५०९ पृ०, १२ सैं० (राजस्थान वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५३)

चंद्रकला – आधुनिक हिंदी काव्य में प्रतीकवाद, (राजस्थान वि० वि० पी-एच० डी०, १९५४)

सत्यदेव चौधुरी – रीति के प्रमुख आचार्य (दिल्ली वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

लोक साहित्य

ओम्प्रकाश गुप्त – हिंदी मुहावरे, (काशी वि० वि०, डी० लिट्० १९४९)

सत्येंद्र (गौरी शंकर) – व्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन, आगरा, साहित्यरत्न भंडार, [illegible] ४, ५७५ पृ०, २० ५सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९४९)

कृष्ण[illegible]य – भोजपुरी और उसका साहित्य, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, १९५८, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच[illegible]०, १९५२)

सत्यव्रत सिन्हा – भोजपुरी लोकगाथा, (प्रयाग वि० वि०. डी० फिल्०, १९५३)

कन्हैयालाल सहल – राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन, दिल्ली, भारती साहित्य मंदिर, १९५८, २९० पृ०, २२ सैं० (राजस्थान वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५४)

चिंतामणि उपाध्याय – मालवीय लोकगीत, (नागपुर वि० वि०, पी-एच० डी० १९५६)

हरिनाथ टंडन – वार्ता साहित्य का जीवनीमूलक अध्ययन (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

कृष्णलाल हंस – निमाडी और उसका लोकसाहित्य, (नागपुर वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

गोविंद सिंह कंदारी – गढ़वाली बोली की उपबोली, उसके लोकगीत और उसमें अभिव्यक्त लोक संस्कृति, (आगरा वि० वि०. पी-एच० डी०, १९५७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बद्रीप्रसाद परमार – मालव लोकसाहित्य, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

सत्येंद्र (गौरीशंकर) – मध्ययुगीन हिंदी साहित्य के प्रेमगाथा काव्य और भक्तिकाव्य में लोकवार्ता तत्व, (आगरा वि० वि०, डी० लिट्०, १९५७)

सावित्री सरीन – ब्रज-लोक-कथाओं के अभिप्रायों का अध्ययन (कलकत्ता वि० वि०, डी० फिल्०, १९५८)

आनंदप्रकाश माथुर – १६वीं १७वीं शताब्दियों की सामाजिक अवस्था का हिंदी साहित्य के आधार पर अध्ययन, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९४७ इतिहास विभाग से)

रामरतन भटनागर – राइज एंड ग्रोथ आफ हिंदी जर्नलिज्म १८२६–१९४५, प्रयाग, किताब महल, १९४७, २२, ७६८ पृ०, २१ सें० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९४८)

विद्याभूषण विभु – उत्तर प्रदेश के हिंदू पुरुषों के नामों का अध्ययन, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल०, १९५२)

चंद्रावती सिंह – हिंदी में जीवनी साहित्य (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५३)

यदुवंशी – शैवमत, पटना, वि० रा० भा० परिषद् १९५५, ६, ३३८ पृ०, २४ ५सें० (लंदन वि० वि०, पी-एच० डी०, १९)

राजकुमारी शिवपुरी – राजस्थान के राजघरानों द्वारा हिंदीसेवा, (राजस्थान वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

अंबाप्रसाद सुमन – कृषक जीवन संबंधी शब्दावली (अलीगढ़ क्षेत्र की बोली के आधार पर) (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

गणेशदत्त – मध्यकालीन हिंदी साहित्य में चित्रित सामाजिक जीवन, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

शकुंतला वर्मा – आधुनिक हिंदी साहित्य में गांधीवाद (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

किशोरीलाल गुप्त – शिवसिंह सरोज की जीवनी और साहित्य सं[illegible]ा की विवेचनात्मक परीक्षा, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

लक्ष्मीनारायण गुप्त – हिंदी साहित्य को आर्य[illegible]ाज की देन, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

विष्णुस्वरूप – कवि समय मीमांसा, (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वि म र्श

हिंदी टंकणयंत्र का कुंजीपटल

व्रजमोहन

एक समय था जब हिंदी टंकणयंत्र का बनना असंभव समझा जाता था। दो कठिनाइयाँ असाध्य समझी जाती थीं—ऊपर नीचे की मात्राओं की और युक्ताक्षरों की। निम्नलिखित मात्राएँ ऊपर नीचे दी जाती हैं —

ू, ु, े, ै, ं, ँ, ्, ृ, ॄ, ॅ.

यदि इन मात्राओं के लिए भी टंकणयंत्र की सामान्य कुंजियों से काम लिया जाता तो ये मात्राएँ अक्षरों के ऊपर नीचे न पड़कर कुछ आगे पडतीं यथा, 'जैसे' इस प्रकार लिखा जाता जै से। 'अंकुश' इस प्रकार लिखा जाता अ ं क ु श। इस प्रकार शब्दों की परंपरागत आकृतियों में बहुत कुछ विकार हो जाता। जहां तक हमें पता है सर्वप्रथम रेमिंग्टन कंपनी ने हिंदी टंकणयंत्र बनाया। तत्पश्चात और भी कई प्रकार के टंकणयंत्र बाजार में आये—आलिवेत्ति, आलिम्पिया आदि। अब भी अधिकांश जनता रेमिंग्टन टंकणयंत्रों को ही अधिक पसंद करती है। रेमिंग्टन ने मात्राओं वाली कठिनाई तो गतिहीन (डेड) कुंजियां लगाकर हल कर ली। इन कुंजियों को दबाने से रोलर आगे नहीं खिसकता। अतः जो मात्राएँ ऊपर नीचे लगती हैं, वह अक्षर से पहले लगा ली जाती हैं। 'ले' लिखने में पहले ` की मात्रा लगाई जायगी, [illegible]श्चात 'ल' लिखा जायगा। इस प्रकार मात्राओं वाली समस्या का तो सदैव के लिए समाधा[illegible]। यह युक्ति इतनी सुगम थी कि अन्य कंपनियों ने इसे तुरंत अपना लिया।

रेमिंग्टन कंपनी ने कुछ युक्ताक्षर भ[illegible]ए हैं —

श्र, द्द, द्ध, त्त, त्र, ह्म, द्य

हम यहाँ क्ष और ज्ञ को युक्ताक्षरों में नहीं गिन रहे हैं क्योंकि इन अक्षरों की स्थिति के विषयमें भाषावैज्ञानिकों में मतभेद है।

यों समझना चाहिए कि रेमिंग्टन कंपनी ने उन युक्ताक्षरों को अपने कुंजीपटल में स्थान दे दिया जिनकी अधिकतर आवश्यकता रहती है। किंतु फिर भी काफी युक्ताक्षर ऐसे रह गए जिनको उनके कुंजीपटल में स्थान नहीं मिल सका। शेष कंपनियों ने जो यंत्र बनाये उनमें तो इतने युक्ताक्षरों को भी स्थान न मिल पाया। कारण, उन कंपनियों ने युक्ताक्षरों के बदले अंग्रेजी विराम चिह्नों को अपने कुंजीपटल में ले लिया। समस्त युक्ताक्षरों को इन यंत्रों पर हलंत चिन्ह लगाकर ही लिखना पड़ता है। ऐसे यंत्रों पर 'विद्या' जैसे शब्द को भी इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार 'विद्या' लिखना पड़ेगा। इस कारण अक्षरों का स्वरूप तो बदलेगा ही, साथ ही लोगों की इस शब्द को 'विदया' पढ़ने की प्रवृत्ति बढ़ जायगी। इस समय भी उर्दू भाषी और पंजाबी हिंदी के बहुत से शब्दों का ठीक उच्चारण नहीं कर पाते। उक्त दशा में यह वैषम्य और भी बढ़ जायगा।

कुंजी-पटल-संबंधी अपने प्रस्ताव देने से पहले हम कुछ सामान्य गुणों पर विचार करेंगे जो हमारे विचार में हिंदी टंकणयंत्र में होने चाहिएँ —

१ - जहाँ तक हो सके, अक्षरों का स्वरूप न बिगड़ने पाए। जहाँ कहीं अनिवार्य हो जाय वहाँ भी यह प्रयत्न किया जाय कि अक्षरों के स्वरूप में कम से कम परिवर्तन हो।

२ - यदि हिंदी के समस्त युक्ताक्षरों का समावेश कुंजी पटल में हो जाय तो अत्युत्तम हो। यदि यह संभव न हो तो प्रयत्न करना चाहिए कि उनकी अधिक से अधिक संख्या का समावेश हो जाय।

हिंदी में कई प्रकार के युक्ताक्षर बनते हैं। कुछ अक्षर तो ऊपर नीचे लिखे जाते हैं जैसे गुप्त, कष्ट, म्लान, बच्चा।

अब अधिकांश लेखक इन अक्षरों को आगे पीछे लिखने लगे हैं जैसे —
गुप्त, कष्ट, म्लान, बच्चा।

अतः इस प्रकार के युक्ताक्षरों को कुंजी पटल में रखने की कोई आवश्यकता नहीं है।

कुछ अन्य युक्ताक्षरों पर विचार कीजिये --

श्र, क्त, त्त, त्र, क्र, रु, रू, ह्र, हृ

इस प्रकार के युक्ताक्षरों को हम दूसरे ढंग से भी लिख सकते हैं —

श्‌र, क्‌त, त्‌त, त्र, क्र, र‌ु, र‌ू, ह्‌र, ह्‌ृ

अतः इस प्रकार के युक्ताक्षरों को भी यदि हम कुंजी पटल में स्थान [illegible] कोई हानि नहीं है।

इनके अतिरिक्त कुछ युक्ताक्षर ऐसे हैं जिनमें मौलि[illegible]क्षरों का रूपांतर हो जाता है —

ट्य, ड्य, ह्य, ह्म, द्य, द्ध, द्धृ, द्व, द्वृ, द्भृ, द्द, द्र, ह्व, ह्न, ह्ल, ह्ण, ट्ट, ट्ठ, ड्ड, ड्ढ

इस प्रकार के युक्ताक्षर या तो इसी ढंग से लिखे जा सकते हैं या फिर हलंत लगाकर। यह प्रयत्न होना चाहिए कि इस प्रकार के समस्त युक्ताक्षरों का हमारे कुंजी पटल में समावेश हो जाय।

३ - हिंदी टंकणयंत्र पर टंकक की कम से कम उतनी गति हो सके जितनी अंग्रेजी टंकणयंत्रों पर हो सकती है। प्रयत्न तो यह होना चाहिये कि उससे भी तीव्र गति हो किंतु संप्रति यदि उतनी भी हो जाय तो उससे संतुष्ट हो जाना चाहिए।

४ - सन् १९५४ में लखनऊ में एक नागरी लिपि-सुधार-संमेलन हुआ था। उसने यह प्रस्ताव पारित किया था कि अंग्रेजी के समस्त विराम चिह्न हिंदी में अपना लिये जायँ। यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी अधिकांश हिंदी लेखक इन चिह्नों का प्रयोग करने लगे हैं। अतः इन चिह्नों को भी हिंदी टंकणयंत्रों में स्थान मिलना चाहिये।

५ - हिंदी टंकणयंत्र में १ से ६ तक के पूर्णांक और अंकगणित की चारों मूलभूत क्रियाओं के चिन्ह होने चाहिए। पूर्णांकों का तो प्रायः समस्त हिंदी यंत्रों में समावेश है किंतु चारों अंकगणितीय चिह्नों को अभी तक किसी भी यंत्र में स्थान नहीं मिला है। इसके अतिरिक्त यदि समीकरण चिह्न =, और कोष्ठकों को भी स्थान मिल सके तो अच्छा है। कुछ विशेष चिह्न ऐसे हैं जिनकी प्रायः आवश्यकता पड़ती ही रहती है —

तारिका, अधोरेखा, भागरेखा

इन चिह्नों का यथासाध्य हमारे कुंजीपटल में समावेश होना चाहिए।

६ - नागरी में अभी तक ये पाँच अक्षर दो प्रकार से लिखे जाते रहे हैं —

अ, अ; ण, ण; झ, झ; क्ष, क्ष; ल, ल

लखनऊ संमेलन ने इनमें से प्रत्येक का दूसरा रूप ही स्वीकार किया है। अ का मराठी रूप लिखना सुगम है। ण का मराठी रूप लिखने में रा का भ्रम होता है। अतः मराठी आधा ण लिखना अधिक उपयुक्त है। झ, ल के आधे अक्षर सरलता से नहीं बन सकते। क्ष का भी मराठी रूप सरल है। अतः इन्हीं रूपों को कुंजी पटल में स्थान मिलना चाहिए। हम केवल झ को इस नियम का अपवाद मानने को तैयार हैं। कारण झ को इस प्रकार लिखने में एक कुंजी की बचत होती है। यह बात इस लेख के अंत में स्पष्ट हो जायगी।

अब तक अंक ९ के तीन रूप प्रचलित हैं — ८ं ६, ९ इनमें से केवल यह रूप ९ ही लखनऊ संमेलन ने स्वीकार किया है। किंतु हम इस रूप ८ं को अपनायेंगे क्योंकि इसको अपनाने में भी एक कुंजी बच जाती है।

७ - नागरी लिपि सुधार के संबंध में अ की बारहखड़ी का प्रश्न भी विवाद का विषय
[illegible] है। यहाँ हम इस प्रश्न के विभिन्न पक्षों पर विचार नहीं करेंगे। किंतु इतना निश्चित
[illegible] भी जो अ की बारहखड़ी को अवैज्ञानिक बताते हैं, यह स्वीकार करते हैं
है कि भाषा [illegible]
कि ए, ऐ के ये रूप अे, अै [illegible] वैज्ञानिक हैं। और इन रूपों को स्वीकार करने में एक कुंजी
की बचत हो जाती है। अतः हम इन्हीं [illegible] को अपनायेंगे।

८ - नागरी में अधिकांश अक्षरों के सस्वर और अस्वर दो रूप होते हैं। यदि ऐसे
समस्त अक्षरों के अस्वर रूप ही दिये जाएँ, जिसके अंत में खड़ी पाई होती है तो खड़ी पाई
जोड़ देने से सस्वर रूप बन जाता है। कई टंकणयंत्रों के कुंजी पटलों में कई एक अक्षर केवल
अस्वर रूप में दिए रहते हैं। जैसे ज के स्थान पर केवल ज् होता है और ा जोड़ने से ज
बन जाता है। इनमें संदेह नहीं कि इस प्रकार ज बनाने में दो कुंजियों को दबाना पड़ता है।
इनका यह उपाय हो सकता है कि ा की कुंजी स्वचालित हो जिसका संबंध ऐसी समस्त
कुंजियों से हो जिनमें अक्षरों के अस्वर रूप दिये हों। ज्योंही हम ज् की कुंजी दबायें; ा की
कुंजी आप से आप दब जाय और ज् के अंत में ा अपने आप भिड़ जाय। जब कभी ज् ही बनाना
अभीष्ट हो, तब 'कल बदल' को दबाना पड़े। इस प्रकार की युक्ति बनाना यंत्रज्ञों का काम है।

किंतु यदि यह मान लिया जाय कि इस युक्ति को व्यावहारिक रूप देना असंभव है तो
भी जैसे अंग्रेजी में ja लिखने में दो कुंजियों का प्रयोग करना पड़ता है, उसी प्रकार नागरी में

११ (६३-२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी दो कुंजियाँ दबानी पड़ेंगी। अतः हिंदी के टंकण में अंग्रेजी के टंकण से अधिक समय नहीं लगेगा।

रेमिंग्टन कुंजी पटल के दोष —

(क) बहुत से युक्ताक्षर नहीं हैं जैसे —

ह्य, ह्रू, ट्ट, ट्ठ, ह्म, ड्ढ, छ्र, ड्डु, ड्डु, ढ्ढ, द्ध, द्व

(ख) इन अक्षरों के अस्वर रूप नहीं हैं —

ण, फ, ब

अतः उक्त टंकण पर निम्नलिखित शब्दों का मुद्रलेखन हो ही नहीं सकता —

अक्षुण्ण, विषण्ण, फ्यास, शब्द, ब्याह

(ग) र का यह ‸ रूप नहीं है। अतएव इस प्रकार के शब्द ठीक प्रकार से नहीं लिखे जा सकते — राष्ट्र, ड्रामा। इस चिह्न के लिये हलंत और अर्ध र-कार दोनों बटन दबाने पड़ते हैं।

(घ) पाई को छोड़कर अन्य विराम चिन्ह नहीं हैं। अंकगणितीय चिह्न नहीं हैं। तारिका चिह्न, अधोरेखा, और भाग रेखा (सोलीडस) भी नहीं हैं। दाहिने हाथ की बिंदी भी नहीं है, अतः ङ बनाना असंभव है।

केंद्रीय सरकार का कुंजीपटल

हाल ही में केंद्रीय सरकार ने एक कुंजी पटल तैयार किया है। उसमें एक नये सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है — अर्धगति सिद्धांत। कुछ अक्षर ऐसे हैं जो क्षैतिज दिशा में अन्य अक्षरों से आधा स्थान घेरते हैं जैसे इ, ई की मात्राएँ और व्यंजनों के अस्वर रूप। किंतु रेमिंग्टन यंत्र में ऐसे चिह्नों की कुंजियों को दबाने से भी पूरी गति होती है। इसका परिणाम यह निकलता है कि कुछ शब्दों के बीच में अधिक स्थान छूट जाता है, कुछ के बीच कम। मान लीजिए कि हमें यह लिखना है —

राम की बच्ची खेल रही है।

तो रेमिंग्टन पर यह वाक्य इस प्रकार लिखा जायगा —

राम की बच्ची खेल रही है।

'राम' और 'की' के बीच में जितना स्थान होगा उससे अधिक स्थान 'की' और 'बच्ची' के बीच में छूटा होगा। इसी प्रकार 'बच्ची' और 'खेल' के बीच में भी अधिक स्थान छूटा होगा। 'खेल' और 'रही' के बीच में कम स्थान छूटा होगा, 'रही' और 'है' के बीच फिर अधिक स्थान छूटा होगा। इसका कारण यह है कि इन पंक्तियों के समानांतर 'ी' उतना स्थान नहीं घेरती जितना 'म' और 'ल' घेरते हैं।

इसके अतिरिक्त बच्ची में भी 'च' और 'ची' के बीच में कुछ स्थान छूट जायगा जो बड़ा भद्दा लगता है।

सरकारी कुंजी पटल ने इस दोष को दूर कर दिया। इसके अतिरिक्त सरकारी कुंजी पटल में कुछ अक्षरों के केवल अस्वर रूप ही दिए गए हैं। इस प्रकार कुछ कुंजियाँ खाली बच रहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन पर उन्होंने अंग्रेजी विराम चिह्न और अंकगणित के चिह्न बैठा दिये। इस प्रकार कुंजी पटल में कुछ सुधार अवश्य हुआ।

सरकारी कुंजीपटल के दोष

१ - युक्ताक्षरों का सर्वथा अभाव है। अतः समस्त युक्ताक्षरों को हलंत लगाकर ही बनाना होगा। इस प्रकार युक्ताक्षरों का सौंदर्य ही नष्ट हो जायगा। इसके अतिरिक्त कुछ समय पश्चात लोगों की हलंत चिह्न लगाने की आदत छूट जायगी। आज भी बहुत से लेखक पश्चात और अर्थात् के अंत में हलंत चिह्न नहीं लगाते। इसी प्रकार कुछ समय पश्चात इस प्रकार के शब्द हमें नित्य दिखाई पड़ा करेंगे।

अद्‌भुत, द्‌वार, लट्‌टू

और इस प्रकार लिखने के साथ साथ इन शब्दों का उच्चारण भी विकृत हो जायगा। यों भी हिंदी जनता इस परिवर्तन को कदापि स्वीकार नहीं करेगी।

२ - निम्नलिखित अक्षरों के अस्वर रूप नहीं हैं —

ख, ग, घ, फ, थ, भ

अतः उक्त टंकणयंत्र पर ऐसे शब्द नहीं छापे जा सकते।

ख्याति, भाग्य, कृतघ्न, पथ्य, फ्यास, सभ्य।

३ - इ की मात्रा का रूप बदल दिया गया है। नए रूप को हिंदी जगत ने स्वीकार नहीं किया है। इसी कारण लखनऊ के सन् ५७ के लिपि सुधार संमेलन ने उक्त सुधार को रद कर दिया और ई की मात्रा को वही पुराना रूप दे दिया।

हमारा प्रस्ताव

आ[illegible] समस्त मानक टंकणयंत्रों में ४६ बटन होते हैं और प्रत्येक बटन पर दो चिह्न होते हैं। इस प्रकार [illegible]मिलाकर ९२ चिह्नों का मुद्रलेखन हो सकता है। हम इन ९२ चिह्नों को इन वर्गों में विभक्त करेंगे —

(अ) पूर्णगति कुंजियां —

१ - निम्नलिखित स्वर —

अ, इ, उ, ऋ = ४

२ - निम्नलिखित व्यंजन —

छ, ट, ड, ढ, द, र, व = ७

३ - निम्नलिखित युक्ताक्षर —

ङ्क, ट्ट, ट्ठ, ड्ड, ड्ढ, द्द, द्ध, ङ्ग, द्म, द्ब, द्र, द्व, द्ग, द्य = १४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४ - अंकगणतीय चिह्न —

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ०, +, —, ×, ÷, =, /, (,) = १७

५ - विशेष चिह्न

, ., ˆ, ?, —; *, ।, ′

य (यह य का विकृत रूप है जो अकाट्य, ग्राह्य में दृष्टिगोचर होता है)।
= ९

५१

(अ) अर्द्धगति कुंजियाँ —

१ - निम्नलिखित व्यंजनों के अरवर रूप

क, ख, ग, घ, च, ज, झ, ण, त, थ, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, ल, श, ष, स
ह (= ह्), क्ष, ज्ञ = २५

२ - निम्नलिखित मात्राएँ —

ा, ि, ी, = ३

३ - विशेष चिह्न

., ’ (अल्प विराम अर्थात् अंग्रेजी कामा) = २

३०

(इ) गतिहीन कुंजियाँ —

१ - मात्राएँ

ु, ू, े, ै, ्, ं, ँ, ॅ, ृ

२ - विशेष चिह्न

, (र के चिह्न) = २

११

सारांश — पूर्णगति कुंजियां ५१
अर्धगति कुंजियाँ ३०
गतिहीन कुंजियाँ ११

९२

उपरिलिखित तालिका में निम्नलिखित चिह्न नहीं आए हैं —

क, फ, म्ह, ह, ठ, ऊ, ो, ौ

किंतु इन समस्त चिह्नों के व्यक्त करने का साधन हमारे पास विद्यमान है —

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) पूर्णगति कुंजियों में से विशेष चिह्नों के अंतर्गत तीसरा चिह्न इस प्रकार है। ८ अब तनिक इन चिह्नयुग्मों पर विचार कीजिये —

व + ꠸ = क
प + ꠸ = फ अर्थात् ꠸ + ा + ꠸ = फ
भ + ꠸ = झ
ह + ꠸ = ह
ट + ꠸ = ठ,
उ + ꠸ = ऊ,
र + ꠸ = रू।

इनमें से अंतिम चिह्न को हम इस प्रकार रु भी लिख सकते हैं।

हमने 'व' को भी पूर्णगति कुंजियों में स्थान दिया है। हम इसको इस प्रकार भी लिख सकते हैं —

ॱ + ा

इनमें से पहले चिन्ह के लिए भी किसी अतिरिक्त कुंजी की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि यह काम हम शून्य बिंदु से ले सकते थे। किंतु ऐसी स्थिति में 'क' इस प्रकार बनेगा —

ॱ + ा + ꠸

अतः क बनाने के लिए तीन बटन दबाने पड़ेंगे। और क प्रायः समस्त अक्षरों में सबसे अधिक प्रयुक्त होता है। अतएव उक्त दशा में टंकण की गति पर कुप्रभाव पड़ सकता है। इस कारण हमने 'व' को एक स्वतंत्र कुंजी दी है। तथापि यदि हमारा स्वचालित 'ा' की कुंजी वाला प्रस्ताव कार्यरूप में परिणत हो जाय तो 'व' की कुंजी की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। ऐसी दशा में हमारे पास एक कुंजी फालतू बच रहेगी। उक्त कुंजी पर हम ळ अथवा ro रख सकते हैं।

हमने अपने कुंजीपटल में ह को कोई स्वतंत्र कुंजी नहीं दी है। इसका कारण तो उपरिलिखित तालिका से स्पष्ट हो है। [illegible] किंतु ह के और भी कई उपयोग हैं —

ह + व = हव (ह्व)
ह + न = हन (ह्न)
ह + ल = हल (ह्ल)
ह + य = हय (ह्य)
ह + ृ = हृ (हृ)
ह + ण = हण (ह्ण)
ह + ् = ह् (ह्)

यह प्रस्ताव बिल्कुल नया नहीं है। बहुत से प्रेस अब इस प्रकार आधे 'ह' का चिह्न रखते हैं जो ह् का काम देता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ख) पूर्णगति कुंजियों के अंतर्गत अंतिम चिह्न य है। इसकी सहायता से हम निम्नलिखित प्रकार के शब्द लिख सकते हैं —

काट्य, जाड्य, वाह्य

इनमें से अंतिम चिह्न ह्य को लिखने का एक अन्य ढंग हम ऊपर दे चुके हैं किंतु यह पिछला ढंग अधिक वांछनीय होगा।

(ग) ओ और औ की मात्राओं के कारण कोई कठिनाई नहीं पड़ेगी क्योंकि

े + ा = ो
ै + ा = ौ

(घ) पूर्णगति कुंजियों में विशेष चिह्नों के अंतर्गत विसर्ग चिह्न दिए गए हैं। यही चिह्न उपविराम (अंग्रेजी कोलन का भी काम देंगे)।

(ङ) अंकगणितीय चिह्नों में से शून्य चिह्न के कई उपयोग हैं। यही चिह्न अस्वर व का काम देगा। इसके अतिरिक्त कभी कभी हम पंडित को पं० लिखते हैं। संक्षेप चिह्न का काम भी यही चिह्न देगा।

— के दो उपयोग हैं, — ऋण चिह्न और वियोजिका (हाइफन)

(च) अंकगणितीय चिह्नों में से एक चिह्न / है। यह चिह्न अंकगणितीय भिन्नों में 'बटे' का काम देगा। इसके अतिरिक्त इसीके द्वारा गलत अक्षरों को काट भी सकते हैं, यद्यपि यह काम पाई से भी किया जा सकता है।

(छ) अर्धगति कुंजियों के अंतर्गत विशेष चिह्नों में पहला चिह्न ़ है। इसकी सहायता से ड का ङ बनाया जा सकता है और , का ; (अंग्रेजी कामा का सेमी कोलन)। और यही चिह्न दशमलव बिंदु का काम भी देगा।

(ज) गतिहीन कुंजियों में मात्राओं के अंतर्गत अंतिम चिह्न ़ है। इस बिंदु का प्रयोग इस तालिका से स्पष्ट हो जायगा —

ड + ़ = ड़,
ढ + ़ = ढ़,
ज + ़ = ज़,
फ + ़ = फ़,
क + ़ = क़,
ग + ़ = ग़,
ख + ़ = ख़,
। + ़ = ।

(झ) मात्राचिह्नों में एक चिह्न ॅ भी है। इसका उपयोग इस प्रकार है —

र्‍ रेफ चिह्न (कर्म, गर्व आदि में)

इ + ॅ = ई
द + ॅ = र्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ञ) ^ का उपयोग र के चिह्न के अतिरिक्त काक पद (कैरेट) के लिये भी हो सकता है।

हमने इस लेख में केवल चिह्नों के स्वरूपों पर विचार किया है। कुंजी पटल में ये किस प्रकार सजाए जाएँगे, अर्थात् पहली पंक्ति में कौन कौन से चिह्न रहेंगे, दूसरी पंक्ति में कौन कौन से और प्रत्येक पंक्ति में पहला चिह्न कौन सा, दूसरा चिह्न कौन सा आदि बातों पर हम कोई राय नहीं दे सकते। यह काम प्रेस वालों का है।

हमारा विचार है कि हम ऊपर दिये हुए कुंजी पटल से हिंदी के समस्त युक्ताक्षर बना सकते हैं। और उक्त कुंजीपटल पर हमारी टंकण गति अंग्रेजी से कम नहीं होगी। इस कुंजीपटल पर यह आपत्ति हो सकती है कि इसमें 'क' बनाने के लिए दो बटन दबाने पड़ेंगे और समस्त अक्षरों में 'क' ही सबसे अधिक प्रयुक्त होता है। अतः हम यह विकल्प देते हैं कि सस्वर व्यंजनों में 'व' के स्थान पर 'क' दे दिया जाय और व को इस प्रकार —

ा + ^ = व

बनाया जाय जैसा कि हम ऊपर इंगित कर चुके हैं। 'व' बहुत अधिक प्रयुक्त नहीं होता। अतः इस प्रस्ताव से टंकण गति पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ेगा।

*

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चयन

धर्मसूत्रों का पुनर्निर्माण

सुरेशचंद्र बनर्जी

•

हारीत

[प्रस्तुत वाक्यानुक्रमणिका में हारीत धर्म सूत्रों के समस्त प्राप्त उद्धरणों को एकत्र करने का उपक्रम किया गया है। भारतीय संस्कृति के अध्येताओं के लिये यह प्रयास उपयोगी सिद्ध होगा। अतः जर्नल आफ द ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, एम० एस० विश्वविद्यालय, बड़ौदा, भाग आठ, संख्या १, १९५८ में प्रकाशित इस अंग्रेजी सामग्री का अविकल देवनागरी रूप यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।]

हारीत का धर्मसूत्र मुद्रित अथवा हस्तलिखित रूप में कहीं प्राप्त नहीं है। इस ग्रंथ की संभावना इस बात से प्रमाणित है कि हारीत के धर्म के विभिन्न अंगों पर प्रभूत गद्य उद्धरण स्मृति निबंधों तथा टीकाओं में मिलते हैं। अतः हारीत रचित माने जानेवाले समस्त उद्धरणों को अकारादि क्रम से संगृहीत करने का प्रयास किया जा रहा है। इस संग्रह में यथासंभव पाठ-भेदों का भी आकलन मिलेगा।

संकेत

अ० टी० — अपरार्क टीका
ब्रा० स० — ब्राह्मणसर्वस्व (हलायुध)
च० चि० — चतुर्वर्ग चिंतामणि, बी० आई० सं० कलकत्ता
दा० भा० — दायभाग (जीमूतवाहन) सं० जे० विद्यासागर कलकत्ता
गृ० र० — गृहस्थ रत्नाकर. बी० आइ० सं०, कलकत्ता
ह० गौ० — गौतम धर्मसूत्र, मिताक्षरा पर हरदत्त की टीका, आनंदाश्रम
हा० ल० — हारलता (अनिरुद्ध) बी० आई० सं० कलकत्ता
कृ० र० — कृत्यरत्नाकर, बी० आइ० सं० कलकत्ता
मिता० — याज्ञवल्क्य स्मृतिपर मिताक्षरा (विज्ञानेश्वर) नि० सा० प्रे०, बंबई १९२६
प्रा० प्र० — प्रायश्चित प्रकरण (भावदेव भट्ट), सं० जी० वेदांततीर्थ, राजशाही, १९२७
स्मृ० चं० आ० — स्मृति चंद्रिका (आह्निककांड) मैसूर, १९१४
स्मृ० चं० अ० — वही (अशौचकांड), मैसूर, १९२१
स्मृ० चं० श्रा० — वही (श्राद्धकांड), मैसूर, १९१८
स्मृ० चं० सं० — वही (संस्कारकांड), मैसूर १९१४
स्मृ० चं० व्य० — वही (व्यवहारकांड), भाग १, मैसूर १९१४, भाग २, मैसूर १९१६
श्रा० कौ० — श्राद्ध क्रिया कौमुदी (गोविंदचंद्र) बी० आई० सं०, कलकत्ता
शु० कौ० — शुद्धिकौमुदी (गोविंदचंद्र) वही वही
स्मृ० त० — स्मृतितत्त्व (रघुनंदन), सं० जे० विद्यासागर, कलकत्ता
स्मृ० त० खं० २ — वही खंड २
उ० — आपस्तंब धर्मसूत्र पर हरदत्त कृत उज्ज्वला, बनारस
वि० र० — विवाद रत्नाकर, बी० आइ० सं०, कलकत्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अ

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
अग्निहोत्रव्रशयज्ञाभिजितमश्नीयात्त्रान्यमभिजितात्मनस्त्वग्··· यज्ञाभिजितमन्यमभिजितम् नाश्नीयात्	गृ० र०	६८
अज-मेष-महिष-हरिण-खड्ग-रुरुपृषतन्यंकु-रिक्ष-महारण्य वासिनश्च महावराहान्	गृ० र०	३७५
अंगुष्ठस्योत्तरतो रेखा ब्रह्मतीर्थम्······प्रतिग्रहमाग्नेयेन प्रतिगृह्णीयात्	च० चि० तृ०-१	३३-३४
अणुत्वाल्लाघवाच्चापलाद्वायो र्योगाभ्रष्टस्य मनसः समानीयार्थयोजनं प्रत्याहारः	अ० टी०	१०२५
अथ सूनाम् व्याख्यास्यामो जंगम-स्थावरादीन् प्राणिनः सुनयन्तीति सूनाः	स्मृ० त० खं०-२	६३
अथ ब्राह्मणानाम् भोजनविधिम्···जातवेदो घृतं चक्षुरमृतम्··· अथ शारीरम् पवित्रम्। यदह्ना रात्र्या···पापमकार्ष रुद्रो मा तमसादेनसो विश्वान् मुञ्चत्वंहसः। [इसके आगे कुछ श्लोक]	गृ० र०	३१६
अवधूतो वा लंघितोप्सु जयेत पूतो भवति। शुचि···परिवदेन्नाक्रोशेत्तद् व्रतम् सार्वकामिकम्	अ० टी०	१२२३-१२२४
अथ······धर्मः	कृ० र०	६
अथातो धर्मम् व्याख्यास्यामः। श्रुतिप्रमाणको धर्मः। श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च	एम० एम०	२८
अथातश्चान्द्रायणमनुक्रमिष्यामः	मिता०	४८५
अथा···नोक्तस्य तुलापुरुषस्यकल्पं व्याख्यास्यामः।··· यः पुरुषः पिंगलो व···मुषल······सुमना भव। अथ तुलापुरुषमभिमंत्रयेत्। ऋषिसत्यं···आषाढ्याम् कार्तिक्याम् फाल्गुन्याम् पुष्ये वा नक्षत्रे एष विहितो धर्मः	अ० टी०	१२३६-१२४१
अथावर्णेषु प्रजाय न पतति पततीति संशयः न सर्वाण्येव जनयेन्न दुष्यति	गृ० र०	३८
अथाष्टौ विवाहाः संभवन्ति ब्राह्मो दैवो गांधर्व आसुरो राक्षसः पैशाचो मानुषः क्षात्रश्चेति। तेषाम् पूर्वे ससोभयतरतेषाम् विन्देतालाभे मानुषम्	गृ० र०	५६
अथातोद्धृतान्नः पंक्तिमूर्धनि सर्वान् पृच्छत्यग्नौ करिष्ये	स्मृ० चं० श्रा०	३१७
अथोदकुम्भ-कुश-पुष्प-समिन्मूल .हरण संमार्जनोपलेपांग-शुश्रूषाप्रभृतिभिर् गच्छंतम् तिष्ठन्तम् शयानम् आसीनम् भक्त्यानुवर्तेत नास्य निर्माल्य शयनासन छाया पादुकें वा कामयेत	स्मृ० चं० सं०	११६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
अद्भिरभ्युदय दद्यादालभ्य	स्मृ० त०	२२३
अधो······पुराणाः	वि० र०	२४६
अधो······ब्राह्मणाः	वि० र०	२६५
अध्व गमना क्रोशपूरणम्	वि० र०	१८५, २४६
अनाहिताग्निश्चेदन्यमादध्याज्जनाग्निम् वा परिगृह्य	स्मृ० चं० व्य०	५६४
अनाश्रमी संवत्सरं प्राजापत्यं चरित्वा आश्रममुपेयात । द्वितीये कृच्छ्रं तृतीये कृच्छ्रातिकृच्छ्रमता ऊर्ध्वं चांद्रायणम्	अ० टी०	११५७
"	मिता०	४५०
अनिन्दन्ननन्यैर्वितर्कयन् विधिवद् वस्त्रयुगम् दत्वा सह धर्मम् चर्यतामिति ब्राह्मः	गृ० र०	६६
"		
['ब्राह्मः' के स्थान पर 'प्रजापत्यः' तथा अन्य साधारण पाठांतर]	च० चिं० १	४८५
अनिष्ट-गंधो-पघातश्रवण-दर्शन केशकीट···अन्नाद्यस्योपघातेन काञ्चन-रजत-भस्म···अन्यतमेनाद्भिः-संपृष्टमंत्र-प्रोक्षण-पर्यग्नि-करनमा-दित्य-दर्शनात् पूतम् भवति	अ० टी	२६७
अनुक्तानां सत्वानाम् भक्षणेतिकृच्छ्रो ग्राम्यानाम् चांद्रायणम्	ह० गौ०	२००
अनृता······चोत्तमानाम्	वि० र०	२५१
अंतरुर्वोरली कृत्वा त्रियोहार्दिश्च पिवेत्	ह० गौ०	३३४
अन्यापरिगृहीतश्चापः	एच० के०	१०१
अप्रजाम् नवमे वर्षे	स्मृ० चं० व्य०	[illegible]
अभिप्लुतानुपेत्य परदारानधो वर्णान् वेदमापः प्रवहतेत्यंतर्जालेऽष्टशतम् जप्त्वा तिलाधकं ब्राह्मणाय दद्यात्	अ० टी०	११२१
अर्धं पञ्चमान् मासानधीत्य उत्सृजति पञ्चार्धं षष्ठान् वा	च० चि० ३-२	३६७
असद्द्रव्य प्रणितो यज्ञः प्रस्रवति अनृत्विक्प्रणितः च्यवते। अविद्वत्प्राणितः······यैर् उपसिष्टो यज्ञो अलाबुकोभवति	गृ० र०	१२७
असद्रव्यदानम् अस्वर्गम् यच्च दत्वा···दीयमान द्रव्यासमर्पणम्	च० चि० प्र०	१८–१९
असुरा-मद्य-पानेऽल्पके श्लेष्मातकप्राशने माषमसूरकवमने मरीचभक्षणे मेध्यावपन्नानां अपाम् पाने च सांतपनमेव चरेत्	अ० टी०	११६०
असौ तृप्यतामिति उदकांजलिं नियमयति	हा० ल०	१४६

आ

सूत्र	उद्धरण निर्देश	पृष्ठ
आकृष्णेनेत्यादित्यम् उपतिष्ठन् सर्वं भूतात्मा भवति	ब्रा० स० ५६	

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
आगुल्फात् क्षालयेत् पादौ	शु० कौ०	३३८
आपत्सु कृषि प्राहुः कृषिश्चेदायोवानविद्यायोज्य (?) बाल वृद्ध न पर्वसु संधि वेलयोर्वाहयेत् । विह्वल्येत चेत्''' । स्नात्वाऽन डुहोऽलंकृत्य ब्रह्मणान् भोजयेत् । सीरभेयानाम् पुण्य-निमित्तं षड्-भागं राज्ञे दत्वा पञ्चमाद् ब्राह्मणांस्तोषयेत्	अ० टी०	६३७
" (अनेक पाठांतरों से युक्त)	गृ० र०	४३०
आमम् वा गृह्णीरन् कृतान्नस्य वा चिरमस्य न सुभिक्षाः । स्वयमप्य वृत्तौ वृत्तिं प्राप्य विरमेत्	गृ० र०	४६२–४६३
आ मणिबंधात् प्रक्षाल्य आ जंघात् पादौ	स्मृ० चं० आ०	२५५
" [पाठ इस प्रकार है — आ मणिवंधात् पाणिं प्रक्षाल्य जंघा-भ्याम् पादौ ज्ञाति श्रेष्ठ कामोऽन्नाद्यकामो वा दक्षिणे चरणांगुष्ठे पाणिमवस्राव्य प्राणानालभ्य नाभिमुपस्पृशेत्]	गृ० र०	१५१
आमंत्रिता आमंत्रयिता च शुचयस्ताम् रात्रिं निनयेयुः	श्रा० कौ०	८२
आयम् गौः पृश्निरक्रमीद् इत्येतामृचाम् त्रिरंतर्जले जपन् सर्वस्मात् पापात् प्रमुच्यते आरोग्य वृत्तिः चिकित्सतमुपपति······ पापयोनिषु जायंते तस्मान्नासद्वृत्तिः स्यात्	गृ० र०	४५१
आसनाभिवादनोत्थानर्घ्यातिथ्यानि धर्मसाधनानि साधूनामे-तेषाम् प्रदाने कन्याया अतिक्रमो न विद्यते	गृ० र०	५५
आहिताग्निश्चेत् प्रमीयत औपासनावक्षणाग्निम् प्रगृह्य सपराग्निभिरनुसवनमिन्धानावसेत्	स्मृ० चं० व्य०	५६४
इ		
इमं म इत्युदकावर्तनम्	ब्रा० स०	२५
उ		
उच्छिष्टस्य गमन एकाहमुपवासः । न गृही नियमातिक्रमेऽश्नीयात्	अ० टी०	११८८
उन्नायनान् माता-पितृजम् पाप्मानमपोहति	ब्रा० स०	१८६
उपाध्याये राजनि च मृते श्रोतृये च मृते सब्रह्मचारिणी च चंद्रार्क्यो राहुदर्शने शक्रध्वज पतन आचार्ये च मृते त्रिरात्रम्	अ० टी०	१९०
ऋ		
ऋतमिति संभूताभिधानम् । नात्र ऋतमस्तीत्यनृतम् । तच्चतु-र्विधम्'''तस्मान्न व्यसनादिभिः क्रिणियान्न विक्रिणीयात् न कितव-वृत्तिः स्यात्	गृ० र०	५०८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
ऋतामृतोपहृत संपन्न वृत्यापत्सद्वृत्तयो भवति	गृ० र०	४१५
ए		
एकव्रत ...... भवन्ति	वि० र०	४१०
एकालिंग तिस्रोऽपाने दद्याद्वादश सव्ये षट् पृष्ठे सप्त पद्भ्याम्	स्मृ० चं० आ०	२४५
एकालिंगे तिस्रोऽपाने दद्याद्वादश सव्ये षट् पृष्ठे सप्त पद्भ्याम् ('दद्यात्' और 'दश' के बीच 'मृत्तिकामादोपात्' विशेष समाविष्ट; 'षट्' की आवृत्ति दो बार; 'सप्त पद्भ्याम्' के लिये 'सप्तोभाभ्याम्'; पंक्तियों के अंत में निम्नलिखित अंश विशेष—द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् त्रिगुणम् वानप्रस्थानां चतुर्गुणं भिक्षूणाम्)	गृ० र०	१४६
एतेषामेवाध्धीयानामंतरागमने सत्रामुपवासस्त्र्यहं च विवसेत्	स्मृ० चं० सं०	१५८
एतेषामेकतमेनोढाम् धर्मपत्नीं प्राहुः	गृ० र०	६०
एतैरष्टभिर्गर्भसंस्कारैर्गर्भोपघातात् पूतो भवति	ब्रा० सं०	१८६, १८९, १६४, २०३, २०७
एवमेव गुरु-पितृव्य-स्त्री-गमने कन्या सगोत्र स्वस्त्रीया-गमने चांद्रायणम् वा साभ्यासे मतिपूर्वके च पितृव्यादि स्त्री-गमने गुरुतल्प प्रायश्चित्तम्। अन्यथा तु चांद्रायणम्	अ० टी०	१०८६
ओ		
ओम् तेजोऽसीति अन्नाद्यपनीयमानमभिमंत्रयेत्। ओम् द्यौस्त्वा ददात्विति ...। अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा ... हविरग्निः सोमः इति जपेत्	ब्रा० स०	१७१
औ		
औदररेतसकामजक्रोधजहर्षजानग्गीन् ... लोक द्वय संतापकत्वादग्नित्वमेतेषाम्	गृ० र०	४६५
क		
कनिष्ठायाः पश्चात् प्राजापत्यमावपनम् होम-तर्पणे प्राजापत्येन कुर्यात्	स्मृ० त०	६८८
कन्यादूषी सोमविक्रयी वृषलीपतिः कौमारदारात्यागी सुरा-मद्यपः शूद्रयाजक ... मासम् गोमूत्र यावकमश्नीयुः	मिता०	४८८
" ('प्रतिहंता' के लिये 'प्रतिकर्ता')	अ० टी०	११५३
कामं दीने प्रोषिते आर्तिं गते वा ज्येष्ठोऽर्थांश्चितयेत्	स्मृ० चं० व्य०	६०४
कार्ष्णायस्य पणयोऽधश्शायिनोऽध उपवेशिन एकं पिण्डमुदकांजलिं च निरस्य पाणिषु मृण्मयेषु पत्रपुटेषु वाश्नीरन्	हा० ल०	१५८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
कालेयपालाशकोविदारश्लेष्मातकबिल्वकंटकिवृक्ष निर्गुण्डी-शिखंडिशिरोषमालतीकरवीरवदरीकारंजवेणुवर्जम्	स्मृ० चं० आ०	२८०
" ['कालेय' के लिये 'काले'; 'विल्व' के लिये 'बिल्वक'; 'कंटकि···करञ्ज' के स्थान पर पाठ है 'शाकवृक्ष निशुंठी शिखंडि'; पंक्ति के आगे विशेष—सवमाषकवदरीकरंजशमीशिंशपा इत्येका। दधिथा हारीतक्यश्व कर्णशात निम्बामलकानित्यपर। विल्वखदिराम्रपैलालशिरीषा पार्माणमेकतमयनार्द्रम् नातिशुष्कम् नाति स्थूलमयोथिताग्रमनौष्ठ···उदन्मुखो वाग्यत आसीनो दंतधावनम् भचेत]	गृ० र०	१७३
कुरुष्वेत्यनुज्ञातः पूर्वोधृतेग्नौ सकृदाच्छिन्नैर् उपमूलातुनैः परिस्त्रीय सभित्तंन्त्रेण प्रांङ्मुखो मेक्षणेनाहुतिद्वयम् हुत्वा मेक्षणमग्नावेव कुर्यात्	स्मृ० चं० आ०	३१८
कृतिर्नियमो जैह्मम् नियमार्जवम् छद्ममाया व्याजयुक्ता निकृतिः काठिन्यासाध्यवैषम्य-दौष्टयम् सद्भावयुक्तम् छोतन्निय-मार्जवम् भवति	गृ० र०	५२५
कृमिकीटपिपीलिकाजलौकःपतंगास्थिप्राशने गोमूत्र गोमया हारस्त्रिरात्रेण विशुध्यति	मिता०	५५४
क्रोध···संतोषो गुरु सुश्रूषा चेति नियमः। कर्म···व्याधायः संभवन्ति	गृ० र०	५२५
क्षत्रियस्याभिवादनेऽहोरात्रमुपवसेदेवम् वैश्यस्यापि शूद्रस्याभिवादने तिरात्रमुपवसेत	स्मृ० त०	७६१
...वद् ब्राह्मणीषु वैश्यवत् क्षत्रियायाम् शूद्रवद् वैश्यायाम् शूद्रम् हत्वा नव ...ान्	मिता०	४३३
क्षीरोपस्वेद-चंड-निर्णोदनप्रक्षालनादि-भिर् वासांसि शुध्यंति एवम् तपो-दान-यज्ञैः पापकृतः शुद्धिमुपयान्ति ध्मायमाना इव धातवोऽग्नौ दोषोभ्यस्तस्मात् विश्रम्भात स्नेहात् लोभात् भयात प्रमादा अशुभम् कृत्वा सद्यः शौचमारभेत	स्मृ० त०	४७४
क्षीर होताऽहार्यं वृत्तो विशेषवृतः	श्र० टी०	६६

ग

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
गर्दभचर्म परिधाय	एम० एम०	४४३
गर्भपतने त्रिरात्रम् स्त्रीणाम् सुाधीयो राजो विशेषत्वात्	हा० ल०	६१
" ['पतने' के स्थान पर 'स्रावे'; 'त्रिश्रो' तथा 'स्त्रीणाम्' विपर्यित 'पित्रादि सपिंडानाम् त्वत्र सद्यःशौचम्' पाठ अधिक]	एम० एम०	११९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
गर्भिणीमधोवर्णं शिष्य गुरुगाभिर्णी पानव्यासक्तां धनधान्य-विक्रय कारिणीम् च वर्जयेत्	स्मृ० चं० व्य०	५७८
गर्भिणीमधोवर्णगाम् शिष्यसुतगामिनीम् पापव्यसनासक्ताम् धनजान्यत्रयकारीम् वर्जयेत्	स्मृ० त० खं० २	१५०
[यह अंश पूर्वांश की अपेक्षा कुछ परिमार्जित किया हुआ है]		
गर्भाधानवदुपेत ब्रह्मगर्भम् संदधाति···एतैरष्टाभिः संस्कारैर्गर्भ-धातात् पूतो भवति	स्मृ० त०	८५७
गुडतिलपुष्पमूलफलपक्वान्नविक्रये सोमपानम् सौम्यः कृच्छ्रः । लाक्षालवण···संवत्सरेण पूतो भवति । हीन मानोन्मान संकरसंकीर्ण विक्रये च	मिता०	४२६
" [द्रष्टव्य—पाठांतर अत्यधिक है]	अ० टी०	१११३
गुरुतल्पगो मृण्मयीमायसीम् वा स्त्रियाः प्रतिकृतिम् अग्नि-वर्णाम् कृत्वा तामालिंग्य पूतो भवति	अ० टी०	१०८३
गुरुणानुज्ञातोऽलंकारादीन् गृह्णीयात् नित्यमुत्तरकालम् यथार्थम् चेतान् विभ्रियात् । आमंत्र्य गृहानेत्य विधिवत् दारानागृह्याग्निनाधाय उञ्छशीलाभ्यामायाचितोपपन्नम् साधुभ्यो याचनात् सद्यो वा अयाचनात् देवपितृमनुष्यार्थे वृत्तादानम् कुर्वीत नात्मार्थे	गृ० र०	६
यजेत वनि वर्षासु श्यामाकैरापत्कल्पेन्यिः पुरातनैर्वा	स्मृ० त०	८१४–८१५
गोघ्नस्तच्चर्मोर्ध्वं बालम् परिधाय	मिता०	५१९
गोमयेन मृदा वा कमंडलुम् परिमृज्य पूर्ववदाचम्यादित्यम् सोममग्निम् वा निरीक्षेत	शु० कौ०	३३७
" ('आचम्य' के लिये 'उपस्पृश्य'; 'निरीक्षेत' के लिये 'वीक्षेत')	स्मृ० त०	३३२
ग्रामारण्यानाम् पशूनामश्नति । अव्यजमेषमहिषहरिण, खड्गरुरुवृषभऋश्यन्यंकुमहारण्यवासिनश्च, वाराहंस्तथा शशक-शल्यकमेधागोधाकूर्मातित्तिरिमयूर, वार्ध्रीणसिलावक कुकरकपिंजलान् सशलकांश्च मत्स्यान् यथोपन्नाम् भक्षयेत	अ० टी०	२४८
ग्राम्योपयोगे वानप्रस्थानाम् चांद्रायणम् । स्वधर्माचारनिय-मातिक्रमे फलचांद्रायणम्	अ० टी०	११८७

घ

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
चतुर्थेऽह्नि स्नातायां युग्मासु च चाक्रिकलोहकाराभक्ष्यान्न-भोजने त्रिरात्रमुपवसेत् । गोमूत्रम्···कृच्छ्रम् चरेत् । पुंश्चलीवेश्यान्न-भोजने सप्तरात्रम् । दीक्षिता···संकीर्णान्न भोजने च	अ० टी०	११७६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
चिकित्सकवृषल-प्रेष्य-कारुक-कितव-स्वक्रीडक…सूचका-निधामक कुशीलवादिन् दैवे पित्र्ये च वर्जयेत्	अ० टी०	४५३-४५४
चूडाकरणेन चतुर्थम् ।	ब्रा० स०	२०७
चैत्र,श्रावण,मार्गशीर्षाणामादि प्रतिपदो नित्या	स्मृ० त०	१५९
छ		
छागेन सर्वलोहेनानन्त्यम्	एम० एम०	१२८
ज		
जातमृते मृतजाते वा कुलस्य त्रिरात्रम्	हा० ल०	४१
,, ('कुलस्य' के लिये 'सकुलस्य')	शु० कौ०	२६०
,, ('कुलस्य त्रिरात्रम्' के लिये 'सपिंडानाम् दशाहः')	अ० टी०	३१० ।
,, ('दशाहः' के लिये 'दशाहम्')	स्मृ० चं० अ०	१२
,, (स्मृ० चं० अ० के समान)	मिता०	३१०
जाते कुमारे पितृणाम् मोदात् पुण्यम् तदहः तस्मात्तिल-पूर्ण-पात्राणि…संस्कार पुण्यार्थान् कुर्वन्ति छिन्नायामशौचम्	हा० ल०	२८
,, ('मोदात्' के लिये 'आमोदात्'; 'छेदात्' के लिये 'छेदनात्')	अ० टी०	२६
,, ('मोदात्' के लिये 'आमोदात्')	स्मृ० चं० सं०	५०
,, ('जाते' और 'कुमारे' के बीच 'च' विशेष; पाठ, तदहः पर्यंत)	च० चिं० ३।२	५८२
जायापत्योर्न विभागो विद्यते	स्मृ० चं० व्य०	६२४
जीवति पितरि पुत्राणामार्थदानविसर्गाक्षेपेषु न स्वातंत्र्यम् कामम् दीने प्रोषिते आर्तिम् गते वा ज्येष्ठोऽर्थांश्चिंतयेत्	स्मृ०त०खं० २	१३६-१७८
,, ('न स्वातंत्र्यम्' के लिये 'अस्वातंत्र्यम्'; 'कामम्…चिंतयेत्' नहीं है)	स्मृ० चं० व्य०	६००
,,	दा० भा०	२३
जीवन्नेव वा प्रविभाज्य वनमाश्रयेत् वृद्धाश्रमम् वा गच्छेत् स्वल्पेन वा संविभाज्य भूयिष्ठमादाय वसेत् यद्युपदिश्येत् पुनस्तेभ्यो गृह्णीयात्	स्मृ० त० खं० २	१६५
,,		

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
('प्रतिभज्य' के लिये 'विभज्य'; 'वसेत' और 'यद्युपं' के बीच 'स' विशेष; 'ओ दिश्येत्' के लिये 'उपदिश्येत')	स्मृ० चं० व्य०	६११
जीवित क्षेत्रज माथुरास्वातंत्र्याद्दते ह्यामुष्याणमनुप्तवीजत्वान्य-वीजम् क्षेत्रम् फलति नाक्षेत्रम् वीजम् रोहति उभयदर्शनादुभयोरपत्यम्	अ० टी०	७३४
ज्येष्ठेऽनिर्विष्टे कानीयान् निर्विशन् परिवेत्ता भवति परिविन्नो ज्येष्ठः परिवेदनीया परिदायी दाता परिकर्ता याजकः ते सर्वे पतिताः	स्मृ०त०खं०२	११६
" ('निर्विशन्; के लिये 'निर्विशमानः' ; 'परिविन्नो' के लिये 'परिवित्ति'; 'ओ वेदनीया' के लिये 'परिवेदना'; 'ओ कर्ता' के लिये 'परियष्टा'; 'इति' का लोप और 'संवत्सरम् प्राजापत्येन कृच्छ्रम् पावयेयुः' विशेष)	मिता०	४२१
" ('निर्विशन्' के लिये 'निर्विशमानः; 'भवति' लुप्त; 'परिविन्नो' के लिये 'परिवित्तो'; 'ओ वेदनीया' के लिये 'परिवेदनी' — 'ते' और 'सर्वे' विपर्यित; 'इति' लुप्त, और 'संवत्सरम् प्राजापत्येनकृच्छ्रेण परयेयुः। तामुपनयन् कानीयानन्यथा निर्विशेत, एवम् धर्मो न लुप्यते' विशेष पाठ)	अ० टी०	१११६
" ('ज्येष्ठे' और 'अनिर्विष्टे' के बीच 'तु' विशेष; 'याजक' के पूर्व 'परिवेत्ता' के लिये 'परिकर्ता'; 'ते' और 'सर्वे' विपर्यित)	गृ० र०	८७

त

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
तस्मात्······पूरयेत	वि० र०	२५२
तस्मादद्भिरभ्युदय दद्यादालभ्य चेति	स्मृ० त०	८६३
" ('अभ्युदय' के लिये 'अवोक्षैतद'' 'चेति' के लिये ' एव च')	स्मृ० तं० खं० २	३५४
तस्मान्नानृतम् वदेत। सोमविक्रय विवाह······अनिन्दितम् ग्लानित्वादिशून्यम्। स्वतस्यैष यदाह स्वागतमिति गृहदेवतास्तेन प्रीणाति।		
यत्पादावसेचनम् कुरुते पितृंस्तेन प्रीणाति। यत्······सर्वान् कामानवाप्नोति	ब्रा० स०	१५६–१५७
तिलैः श्राद्धम पुष्टिकामः कुर्यात···यवागुभिः सर्वकामाः	स्मृ० त०	२२७
तीर्थे द्रव्योत्पत्तौ च सत्यम् श्राद्धम् विधीयते	वी० के*	६८
सावित्र्याभिमंत्रितान् प्राश्नीयात	अ० टी०	१२४२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
त्रयाः स्नातका भवन्ति विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रत-स्नातकश्च	एम० एम०	७७
त्रयस्स्नातका भवन्ति विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रत-स्नातकश्च	स्मृ० चं० सं०	१७७
त्रिमुहूर्तापि कर्तव्या पूर्वा दर्शा च वहृचैः	स्मृ० त०	२६९
त्र्यावरम् 'शुद्धवतीभिः स्नात्वाघमर्षणाम् अंताले जपित्वा धौतमहतम् वासः परिधाय साम्ना सौम्येनादित्यमुपतिष्ठेत	मिता०	४८६
" ('अंतर्' नहीं है)	अ० टी०	१२४५

द

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
दंतधावनम् भक्षयेदविरक्तम्......अग्निहोत्रादि देवतार्थम् कुर्यात्	गृ० र०	१७८
दामो दया दानम् दृधव्रतत्वम् चेति	गृ० र०	४९८
दम्भच्छद्माभ्याम् परैस्तर्कितार्य दीयते प्रतिपद्य वा स आसुराः	गृ० र०	७२
दशमेन्द्वयरण्यम् गत्वा कृतश्मश्रुकर्माणः...स्वस्त्ययनादि धर्मार्थान् प्रवर्तेरन्	हा० ल०	१९४
दश सव्ये षट् पृष्ठे सप्तोभाभ्याम् तिसृभिः पादौ प्रक्षालयेत	अ० टी०	३६
दानानृतमिज्यानृतम् तपोऽनृतमिति त्रिविधम् कृतानृतम्। ...न मयादत्तमित्युच्यते	गृ० र०	५१०
देवता अधिगन्तुकाम आचामेत्	स्मृ० चं० आ०	२६२
देवाश्छंदासि वेदानृषीन् पुराणाचार्यान्...संवत्सरम् सावयवम्	व्रा० स०	१०६
देवाश्च पितरश्चैव तपो...दद्यालभ्य वा	चं० चिं० प्र०	९१-९२
दैवेनोत्तरेणान्नसंकरेण संस्कृतो...साग्निम् प्राहुः।...सायं प्रातरहरहः प्रापयति। तस्याहरहरग्निर्यथा सायम्...भवति तस्मान्नोपरिष्टाग्निहोत्री स्यात्	गृ० र०	११७-११८
द्विविधो ब्रह्मचारी उपकुर्वाणो नैष्ठिकश्च। तयो... ब्राह्मणः सायुज्यम् गच्छति	अ० टी०	७१-७२
" ('नैष्ठिकश्च' के आगे संपूर्ण अंश नहीं है)	स्मृ० चं० सं०	१७२
द्विविध एव संस्कारो भवति ब्राह्मो दैवश्च। गर्भाधानादि स्मार्तो ब्राह्मः। पाक यज्ञहविर्यज्ञ सोमश्चेति दैवः...दैवेनोत्तरेण संस्कृतो देवानाम् संमानताम् सलोकताम् सायुज्यम् गच्छति...	स्मृ० चं० सं०	३४
द्विविधास्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्यो वधश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनम्–अग्नीन्धनम्—विवाहः कार्यः	स्मृ० चं० सं०	६२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
द्विविधमपि गृहस्थम् प्राहुः शालीनम् यायावरम् च। शालीनात् पुण्यतरो यायावरः श्रेयान्।" स द्विविधो गृह्य-शालीनस्त्रेताशालीनश्चेति	गृ० र०	४१५
न		
न कार्ष्णायसे मृण्मये वाश्नीयात्	अ० टी०	१४८
न गोमूत्र पुरीषाभ्यामुद्विजेत् न पथि शिखाम् विसृजेत्	अ० टी०	२२५
न ग्रामाभिमुखम् प्रेतम् निर्हारेयुः	हा० ल०	११६
"		
('यदि वर्त्मनि ग्रामः स्यात्तदा तन्मध्ये न गन्तव्यम्', विशेष पाठ)	शु० कौ०	११२
"		
('निर्हारेयुः' नहीं है और बदले में 'न कुर्यादुदकम् ततः' पाठ है)	अ० टी०	८७०
न च तदश्नीयात् येनान्नेन देवपितृमनुष्य यज्ञान्न कुर्यात्	स्मृ० चं० आ०	६१५
न चत्वरोपद्वारयोर्मूत्रपुरीषे कुर्यात् न गोमये···न यज्ञीयानाम् वृक्षाणामधस्तात्	स्मृ० चं० आ०	२३८
"		
('न गोमये···गोष्ठे' नहीं है; 'पूर्णे' के लिये 'संपूर्णात्')	गृ० र०	१४०
न नग्नाम् स्त्रियाम् पुरुषं वा वीक्षेत नोदयास्तमयौ चन्द्रार्कौ	अ० टी०	१८०
"	गृ० र०	५६०
न पर्वसु सन्धि वेलयोर्वाह्येत्	स्मृ० चं० आ०	४५३
न प्रेतस्पर्शिनो ग्रामम् प्रविशेयुरानक्षत्रदर्शनात् रात्रौ चेदादित्यस्य ब्राह्मणानुमताद् वेति	शु० कौ०	११२
"		
('श्रो मतात्' के लिये 'ब्राह्मणानुमतया'; 'अशक्तौ ब्राह्मणानुमतिम् गृहीत्वा प्रविशेयुः' अधिक पाठ)	स्मृ० त० खं० २	३१६
न प्रोषितेऽलंकुर्यान्न वेणीम् मुञ्चेत्	स्मृ० चं० आ०	५६३
न रजस्वलयादत्तम्···न तैलदध्यनुपानम् न वा क्षुतान्नम् न जुगुप्सितम्	गृ० र०	३६३
नवसूतायाः पयः न पिबेत् सरजस्त्वात्	स्मृ० चं० आ०	२३३
न वटप्लक्षोदुम्बरनीय···(?) वाभक्षयेत्	स्मृ० त०	८२३
न शूद्राय वृत्तिम् प्राहुः त्रिवर्णशुश्रूषा वाऽस्य वृत्तिः। दानधर्म इत्येके	गृ० र०	४७६
न सन्ध्यायाम् शयीत नाशुचिर्नंनग्नः	ब्रा० स०	१८०
नाग्निवेलयोः प्रवसेत् पर्वसु च	अ० टी०	१२२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
नान्यवत्सायाः स्तेययोगात्। न'''एवम् न नवप्रसूतायाः सरजस्त्वात्	गृ० र०	३६६
नामगोत्रयोरुर्जम् वहन्तीरिति स्नान वस्त्रमपीड्य वा पितृंस्तर्पयेद्	आ० सू०	१०७
नाशिषः प्रतिगृह्णन्ति नान्नम् विकिरेन्न स्वधाम निनयेत्। पितृमन्त्र'''तानि मुक्त्वाभ्यो दद्यात्	अ० टी०	५२८
नाशुचि''''''इन्धीत	कृ० र०	६१
नास्तिको नास्तिकवृत्तिः	मिता०	४३६
निर्हृत्य संस्कर्ताऽपो गत्वा साव्यासौ तृप्यतामित्युदकाञ्जलिम् निनयति	स्मृ० चं० अ०	१००
" ('निर्हृत्य' के लिये 'निष्क्रम्य'; 'नि'''ति' के लिये 'निनयंति')	अ० टी०	८७४
नत्तरेदनुपस्पृश्य	गृ० र०	१६५
नोत्तरीयविपर्यासम् कुर्यात्	"	२२०
नोऽदङ्मुखोऽश्नीयात	स्मृ० त०	४३१
नोदङ्मुखः शयनासने वाश्नीयात। न काष्णायसे न मृत्पात्रे न भिन्नावकीर्णे	गृ० र०	३१२
प		
पञ्चतपोऽभ्रावकाश-जल-शयनान्यनुतिष्ठेयुः। ग्रीष्म वर्षा हेमन्तेषु	स्मृ० चं० अ०	१०८६
पतित दुष्क्रम्यः प्रतिगृहीतमरव्यर्यमयज्ञियम् न तेन पुण्यार्थमाप्नोति	स्मृ० त०	५४३
पतित पाषण्ड नास्तिक सम्भाषणानृताश्लील दिकमुपवासदिने विवर्जयेत्	स्मृ० त० खं० २	११
" ('नास्तिक' और 'संभाषण' के बीच 'आदि' अधिक; 'अश्लील' नहीं है; 'विवर्जयेत' के लिये 'वर्जनीयमिति')	चं० चिं० तृ० २	१६४
" (कुछ पाठांतर से युक्त)	चं० चिं०, द्वि० १	१००८
पतितयाजनात् पतितसंकरियाजनात् संकरित्वमुपैति। संकीर्णयाजनात् संकरैस्संक्रियते। शूद्रयाजनाज्जातितश्च्यवते	स्मृ० चं० आ०	४६१
पतितस्य तु कुमारीम् विवस्त्रामहोरात्रमुपोषिताम् प्रातः शुक्लेनाहतेन वाससाच्छादितम् नाहमेतेषाम् मम नैते इति त्रिरुच्चैरभिधानाम् तीर्थसंकटहेतोरुद्वहेत	स्मृ० चं० अ०	१०८६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
परशयनासन वस्त्राभरणानि मनसापि नाध्यवस्येत् आ पुनस्संस्कारात्। वथैकपात्रे मद्यमांसादीन्युच्छिष्ट निर्माल्ये चान्यत्र गुरुभर्तृसुतेभ्यः	स्मृ० चं० व्य०	५८६
पयो न पिवेत्	स्मृ० चं० आ०	२३४
परमान्नम् कृसरमांसम् व्यावकापूपान्नम् शस्कुलीने पाचयेदा-त्मार्थे। न वा प्लक्षोदुम्बरे दधित्थानीपा मातुङ्गानि भक्षयेत्	गृ० र०	३५७
पवित्रमसि द्रुपदादि वेति चाघमर्षणम् अन्तर्जले त्रिरावर्तयित्वा मुच्यते ब्रह्महत्यायाः	ब्रा० स०	६४
पातकातिपातकोपपातक-महापातका नामेकतमे संनिपाते अघमर्षणमेव त्रिजयेत्	मिता०	४७३
"		
('पातक'''पातक' के लिये 'पातकोपपातक'; 'वा', 'एव' और 'त्रिः' नहीं है)	ब्रा० स०	८६
पालङ्क्यानालिकापुती वार्ताकुमाषमसुराश्रिगुनृपमाषकृत कलवणानि श्राद्धे न दद्यात्	श्रा० कौ०	२३
"		
(यों संशोधित-पालङ्क्यापोतिकानालिकाकुसुम्भ सुरसा निष्पावचणकादि श्राद्धे न दद्यात्)	स्मृ० चं श्रा०	२१६
पिता ह्या'''पुत्रा इतरे ग्रहाः यथाग्रयणः स्क'''वा इतरेभ्यो गृह्णीयाद्वा	उ	२३४
पुंसवनात् पुंसीकरोति कामम् फलम्	ब्रा० स०	१८६
पुराण पंचविंशत्याम् मासे'''एष धर्मवृद्धैर्नानया धर्माच्च्यवते	गृ० र०	४४७
पूर्वं वृत्तेश्चाजीवन् शुष्ककाष्ठतृणविक्रयम् वा कुर्यात् गा एव रक्षेत्	अ० टी०	६३३
"		
(पूर्व'''जीवन्' के लिये 'पूर्ववृत्तिरवजीवन्'; 'तृण' नहीं है; 'वा'; 'कुर्यात्' के लिये 'कुर्वीत')	गृ० र०	५२०
पूर्वं वृत्तिषु वृत्यर्थम् ना सूर्यमध्वानम् गच्छेत्। न नियमवेलायाम् नानुदको नायज्ञोपवीती न वृषलैः सह	गृ० र०	५४८
पूर्वांशीरस्योर्नेंत्युद्धय ग्रहणे स्तैन्यम्	गृ० र०	५२०
प्रणवो व्याहृतयः सावित्री चेति सावित्रम् पवित्रमुयेन सर्वपापेभ्यो विमुच्यते शतं जप्त्वा मासात् पूतो भवति। दश सहस्राणि जप्त्वा सर्वपूतात्मा भवतीत्याहुः	अ० टी०	१२२१
प्रतिपन्मिश्रा भवेद् देवकार्ये पूज्यैव तुला मकर योगे भूत	च० चि० तृ० २	४५१
प्रयतत्वाद् वोपचितमशुभम् नाशयतीति	स्मृ० त०	४६७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
प्राङ्मुख आयुष्कामोऽश्नीयाद् यशोऽर्थी दक्षिणामुखः स्त्रीकामः प्रत्यङ्मुखः	स्मृ० चं० सं०	११५
प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा उपविश्यान्तर…पादावभ्युक्ष्य उपस्पृश्य प्रयातो भवति	गृ० र०	१५६
प्राशनेन तृतीयम्	ग्रा० स०	२०३
प्राङ्नाडिच्छेदात् संस्कार पुण्यार्थान् कुर्वन्ति नाड्याम तु छिन्नायामाशौचम्	च० चि० तृ० २	५८३
,, ('नाडी' के लिये 'नाभि'; 'छिन्नायाम्' लुप्त)	,,	७३६
प्रेतस्पृशो ग्रामम्—न प्रविशेयुरानक्षत्रदर्शनात् रात्रौ चेदादित्यस्य	ग्र० टी०	८८३
,, ('स्पर्श' के लिये 'स्पर्श'; 'ग्रमम् न' विपर्यित)	स्मृ० चं० ग्र०	६५
प्रेताभिभूतत्वाच्छावाशौचम् जाते वृद्धियोगेनयोगेन… कुलस्याशौचम् भवति	स्मृ० चं० ग्र०	११
,, ('वृद्धियोगेन' के लिये 'वृद्धियोगाद् भावत्वात्'; 'नाभ्य…च्छेद' के लिये 'बाला: कुलानुगतिच्छेदात् क्लेश)	,,	५८
ब		
ब्रह्मचर्यम् नाम दिव्य…समागमश्चासाम्	गृ० र०	५२४
ब्रह्मचारी सन्ध्यामुपास्योत्थितः सावित्र्याः सहस्रेणादित्यमुपतिष्ठेत, उत्क्रम्याग्नि कार्यम् व्रातपत्याहुत्याऽतीतम् संपाद्योपस्थितम् कुर्यात् । अह्न्यातीते पुनर्मनो व्रातपतिभ्याम् मेखलादंडाजिन यज्ञोपवीत कमंडलु नाशे च व्यव्याहुत्या यथार्थम् प्रतीयात्	ग्र० टी०	११४२
ब्रह्मण्यता…प्रामाण्यम्	कृ० र०	२६
,, ('श्रोवादिता' के लिये 'श्रोवादित्वम्' 'शरण्यता' और 'प्रशान्ति' (प्रणति' के लिये) के बीच 'कारुण्यम्' विशेष; 'एतस्य…प्रामाण्यम्' नहीं है)	एम० एम०	३०
ब्राह्मणागमनेऽर्घ्यादीनि दत्त्वाऽनुज्ञाप्याधीयीरन्	,,	१९२
ब्राह्मणानुमतात् वा संवत्सरम् गोमूत्र संस्कृतः संव्यवहार्यो भवति	,,	१०७२
ब्राह्मे मुहूर्ते प्रतिबुध्य स्वाध्यायमावर्तयन् न प्रति संविशेत्	स्मृ० चं० सं०	१३८
,,	च० चि० तृ०२	६९२
ब्राह्मेण तीर्थेन चाचामेत् । श्रावयन होमतर्पणानि प्राजा-		

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
॰त्येन कुर्यात्। मार्जनाचमन बलिकर्म-भोजनानि दैवेन। पित्र्यर्थानि पित्र्येण। प्रतिग्रहमाग्नेयेन	अ० टी०	२१
भ		
भक्ष्याणामाममांस रुधिर भक्षणे त्रिरात्रम् पंचगव्यम् च	प्रा० प्र०	६६
भूमावेव निदध्यान्नोपर्युपरि पात्राणि भैक्षमवोक्षितम् पर्यग्निकृतमादित्य दर्शितमनुज्ञातममृत सम्मितम् प्राहुस्तदश्नम् ब्रह्मचारी ब्रह्मसिद्धिमवाप्नोति	स्मृ० चं० सं०	११३
म		
मानस संकल्पयति वाचाभिलपति कर्मणा प्रतिपादयति	श्रा० कौ०	८६
” ('प्र…ति' के लिये 'चोपपादयति'	स्मृ० त० खं० २	५३३
मनिवासो गवादीनाम् प्रतिग्रहे सावित्र्यष्टौसहस्राम् जपेत्…शतसहस्रम् असत्प्रतिग्रहेष्विति	स्मृ० त० खं० २	३६१
” ('सावित्र्यष्ट'; के लिये 'सावित्र्याः' 'व्रतम्' के लिये 'व्रतः'; 'असत' के लिये 'अति')	अ० टं०	११५१
मनोव्रतपतीभिश्चतस्र आज्याहुतिर्भूत्वा पुनर्यथार्थम्…… सावित्र्यष्ट सहस्रम् जपेत्	मिता०	४४२
महापातकत्रिपातकानुपातकोपपातकानामेकतममेव सन्निपाते चाघमर्षणमेव त्रिर्जपेत्	मिता०	४७१
मातृ दुहितृ स्नुषा गमनामित्यति पातकानि…	अ० टी०	१०४८
मार्जनार्चन बलिकर्म भोजनानि दैवेन	स्मृ० त० खं० २	६१
” ('तीर्थेन' अधिक)	स्मृ० त०	३९६
” ('तीर्थेन कुर्यात्' अधिक)	स्मृ० चं० आ०	३५९,६१२
माष-मसूर-मधु-परान्न-मैथुनानि प्रत्यहम् वर्जयेत्। व्रतोपेतो ना काले वाचम् विसृजेत्। स्त्री–शूद्रोच्छिष्टाभिभाषणे आचामेत्	अ० टी०	१२३०
('मधु' और 'परान्न' के बीच 'मांस' अधिक; 'प्रत्यहम्' के लिये 'व्रत्येऽहि'; 'विसृजेत्' वर्जयेत्; 'स्त्री…आचमेत्' नहीं है)	स्मृ० चं० आ०	४३४
मिथ्या दृष्टिणाम् सहस्रम्	वि० र०	२५७
मुख्यम् श्राद्धम् मासि मासि अपर्याप्तावृत्तम् प्रति द्वादशाहेन वा भोज्या एकाहे द्वादशापि वा	अ० टी०	५४०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
मृद्दारु विडाला लातु शीर्णपर्णपात्रो वा पाणिपात्रो वा भिक्षार्थम् ग्रामम् प्रविशेन्नोच्छिष्टम् दद्यान्नोत्सृजेन्न कुत्सयेत। न चातिमात्रमश्नीयात	अ० टी०	६६४
य		
य एवम्'''अवाप्नुवन्ति	कु० र०	२१
य एवम् विद्वान् पितॄन् यजते वसवोरुद्रा आदित्याश्चास्य प्रीता भवन्ति	एम० एम०	१३०
यज्ञियाः समिध आहृत्य संमार्जनोलेपनोद्बोधन समूहन समिन्धन गच्छेदाहृत्य निवेदयेत	स्मृ० चं० सं०	१७०
यथा क्षारोपस्वेदचण्ड निर्णोदन प्रक्षालनादिभिर्वासांसि शुध्यन्ति एवम् तपोदान यज्ञैः पापकृतः शुद्धिमुपयान्ति	स्मृ० त०	४६७
यद् देवेभ्यो जुहोति देवलोकम् तेनाभियजति यत पितृभ्यः पितृलोकम् तेन यत'''दत्वोदीचे तागोदोहनात	स्मृ० चं० आ०	५६६
"		
('अभियजति' के लिये 'अभिजयति'; ''पितृभ्यः' के पहले 'यत' नहीं है; 'यत' के लिये 'यः' 'ऋषिलोकम्' के बाद 'तेन' नहीं है; 'भूतलोकम् तेन' के बाद का अंश नहीं है	गृ० र०	२७५
यद्यन्मीमांस्यम् स्यात्तदद्भिः स्पर्शाच्छुद्धम् भवति। उपघात "ब्राह्मणानाम् कल्पितवन्तः	एम० एम०	२०३
यद्यसमाप्तवेदाः कनीयांस्तदा सह वसेयुः	अ० टी०	७२२
यः समाप्य वेदानसमाप्य व्रतानि समावर्तते स व्रत स्नातकः। उभयम् समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्नातकः	एम० एम०	१३८
यान्य शयनान्य परिहार्यान्येके मन्यन्ते। तन्न वर्णविशेषाच्छुक्ल मलिन संसर्ग दर्शनात पापसंसर्ग संयोगाच्च तस्मात पृथक् शौचाच्छ्रेयांसः	एम० एम०	२५७
['वर्ण' के लिए 'वस्तु'; 'संसर्ग दर्शनात' के लिये 'संसर्गात' 'पाप'''संयोगाच्च' के लिये पापसंसर्गात'; 'पापसंसर्गात' के बाद 'व्याधिसंसर्गयोगाच्च' अधिक; 'तस्मात' के बाद 'च'; 'श्रेयांसः' के बाद 'इति' अधिक; वाक्य के बाद 'स्वानुपपत्तौ शुध्यन्तध्याय समापयन्ति' पाठ अधिक]	गृ० र०	५८८
र		
रजतस्तैन्ये चान्द्रायणमतिकृच्छ्रम् ताम्रे कार्ष्णयसे प्राजापत्यम्	अ० टी०	११११
राजाश्रयेण वधदण्डाभिघातभय विशेषात राक्षसः	गृ० र०	७७
रेतोरक्त गर्भोपघातः पंचगुणो जातकर्मणा प्रथममपोहति	आ० स०	१६४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
ल		
लोम्नामस्वादने हस्तदत्त भोजने अप्रक्षालित पाणिपादस्य भोजनेत्वाधिक भोजने……		
लोष्ट मृत्तिकादाने अहोरात्रा भोजनाच्छुद्धिः	अ० टी०	११७३
लोहमये मृण्मये वा पात्रे भुञ्जीत	स्मृ० चं० सं०	११६
लोष्ट्र विधिरुक्त द्रव्यालाभे पर्णनिषेधोऽप्यसाराच्छिद्यमानपर्ण-गोचरः	गृ० र०	१४३
व		
वन्धम् यथा शापितम् स्यात् तथैव प्रतिपालयेत्	स्मृ० चं० व्य०	३२१
वल्कल-शाण-चर्म-चीर-कुशमुञ्ज फलकवासः	एम० एम०	२१२
वाजि रासभ वधे कृच्छ्रम् चान्द्रायणम् चरेत् । वृथा पशुवधे प्राजापत्यम् त्रिरात्रोपोषिता । मर्कटजालपादबर्हिणाम् एकतम वधे ब्राह्मणाय ग्राम् दद्यात्	अ० टी०	११३४
वास्तुपाल भूतेभ्यो वलिरहरणम् (वलिहरणं ?) भूत यज्ञाः	स्मृ० त०	४२२
"		
('भूतयज्ञः' के लिये 'अहुतः')	स्मृ० चं० आ०	५६६
विद्यातपोऽधिकानाम् च प्रथमानमिष्यते	आ० कौ०	११२
विभजिष्यमाण एकविंशम् कानीनाय दद्यात् विंशम्…… पुत्रिकापुत्रायेतरानौरसाय	ह० गौ०	२३१
"	उ	२३८
वृथा पशुघाते प्राजापत्यम्	स्मृ० त०	५२०
वेदो वै विद्या ब्राह्मणस्य । तत् परिज्ञार्थमङ्गानि	स्मृ० चं० सं०	१३०
श		
शैय्यारूढा पादुकोपानदारोपिता पादोच्छिष्टा…निमन्त्रिते वदान्यत्र भोजने त्रिरात्रम्	अ० टी०	११८८
शशक शल्यक मेधा गोधा कूर्म…सशल्कांश्च मत्स्यान् न्यायोपपन्नान् भक्षयेत्	गृ० र०	३७७
शालीनादात्मवृत्तियापनद्वारा इति यायावरः । दश दश… कृतप्रस्थानो कृतप्रस्थानश्चेति	गृ० र०	४१६
शावान्तः शावमाशौचम् पूर्वाशौचेन शुध्यन्ति । लघुना लघु शुध्येत्तु	अ० टी०	८६८
शिष्टाः…प्रतिपत्तव्याः	कृ० र०	३३
शुना दष्टस्त्र्यहमेकाहारः समुद्रगाम् नदीम् गत्वा…गोमायु मार्जार सर्प नकुल मूषकै र्दष्टानाम्	अ० टी०	११३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
शुष्क काष्ठेन वा मृजीत	गृ० र०	१४३
शूद्रयाजको गर्हितम् द्रव्यम् नागह्रदे प्रक्षिप्य ब्राह्मणानुपेत्य ब्रूयात् त्रायन्तु माम् भवन्तो वर्ण साम्यम्	स्मृ० चं० आ०	४६२
शौचम् नाम धर्मादिपथो ब्रह्मायतनम् स्त्रियोऽधिवासो मानसः प्रसादनम्…तच्च शौचमुपरिष्टाद् वक्ष्यामः	गृ० र०	५२२
श्रेयसः…दहेत्	वि० र०	३६६
श्व गोमायु मार्जार सर्प नकुल मूषिकानुवृत्तावेतेषामेवाधीयानाम् अन्तरागमने त्रिरात्रम्…अवासः अहम् च विनिवसेत्	च० चिं० तृ० २	७६६
श्वित्र कुष्ठ्युदरि यक्ष्मा मयाव्यनार्षेयमब्रह्मसमानार्षेयम् चेत्येतानि न ज्ञायन्ते ताम् पुत्रिकाशंकया न विवाहेत्	गृ० र०	२३-२४
श्वित्र कुष्ठ्युदरि यक्ष्मा…अल्पायुर…वर्जनीयानि भवन्ति । कुलानु रूपाः प्रजाः…तस्मात् कुलनक्षत्र विज्ञानोपन्नाम वरयेत्	अ० टी०	८४-८५
” (बहुतेरे पाठांतरों से युक्त)	उ	२२१
श्वोभूते श्राद्धकर्मणि दक्षिणाम् दिशम् गत्वा दक्षिणा प्रवणान् समूलान् कुशानाहरेदन्य परिगृहीताचापः	आ० कौ०	४६
” (इसमें केवल प्रथम दो शब्द हैं)	”	४६
श्वोभूतो एकोद्दिष्टम् कुर्यात्	शु० कौ०	७४
ष		
षट् पृष्ठतः	गृ० र०	१४८
षड् वर्षाणि राजन्ये प्राकृतम् ब्रह्मचर्यम् वैश्ये त्रीणि	इ० गौ०	१७७
” ('वैश्ये त्रीणि' विपर्यित ; श्राद्धम् शूद्रे क्षत्रियवत् ब्राह्मणीषु । वैश्यात् क्षत्रियाणाम् शूद्रवच्च वैश्याणाम् शूद्रम् हत्वा नव मासान् अधिक पाठ)	अ० टी०	११२६
स		
संवत्सरोत्सन्नेऽग्निहोत्रे चान्द्रायणम् कृत्वा पुनरादध्यात् । द्विवर्षोत्सन्ने सोमायनचान्द्रायणे कुर्यात् । त्रिवर्षोत्सन्ने संवत्सरम् कृच्छ्रम् अभ्यस्य पुनरादध्यात्	अ० टी०	११५४
सतस्य स्वागतमर्घ्यम् आचमनम् आसनम् च प्रदद्यात्	स्मृ० चं० आ०	५९०
सत्यवादी सदा तुष्टः ऋतु कालाभिगामी नित्यम् स्नानशीलः…गृहस्थो भवति	गृ० र०	४६४
सन्धिनी वृषयन्ती तस्याः पयो न पिबेत् तद्वत्सती भवति	स्मृ० चं० आ०	२३३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
” ['शन्धिनी' के लिये 'स्यन्दिनी'; 'तद्‍...भवति' के लिये 'ऋतुंमद्भवति']	अ० टी०	२४६
सप्त-रात्र्यादित्येके दश रात्रादित्यपरे मासेनाप्युषम भवतीति धर्मविदः	एम० एम०	१७६
समानतो मृते रिक्थविभागः	दा० भा०	६५
समेनैव मृते रिक्थ विभागः	स्मृ० चं० व्य०	६१४
सर्ववाससाम् सावनेन शुद्धिः	अ० टी०	२६२
सर्वा अस्य देवता गृहानभ्यागच्छन्ति यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणे...... यदेनम् यान्तमनुयान्तीति श्रेयस्यम् ब्रह्मवर्चसम् तेन सर्वान् कामनमवाप्नोति	गृ० र०	२६१
सर्वाभक्ष्य भक्षणम् भोजनामपेयपानमायाज्य याजनम्... यस्मिन् वयसि शारीर वाचिक मानसान्याप्नोति	अ० टी०	६६८
” (अनेक पाठांतरों से युक्त)	गृ० र०	५६७-६८
सशल्कान् मत्स्यान्न्यायोपपन्नान् भक्षयेत्	एम० एम०	१८१
सहस्रनम् लाङ्गलम् तद्ब्राह्मणे न विद्यते	गृ० र०	४२६
सायम्संध्यास्तनिते रात्रौ नाधीयीरन् प्रातः सन्ध्यास्तनिते त्वहो रात्रम्	च० चिं० तृ० २	७६४
” ['रात्रौ' के लिये 'रात्रिम्'; 'तु' के लिये 'च']	अ० टी०	१८८
सावित्र्याऽभिमन्त्रितमुदकम् पुष्पमिश्रम्	स्मृ० चं० अ०	३६२
सुप्रक्षालित चरणः सर्वतो रक्षाम् कृत्वा उदक पूर्ण घटादि... रात्रिसूक्तम् जप्त्वा विष्णुम् नमस्कृत्य...दक्षिणशिराः स्वपेत्	स्मृ० चं० आ०	६२८
सुरापोऽग्नि वर्णाम् सुराम् पीत्वा घृतमयः पयो वा हिरण्यम् वा वितप्य मृत्युना पूतो भवति	अ० टी०	१०७१
स्वरणासन पिण्डेषु षट् कुशान् परिवर्जयेत् स्त्रीष्ववकीर्णी... चतुष्पथे गर्दभम् पशुमालभेत पाकयज्ञ धर्मेण। भूमौ पशु पुरोडाश-श्रपणप्स्ववदानैः प्रचार्याग्निम् जुहोति...काम कामाय स्वाहा	उ	१५०
स्थितिरविच्छिन्नवेद वेदिता अयोनि संकारिता अविच्छिन्नार्षेयत्वम् वा इति कुलगुणाः। वेदांगानि धर्माध्यात्मज्ञानम् स्थितिश्चेति षड्विधम् श्रुतम्	गृ० र०	४६६
स्नात्वा वाससी परिध्याय	स्मृ० त० खं० २	३०५
स्नापयित्वाऽनडुहोऽलङ्कृत्य ब्राह्मणान् भोजयेत्	स्मृ० चं० आ०	५५४
स्वयम् कन्या वरयते स गान्धर्वः	गृ० र०	७६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
स्व शिरसा यत्र समादाय गोभ्यो दद्यात् यदि तः गृह्णीयुरथैनम् प्रावर्तयेयुः	स्मृ० त०	४७२
" ['प्र···युः' के लिये 'प्रतिगृह्णीयुः'; 'प्र···युः' के लिये 'प्रवर्तयेयुः']	अ० टी०	१२०६
" [प्र···युः' के लिये 'प्रवर्तयेयुः ;]	मिता०	४६६
स्वानुपपत्तौ शुच्यन्तर्धाय समामनन्ति संस्पर्शो सचैलम् स्नानमेवम् ह्याह । आसनम् शयनम् यानमन्तर्धाय समाचरेत	स्मृ० चं० आ०	२५८

ह

हतवत्सायाः शोकाविष्टत्वात् नव सूतायास्स रजष्टत्वात्	स्मृ० चं० सं०	२३४
हयगजरथचैत्यवृन्त विशेषमारोहणफल-चयन-संधि-सर्पण कूपावरोपण महानद्यार्णव प्रतरण महासाहसानि वर्जयेत	अ० टी०	६४
" ('विशेषम्' के लिये 'विषम्'; 'फलचयन' के लिये 'प्रचयने'; 'संधि' के लिये 'संसिद्धि'; 'कूपा···ण' नहीं है; 'महा···सानि' के लिये 'महासाहस विरुद्धानि')	स्मृ० चं० सं०	१२६
हरिकरमल्दनुराधा विधातृ पौष्णादिति द्वयोत्तरभे भोजनविधि शैय्यासने भोगारम्भो हितार्थाय	स्मृ० त०	६७२
हस्तदत्त भोजने अब्राह्मण समीपे भोजने दुष्टपंक्ति भोजने पंक्त्यग्रतो भोजनेऽभ्यक्त मूत्र पुरीष करणे मृत सूतक शूद्रान्न भोजने शूद्रैः सह स्वप्ने त्रिरात्रमभोजनम्	मिता	४५८

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षा

हिंदी को मराठी संतों की देन

'विहार राष्ट्रभाषा परिषद्' (पटना) की ओर से इधर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। इनमें से कई विविध खोजों से संबंध रखते हैं और आलोचनात्मक हैं, कुछ अनुवादित हैं, कुछ संग्रहग्रंथ हैं और शेष वहाँ की 'भाषणमाला' के 'पुष्प' रूप हैं। समालोच्य ग्रंथ के लिये कहा गया है — 'इस ग्रंथ में परिषद् के पाँचवें वर्ष की भाषणमाला प्रकाशित है' जिसका 'आयोजन विहार-हिंदी-साहित्य-संमेलन के सभाभवन में सन् १९५५ ई० के २२-२३ मार्च को हुआ था' तथा इसके भाषणकर्ता एवं ग्रंथकार आचार्य डा० विनयमोहन शर्मा हैं। इस भाषण का विषय शर्मा जी को अत्यंत प्रिय रहा है और जैसा इसकी 'भूमिका' से भी स्पष्ट है, इसके अध्ययन की ओर वे सदा प्रयत्नशील भी रहे हैं। सन् १९४६ ई० में जब नागपूर में अखिल भारतीय प्राच्य-विद्या-परिषद् का अधिवेशन हो रहा था, उन्होंने नामदेव की हिंदी कविता पर एक शोध निबंध पढ़ा था और तब से वे बराबर 'मराठी संतों और उनकी हिंदी रचना' पर सामग्री संचित कर उसपर मनन-चिंतन करते आए। इसकी सामग्री जुटाने के लिये उन्होंने अनेक सांप्रदायिक क्षेत्रों, साहित्यसंस्थाओं और शोधकार्य-प्रेमियों से संपर्क स्थापित किया, बहुत सी अप्रकाशित सामग्रियों की छानबीन की तथा अपने इस अनुसंधानकार्य को, भाषण हो जाने के पीछे तक भी जारी रखा। फलतः इस ग्रंथ के भूमिकाभाग में भी उन्होंने १९ ऐसे संत कवियों की हिंदी रचनाएँ उद्धृत की हैं जिनकी चर्चा इस भाषण के अवसर पर नहीं की जा सकी थी तथा ११ ऐसे अन्य लोगों के विषय में भी लिखा है जिनकी कविताओं के अतिरिक्त उन्हें इधर कुछ परिचयात्मक सामग्री भी उपलब्ध हो गई है।

ग्रंथ का मूल अंश केवल २३२ पृष्ठों का है जिनके अंतर्गत मुख्य विषय का निरूपण, पाँच अध्यायों द्वारा किया गया है और उनके अनंतर इसके ४७२वें पृष्ठ तक, परिशिष्ट (क) के रूप में प्रमुख महाराष्ट्र संतों की हिंदी वाणियों का एक संग्रह भी जोड़ दिया गया है। यह संग्रह बहुत बड़े काम का है क्योंकि इसमें न केवल संत नामदेव की ही प्रायः सभी उपलब्ध रचनाएँ आ गई जान पड़ती हैं, अपितु यहाँ हमें ईस्वी सन् की तेरहवीं शताब्दी से लेकर उसकी उन्नीसवीं शताब्दी तक वाले अनेक संतों की ऐसी वाणियाँ भी मिल जाती हैं जिनका अभी तक हमें कुछ भी पता नहीं था किंतु जो कई दृष्टियों से बहुत उपादेय भी सिद्ध हो सकती हैं। इनके रचयिताओं का परिचय पुस्तक के मूल अंश में आया है जहाँ पर अन्य बहुत से संतों की भी चर्चा की गई है तथा जहाँ उनकी वाणियों को भी उद्धृत किया गया है। इन रचनाओं की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक ने कहीं समुचित प्रकाश नहीं डाला है और न इन्हें देखने मात्र से हम इनके पाठों के विषय में कोई अंतिम निर्णय ही कर सकते हैं अथवा इनको किसी प्रकार संदेह से सर्वथा परे ही ठहरा सकते हैं। फिर भी इनके मूल्य में कोई कमी नहीं आती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी भाषा के दक्षिणी रूप एवं महाराष्ट्रीय भक्तिभावना के स्वरूप के विचार से भी हम इन्हें पूरा महत्व दे सकते हैं। संगृहीत रचनाओं के कठिन स्थलों का स्पष्टीकरण करने के लिए उनके नीचे पाद टिप्पणी भी दे दी गई मिलती है जिससे पाठक को उन्हें समझने में सहायता होगी।

ग्रंथ के प्रथम दो अध्यायों के शीर्षक क्रमशः 'हिंदी और मराठी का संबंध' तथा 'दक्षिणापथ में हिंदी-संचार' हैं जिनमें से पहले के नीचे प्रधानतः भाषाविज्ञान के दृष्टिकोण से विचार किया गया है और दूसरा हिंदी भाषा के दक्षिण की ओर प्रचलित होने की पृष्ठभूमि से संबंधित है। प्रथम अध्याय का आरंभ करते समय विद्वान लेखक ने बतलाया है, 'समस्त भारतवर्ष में महाराष्ट्र ही ऐसा क्षेत्र है जहाँ अनेक संतों की मराठी के साथ साथ हिंदी रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं' जो कथन कदाचित् इस आशय को भी प्रकट नहीं करता कि ऐसी रचनाएँ अन्यत्र उपलब्ध हो नहीं हैं, क्योंकि गुजरात के ही अंतर्गत अनेक ऐसे संत हो चुके हैं जिनकी गुजराती के साथ साथ हिंदी रचनाएँ भी मिलती हैं तथा उनकी वाणियों के विषय में इधर कुछ दिनों से सफल प्रयत्न भी होते आए हैं तथा यही बात न्यूनाधिक कतिपय अन्य क्षेत्रों के विषय में भी कही जा सकती है। स्वयं शर्मा जी ने भी कुछ ऐसी रचनाएँ ढूँढ़ निकाली हैं और जहाँ तक पता है उन्होंने इस प्रकार के शोधकार्य को अभी तक बंद भी नहीं किया है। इस अध्याय के अंतर्गत आगे मराठी भाषा तथा उसकी प्रमुख विशेषताओं की भी चर्चा की गई है और उसका हिंदी के प्रति निकट संबंध सिद्ध करने के उद्देश्य से, दोनों भाषाओं की कुछ सामान्य प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए अंत में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि ये दोनों ही आर्य परिवार की भाषाएँ हैं, दोनों के उच्चारण, प्रत्यय, प्रक्रिया एवं शब्दनिधि में पर्याप्त साम्य है तथा मराठी पश्चिमी हिंदी की ओर बहुत झुकती जान पड़ती है और उसने दक्खिनी, नागपुरी, हलबी और छत्तीसगढ़ी हिंदी को प्रभावित भी किया है। शर्मा जी ने इसी प्रसंग में हलबी तथा नागपुरी हिंदी की कुछ विशेषताओं की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है जिसका कारण संभवतः यही हो सकता है कि ये दोनों मराठी द्वारा अधिक प्रभावित हैं तथा इस प्रकार हमें उनके विषय में विशेष परिचय भी मिल सकता है। परंतु, मराठी संतों की उपलब्ध वाणियों की दृष्टि से, उनके विषय में इतना विस्तार देना उतना महत्व नहीं रखता और न, कम से कम, उनके केवल वर्तमान रूपों की ही अधिक चर्चा कर देना, मुख्य वर्ण्य-विषय की बातों को ध्यान में रखते हुए कभी सुसंगत कहा जा सकता है। इस अध्याय के अंतर्गत सिक्खों के गुरु गोविंद साहब के 'आदिग्रंथ' (पृ० २१) जैसे कथन तथा कबीर को रचना के रूप में 'कनवा मुड़ाय जोगी जटवा बढ़ौले' आदि (पृष्ठ २५) के उद्धरण भी हमें निर्दोष नहीं जान पड़ते क्योंकि 'आदि ग्रंथ' गुरु गोविंदसिंह के बहुत पहले ही संगृहीत हो चुका था। तथा उसमें उनकी रचनाओं तक का अभाव है और उनकी अपनी कृतियों का एक पृथक् संग्रह 'दसमग्रंथ' नाम से प्रसिद्ध भी चला आता है। इसी प्रकार कबीर की रचना मानकर उद्धृत किया गया, 'कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढ़ोले' इत्यादि अंश भी, जहाँ तक पता है, किसी प्रामाणिक संग्रह में नहीं मिलता। जहाँ तक 'दक्षिण में हिंदी प्रचार' वाले दूसरे अध्याय का प्रश्न है, यह प्रथम की अपेक्षा कहीं अधिक रोचक, सुसंगत एवं सुव्यवस्थित है। विद्वान लेखक ने इसमें महाराष्ट्र की ओर हिंदी के प्रचलित होने के विविध राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक कारणों का दिग्दर्शन कराकर इस संबंध में उपलब्ध कतिपय तथ्यों की एक तर्कसंगत परीक्षा भी की है और यह निष्कर्ष निकाला है कि 'दक्षिण में हिंदी का संचार आर्यों के दक्षिणप्रवेश का स्वाभाविक परिणाम है।'

ग्रंथ के तीसरे अध्याय का शीर्षक 'महाराष्ट्र के प्रमुख संत संप्रदाय' है और इसमें वहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के पञ्च विशिष्ट संप्रदायों का परिचय दिया गया है। किंतु ऐसा करते समय अध्याय के आरंभ में ही 'संत' शब्द के अर्थ की व्यापकता पर भी विचार किया गया है जो यहाँ पर उल्लेखनीय है। 'संत' शब्द का प्रयोग हिंदी वाङ्मय के अंतर्गत विशेषतः 'निर्गुणवादी' कहे जानेवाले कबीर आदि के लिए ही किया जाता है। जिस 'परिपाटी' को शर्मा जी ने 'व्यावहारिक मात्र' ठहराया है और कहा है कि 'परमसत्य का साधक चाहे अपने पिंड में उसके दर्शन करे चाहे पिंड के बाहर सृष्टि के अणु अणु में उसका स्पंदन अनुभव करे 'संत' ही है' तथा इस विषय पर उन्होंने कुछ और भी प्रकाश डाला है। उन्हें सगुणवादियों के लिए 'भक्त' शब्द का प्रयोग करना तथा उसी प्रकार निर्गुणवादियों के लिए 'संत' शब्द का व्यवहार करना सगुण एवं निर्गुण के बीच 'विभाजक रेखा खींचना' जैसा लगता है जो उचित नहीं है। परंतु जान पड़ता है कि शर्माजी ने यहाँ पर जितना ध्यान परमात्मतत्त्व के निर्गुण एवं सगुण रूपों की ओर दिया है उतना संत एवं भक्त कहे जानेवाले साधकों की वास्तविक स्थिति और उनके जीवन के प्रति अपने अपने भिन्न दृष्टिकोणों पर पूरा विचार नहीं किया है। वास्तव में जो साधक परमात्मतत्व का साक्षात्कार पिंड के भीतर करता है, वह उसके साथ अपने को तद्रूप बना डालने का भी दम भरा करता है जिस कारण उसके लिए किसी 'बाहर' अथवा 'भीतर' का कोई वैसा भेद ही नहीं रह जाता। 'सत्' शब्द जिसका 'संत' केवल एक अन्यतम रूपमात्र है, वस्तुतः 'अस्तित्व' मात्र का बोधक है जिस कारण 'संत' कहे जानेवाले को 'अखंड सत्य में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गया' भी कहा जा सकता है। परंतु, 'भक्त' कहे जानेवाले साधकों के विषय में भी ठीक यही बात नहीं कही जा सकती क्योंकि (इस शब्द का व्युत्पत्तिमूलक आधार भज्=भाग लेना मात्र होने के कारण) इसके अर्थ की व्यापकता कुछ कम हो जाती जान पड़ती है। फलतः संतों की 'दशा' जहाँ उनकी एक ऐसी स्थिति की ओर संकेत करती है जिसमें उनके जीवन का पूरा कायापलट हो गया रहता है और वे परमात्मा के प्रति किसी विलक्षण अभेदभाव का भी अनुभव करते हैं, वहाँ भक्तों की 'दशा' हमें उनकी केवल उस विशिष्ट स्थिति का ही परिचय करा पाती है जिसमें वे भगवान् के अलौकिक ऐश्वर्य में अपना भाग लेने के उपयुक्त अधिकारी बन गए सिद्ध होते हैं, किंतु फिर भी वे उसके सान्निध्य में रहकर ही तृप्ति का अनुभव कर लेते है और उससे पृथक् बने रहते हुए भी वहाँ से हटने का नाम नहीं लेते। अतएव, संत जहाँ अपने इष्ट के अस्तित्व में अपने को लीन कर देने पर भी संसार में बने रहने से कभी नहीं घबड़ाता वहाँ भक्त अपने भगवान् के निकटवर्ती होने का सुख छोड़कर फिर जगत के जंजाल में पड़ना कभी पसंद नहीं करता और वह अधिकतर निवृत्तिमार्गी हुआ करता है, जहाँ संत प्रवृत्तिमार्गी भी हो सकता है। संभवतः इसी कारण साधारण बोलचाल में भी 'संत' शब्द का प्रयोग जहाँ केवल विशुद्धाचरणवाले दयालु एवं परोपकारी महापुरुषों के लिए भी होता है वहाँ 'भक्त' अधिकतर उन्हें ही कहा करते हैं जो सदा भगवद्भजन एवं पूजन अर्चन में लीन रहा करते हैं तथा जिन्हें भजनानंदी होने के कारण जगत्संबंधी व्यवहारों के लिए अवकाश नहीं रहता। शर्माजी ने जिस 'विभाजक रेखा' का उल्लेख किया है वह इन जैसे कारणों से कभी निराधार खींची गई भी नहीं कही जा सकती; वह तर्कसंगत हो सकती है। यह अवश्य है कि केवल मराठी में ही प्रस्तुत, गुजराती आदि कतिपय अन्य भाषाओं के वाङ्मय में भी, इस बात की ओर आवश्यक ध्यान दिया गया नहीं दीख पड़ता और मराठी के एक लेखक मा० कृ० पारधी ने तो अपने 'मराठी व हिंदी संत' शीर्षक एक लेख में [१] हिंदी-

१ दे० 'सत्यकथा', मार्च, १९५३ ई० वाला अंक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषियों द्वारा किये जानेवाले ऐसे प्रयोगों को निरा 'हिंदी चा पंक्तिप्रपंच' अर्थात् 'हिंदी का पंक्तिभेद' तक ठहराने की चेष्टा की है। किंतु, केवल इसी कारण हमारा उनकी मान्यता को, बिना उसपर पूर्ण विचार किये, स्वीकार कर लेना भी कभी उचित नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि उनके यहाँ वाले साधकों की 'निर्गुण' एवं 'सगुण' की उपासनाओं में कोई स्पष्ट भेद न लक्षित होता हो तथा वहाँ 'संत' शब्द का अर्थ रूढ़िगत सा भी हो गया हो परंतु उपर्युक्त दृष्टि में विचार करने पर हमें शर्मा जी की दी हुई परिभाषा—'जो आत्मोन्नति सहित परमात्मा के मिलनभाव को साध्य मानकर, लोकमंगल की कामना करता है, उसे हम 'संत' कहते हैं' उतनी उपयुक्त नहीं कही जा सकती, यद्यपि इससे श्रीपारधी जैसे मराठी लेखकों को अपने यहाँ की विशेष परिस्थितियों तथा प्रचलित परंपराओं के आधार पर निश्चित की गई किसी धारणा के लिए कुछ समर्थन अवश्य मिल जाता है। अस्तु, विद्वान् लेखक ने इस अध्याय के अंतर्गत महाराष्ट्र में प्रचलित नाथ संप्रदाय, महानुभाव संप्रदाय, वारकरी संप्रदाय, दत्त संप्रदाय तथा समर्थ संप्रदाय का संक्षिप्त, किंतु सुंदर परिचय दिया है।

समालोच्य ग्रंथ का चौथा अध्याय सबसे बड़ा है और यह उसके कलेवर के कदाचित् आधे से अधिक भाग तक विस्तृत है। इसका प्रमुख शीर्षक 'मराठी संतों की हिंदी वाणी : संतपरिचय और वाणीविवेचन' है किंतु, । इसे चार खंडों में विभाजित कर, उन्हें क्रमशः (१) मुसलमान आक्रमण के पूर्व (यादवकालीन) मराठी संतों की हिंदी वाणी' (२) मुसलमान आक्रमण के पश्चात् (मुसलमान कालीन) 'मराठी संतों की हिंदी वाणी की विवेचना' (३) मुसलमान वर्चस्व के ह्रासोपरान्त (शिवा जी कालीन) 'मराठी संतों की हिंदी वाणी' तथा (४) पेशवाकालीन और पेशवाओं के पश्चात् नाम दिये गये हैं और तदनुसार उनमें मूल विषय की विस्तृत चर्चा भी की गई है। 'संतों की वाणियों के अध्ययन का विभाजन' यहाँ पर इस बात को भी ध्यान में रखकर किया गया है कि ये लोग प्रायः 'समन्वयवादी' हुआ करते हैं जिस कारण इन्हें पंथविशेष के अंतर्गत ही मानकर चलना कभी 'आसान' नहीं कहा जा सकता और इसी कारण कदाचित् इनमें विशेष अंतर ढूढ़ने का वैसा प्रयास भी नहीं मिलता दीख पड़ता। जो हो, इस अध्यायवाले प्रथम खंड के अंतर्गत की गई चक्रधर, महदापिसा, दामोदर पंडित, ज्ञानेश्वर एवं मुक्ताबाई की उपलब्ध हिंदी रचनाओं की चर्चा आ जाने से न केवल यही स्पष्ट हो जाता है कि 'दक्षिण में हिंदी का संचार आर्यों के दक्षिणप्रवेश का स्वाभाविक परिणाम है, प्रत्युत यह भी कि तुर्कों के महाराष्ट्र में प्रवेश के पूर्व शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न हिंदी के ब्रज और खड़ी बोली के रूप वहाँ विद्यमान थे और मुसलमानों के प्रवेश के पश्चात उनमें विदेशी शब्दों का आगमन होने लगा' तथा ऐसे शब्दों की प्रचुरता ने ही उसे पीछे 'उर्दू' रूप भी दे डाला।

इस अध्याय के द्वितीय खंड में नामदेव, सेनानाई, भानुदास एवं एकनाथ जैसे संतों की चर्चा आती है और इसी प्रकार इसके तृतीय खंड के अंतर्गत संत तुकाराम, समर्थ रामदास एवं केशवस्वामी आदि के परिचयात्मक उल्लेख किये गए हैं। संत नामदेव इनमें स्वभावतः सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं और इसी कारण, उनके विषय में कुछ अधिक विस्तार के साथ कहा भी गया है। उनके जीवन्चरित, जीवनकाल, सिद्धांत, भाषा एवं शब्दप्रयोग तथा उनकी रचनाओं में पाये जानेवाले काव्यतत्त्व पर भी यहाँ पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। विद्वान लेखक ने इसी प्रसंग में 'नामदेव एवं कबीर' शीर्षक देकर एक रोचक प्रश्न छेड़ दिया है जिसकी ओर हमारा ध्यान जाना स्वाभाविक है। प्रश्न है 'नामदेव कबीर से पूर्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए, उन्होंने निर्गुण भक्ति का उत्तर में वर्षों प्रचार किया। फिर भी उन्हें उस पंथ का प्रवर्तक मानने में विद्वानों को क्यों झिझक होती है ?' और इस प्रसंग में स्व० डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल तथा स्व० आचार्य रामचंद्र शुक्ल के मतों का हवाला भी दिया गया है। इन दोनों विद्वानों में से डा० बडथ्वाल ने 'कबीर के पूर्ववर्ती' जयदेव, नामदेव आदि संत कवियों को 'सगुण और निर्गुण संप्रदायों के बीच की कड़ी' समझा था तथा आचार्य शुक्ल ने 'नामदेव की रचना के आधार पर' यह निष्कर्ष निकाला था कि 'निर्गुण पंथ के लिए मार्ग दिखलाने वाले भी सगुणोपासक दोरंगी भक्त थे जो कभी कभी मौज में आकर ब्रह्मज्ञान का उपदेश भी करते थे।' किंतु इन संकेतों की ओर यहाँ पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। उक्त प्रश्न का उत्तर ढूढ़ने का प्रयत्न केवल मेरे इस कथन में ही किया गया है कि 'नामदेव में उत्तरी भारत के संत मत की सारी विशेषताएँ लक्षित नहीं होतीं और वे प्रधानतः अपने क्षेत्रतक सीमित रह जाते हैं और फिर इसकी आलोचना करते हुए, इसके 'संशोधन' की भी चेष्टा की गई है। शर्माजी ने इस संबंध में, मेरे एक अन्य कथन को भी उद्धृत किया है जो इस प्रकार है—'माइया मोहिया' शब्दों से यह भी ध्वनि निकलती है कि संत नामदेव को अपने गार्हस्थ्य जीवन के प्रति कदाचित पूर्ण विरक्ति कभी भी नहीं रही।' और उन्होंने इस पर भी विचार करने की कृपा की है। शर्माजी का इस संबंध में कहना है कि 'चतुर्वेदी जी के निष्कर्षों में संशोधन की आवश्यकता हैं। वे तथ्य को ठीक ठीक प्रकट नहीं करते।'

शर्माजी ने अपने उक्त निर्णय का आधार, संयोगवश संतमत की उन कतिपय विशेषताओं को भी स्वीकार किया है जिनकी चर्चा मेरी पुस्तक 'उत्तरीभारत की संतपरंपरा' में की गई है और उनमें से चार की ओर संकेत करते हुए उन्हें नामदेव की रचनाओं से उद्धृत की गई कुछ पंक्तियों द्वारा प्रमाणित करने की चेष्टा करते हुए उन्होंने अंत में कहा है कि 'इसीलिये हम उन्हें उत्तर भारत में निर्गुणभक्ति मत का प्रथम प्रचारक और प्रवर्तक तथा कबीर आदि संतों का पथप्रदर्शक मानते हैं,' जिससे कदाचित सभी किसी को पूर्ण संतोष न हो सकेगा। जिन चार विशेषताओं का शर्मा जी ने उल्लेख किया है उन्हें उन्होंने, मेरी समझ में, अधूरा एवं विकृत रूप दे डाला है जो इसके लिये एक बहुत बड़ा कारण होगा। पहली विशेषता जिसे उन्होंने 'प्रत्यक्ष अनुभव से सत्यान्वेषण' नाम दिया है, उसके आगे 'तथा उसके साथ तद्रूप की स्थिति' भी होना चाहिए था। इसी प्रकार दूसरी विशेषता का रूप भी यदि केवल 'सद्गुरु महत्त्व प्रतिपादन' मात्र न होकर 'सद्गुरु महत्त्व की स्वीकृति के साथ आत्मनिर्भरता का आग्रह' जैसा दीख पड़ता तो वह उक्त पुस्तक में की गई बातों को संभवतः कहीं अधिक ठीक ढंग से प्रकट करता। इसके सिवाय तीसरी विशेषता के विषय में भी कहा जाता है कि उसे 'सुमिरन वा नामस्मरण का आग्रह' मात्र ही न रहना चाहिए, प्रत्युत उसमें इसके साथ ही, उक्त पुस्तक की इस पंक्ति का आशय भी आ जाना चाहिए था — 'फिर भी इनकी प्रधान साधना अपने अंतःकरण को शुद्ध व निर्मल रखते हुए अपने सिद्धांत व व्यवहार में पूर्ण एकता लाने के प्रयत्न में ही केंद्रित है' (पृ० १५), जिसे न जाने क्यों छोड़ दिया गया है। चौथी विशेषता अर्थात् 'बाह्याडंबर की व्यर्थता', वस्तुतः उन तीनों विशेषताओं का ही एक आवश्यक परिणाम-स्वरूप मात्र है जिस कारण उक्त पुस्तक के अंतर्गत इस प्रसंग में उसकी चर्चा नहीं की गई है। जहाँ तक 'माइया मोहिया' वाले प्रसंग का प्रश्न है वह 'आदिग्रंथ' के अंतर्गत पाये जानेवाले 'सलोक' २१२ व २१३ पर आधारित है जो 'सलोक-कबीर के' शीर्षक के नीचे आते हैं और जिनमें संत नामदेव तथा त्रिलोचन के बीच हुई किसी बातचीत की ओर संकेत किया गया है। ऐसी बातचीत अधिकतर काल्पनिक ही हो सकती है और इसका उतना महत्व नहीं है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस कारण उल्लिखित अवतरण में 'यह भी ध्वनि निकलती है' तथा 'कदाचित् पूर्ण विरक्ति कभी भी नहीं रही' जैसे वाक्यांशों के प्रयोग कर दिए गए हैं और इस प्रकार उक्त निष्कर्ष यहाँ पर वस्तुतः कुछ संदिग्ध सा ही रह भी गया है। अतएव, संत नामदेव को उत्तरी भारत के संतमत का प्रवर्तक स्वीकार करने में किसी को कभी, केवल इसी आधार पर 'झिझक' नहीं हो सकती। वैसा न कर सकने के लिये कदाचित् स्वयं शर्मा जी की यह धारणा भी अपर्याप्त नहीं कही जा सकती — 'नामदेव जो पहले विठोवा की मूर्ति के उपासक भक्त थे ज्ञानेश्वर और उनकी बहन मुक्ताबाई की प्रेरणा से नाथपंथी विसोवा खेचर के शिष्य हो 'निर्गुनिया' बन गये; परंतु उनके हृदय पर अंकित विट्ठल की प्रतिमा ज्ञान से आच्छादित नहीं हो पाई।' (पृ० 'ध') जिससे संभवतः कोई भी असहमत नहीं हो सकता। उनका यह कथन भी केवल किंचित हेर फेर के ही साथ सर्वसंमत ठहराया जा सकता है — 'उत्तर भारत के ज्ञानाश्रयी हिंदी संतों ने जिस निर्गुणधारा से देश के जनमन को आप्लावित किया उसका स्रोत वास्तव में मराठी संत नामदेव के हिंदी पदों में है।' (पृ० 'ध')।

समालोच्य ग्रंथ के अंतर्गत संत सेना नाई का 'महाराष्ट्रीय' होना स्वीकार किया गया है और इसके लिये महीपति की 'भक्तिविजय', स्वामी रामानंद के 'जीवनकाल (सं० १४२५-१४५६)' तथा उनकी मराठी रचनाओं के 'भीतरी साक्ष्य' को आधार माना गया है। परंतु यह प्रश्न अभी तक बहुत विवादास्पद रहता आया है और अनेक लेखकों ने इसके विपरीत सेना को उत्तरी वा मध्यभारत का ही निवासी बतलाया है। एक मराठी पुस्तक 'पंजावोतील नामदेव' के लेखक शं० पु० जोशी का कहना है कि 'सेना नाई स्वामी रामानंद का समकालीन था और जबलपुर के निकटवर्ती 'बांदूगढ़' के राजा का नौकर था। मैंने शोध करके यह मत निश्चित किया है कि वह नामदेव का समकालीन न होकर उनका परवर्ती था तथा महाराष्ट्रीय न होकर उत्तर का निवासी था। वह पंढरपुर का एकनिष्ठ वारकरी था और उसके कुछ मराठी अभंग भी मिलते हैं। किंतु इसके कारण उसे महाराष्ट्रीय भी मान लेना अविचार की बात होगी जैसे कबीर द्वारा रचित एक दो मराठी पदों के कारण उन्हें हम महाराष्ट्रीय नहीं ठहरा सकते।'। (पृ० २५)। शर्माजी ने सेना के महाराष्ट्रीय होने का एक प्रमाण यह भी दिया है कि उसकी रचनाओं की मराठी भाषा एवं भाव से 'उसका महाराष्ट्रीय जीवन से अत्यधिक परिचय सिद्ध होता है।' किंतु ऐसी बात उस दशा में भी असंभव नहीं कही जा सकती जब वह बहुत दिनों तक पंढरपुर में रह चुका हो। वास्तव में, अभी तक उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर यह निश्चित रूप से कह देना कि संत सेनानाई का जन्म अमुक प्रदेश वा नगर ही था सरल नहीं है।

चतुर्थ अध्याय के तृतीय खंड एवं चतुर्थ खंड के अंतर्गत संत तुकाराम से लेकर संत माणिक तक का परिचय दिया गया मिलता है और इसके साथ ही उन संत कवियों की उपलब्ध हिंदी रचनाओं का न्यूनाधिक विवेचन भी पाया जाता है जो सर्वथा प्रशंसनीय है। ग्रंथ के अंतिम या पाँचवें अध्याय में इसी प्रकार मराठी संतों द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट छंदों तथा काव्यप्रकारों का वर्णन किया गया है जिससे उनकी हिंदी रचनाओं के इस अंग पर भी बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है और उनकी हिंदी के लिये, देन का मूल्य बढ़ जाना जान पड़ता है। इस ग्रंथ के परिशिष्ट (क) में जिन संत वाणियों का संग्रह किया गया है उनमें से अधिकांश हमारे लिये सर्वथा नवीन है जिस कारण न तो हम उनकी प्रामाणिकता की आवश्यक परीक्षा कर सकते हैं और न उनके पाठों का कोई निश्चित रूप ही निर्धारित कर सकते हैं। फिर भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतनी तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि, इन रचनाओं के प्रकाश में आ जाने के कारण, हिंदी के उपलब्ध संत साहित्य की भी वृद्धि होगी। विद्वान् लेखक ने इस ग्रंथ के अंतर्गत यत्रतत्र कुछ महत्वपूर्ण छायाचित्र एवं मानचित्र भी दिए हैं जो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ग्रंथ के आरंभ में ही मराठीभाषी क्षेत्र का एक मानचित्र संलग्न है जिसमें प्रमुख नगरों के नाम भी अंकित कर दिए गए हैं। इसी प्रकार पृ० ८१ के पहले जो दो छायाचित्र दिए गए हैं उनमें शक संवत् की बारहवीं शताब्दी के महानुभावी संत दामोदर पंडित की हिंदी रचनाओं के कुछ ऐसे अंश प्रदर्शित किए गए हैं जो किसी 'लगभग तीन सौ वर्ष प्राचीन पांडुलिपि' में मिले हैं। शेष चित्रों में पंढरपुर के 'विठोबा' की मूर्ति, श्री राम की प्राचीन प्रतिमा तथा अजंता एवं एलोरा की गुफाओं के छायाचित्र हैं जो अपना पृथक् महत्व रखते हैं।

इस प्रकार 'हिंदी को मराठी संतों की देन' को प्रायः सभी प्रकार से पूर्ण और आकर्षक बनाने की चेष्टा की गई है। इसे पढ़ते समय कतिपय छोटी मोटी अशुद्धियाँ अवश्य दृष्टि में आ जाती हैं किंतु उनमें से भी बहुतेरी केवल छापे की भूल हो सकती है। उदाहरण के लिये 'ज्ञानेश्वरी' का 'ज्ञानेश्वर' (पृ० १०७) 'भगति' का 'प्रगति' (पृ० १३०), 'शुकाचार्य का 'शुक्राचार्य' (पृ० १३७) तथा 'महतारी' का 'महारानी' (पृ० २०५) हो जाना अथवा सन् '१२९४' का '१९९४' (पृ० ९३) उतना कठिन नहीं कहा जा सकता। पृ० ८२ का 'पूरवर्ती, 'पूर्ववर्त्ती' के स्थान पर कैसे आ गया, पृ० ५७ का 'पर' आवश्यक होता हुआ भी वहाँ कैसे पहुँच गया और इसी प्रकार पृ० ९० का 'शके १९१५' वहाँ पर वस्तुतः, किस निश्चित काल की ओर संकेत करता है जल्दी समझ में नहीं आता और न इसे केवल 'प्रेस की भूल' कह देने मात्र से ही हमें पूरा संतोष हो पाता है।

परंतु इस प्रकार की भूलें कभी अधिक महत्व नहीं रखती और पुस्तक के उन गुणों के सामने स्वभावतः छिप जाती हैं, जिनकी ओर हमने इसके पहले यथास्थान संकेत करने का प्रयत्न किया है तथा जिसके कारण हमारे आलोचनासाहित्य की निःसंदेह श्रीवृद्धि हुई है। ऐसा उपादेय ग्रंथ प्रकाशित करनेवाली परिषद् को हम अपनी हार्दिक बधाई अर्पित करते हैं।[1]

—परशुराम चतुर्वेदी

*

१. हिंदी को मराठी संतों की देन—डा० विनयमोहन शर्मा, प्रकाशक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी वक्रोक्तिजीवित

हिंदी - अनुसंधान - परिषद् (दिल्ली विश्वविद्यालय) की हिंदी - अनुसंधान ग्रंथमाला का यह पाँचवाँ प्रकाशन है। उक्त परिषद् का संचालन संपादन डॉ० नगेंद्र के निरीक्षण में हो रहा है। उक्त परिषद् की इसी ग्रंथमाला में 'वामन' की 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' की हिंदी व्याख्या 'हिंदी काव्यालंकारसूत्रवृत्ति भाष्य' नाम से प्रकाशित हो चुकी है। प्रस्तुत ग्रंथ का हिंदी व्याख्यायुक्त यह प्रकाशन विशेष महत्वपूर्ण है।

आचार्य कुंतक(या कुंतल) भारतीय काव्यशास्त्र में संप्रदाय विशेष के प्रवर्तक हैं। साहित्यशास्त्र के इतिहास में उन्होंने एक नूतन संप्रदाय, 'वक्रोक्तिवाद' की उद्भावना की। कुंतक के पूर्व भारतीय अलंकारिकों में प्रमुख रूप से 'अलंकारवाद', 'गुणवाद' या 'रीतिवाद' तथा 'ध्वनिवाद' की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। 'रस' को ध्वनिवादी आनंदवर्धनाचार्य ने काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्व घोषित कर दिया था। ऐसी अवस्था में काव्य की आत्मा के विषय में सर्वथा नवीन मत की प्रौढ़ एवं तलस्पर्शी उद्भावना 'कुंतक' की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है। 'वक्रोक्तिजीवितम्' में 'कुंतक' ने अपने अभिनव सिद्धांत, 'वक्रोक्तिवाद' की स्थापना करते हुए उसका सांगोपांग निरूपण किया है। उन्होंने अपने सिद्धांत में पूर्वप्रचलित सभी प्रमुख काव्यतत्वों का अंतर्भाव करने का प्रयास करते हुए संस्कृत साहित्यालोचन में एक मौलिक एवं क्रांतिपूर्ण दृष्टि उपस्थित की है। यद्यपि 'ध्वनिवाद' के साथ-साथ 'अभिनवगुप्त' द्वारा परिपोषित रससिद्धांत के समक्ष कुंतक का सिद्धांत साहित्यशास्त्र के उत्तरवर्ती आचार्यों में स्वीकृत और प्रचलित न हुआ तथापि उनकी समीक्षा-दृष्टि की मौलिकता का महत्व अक्षुण्ण है।

उक्त 'वक्रोक्ति' सिद्धांत का प्रतिपादक एवं निरूपक एकमात्र ग्रंथ, कुंतक का 'वक्रोक्तिजीवितम्' है। संस्कृत के अलंकारशास्त्रीय कृतियों में बहुत दिनों तक यह ग्रंथ नाममात्र से ज्ञात था। 'डॉ० एस० के० दे' महाशय के अनवरत श्रम के फलस्वरूप इस ग्रंथ के दो संस्कृत संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। 'डॉ० दे' महोदय द्वारा संपादित 'वक्रोक्तिजीवितम्' का प्रथम संस्करण १९२३ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसमें केवल दो उन्मेषमात्र थे। मद्रास के राजकीय पुस्तकालय की एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर इस प्रथम संस्करण का संपादन हुआ था। 'प्रो० जैकोबी' महोदय के साथ 'डॉ० दे' ने 'बर्न युनिवर्सिटी में बड़े श्रम के साथ प्रथम दो उन्मेषों को संपादित किया था। पर तृतीय और चतुर्थ उन्मेषों का पाठ खंडित एवं अशुद्ध होने के कारण आगे संपादन न हो सका।

भारत लौटने पर कलकत्ता विश्वविद्यालय में कार्य करते हुए डॉ० दे महोदय ने पुनः सभी संभव प्रयास किए। मद्रास पुस्तकालय से पुनः एक बार पूर्णतः शुद्ध और अधिक पूर्ण प्रतिलिपि कराई गई। इसके आधार पर प्रथम दो उन्मेषों के संशोधन और खंडित पाठ-योजन में उन्हें सफलता भी मिली। पर इसके आगे बढ़ने में वे असमर्थ रहे। अतः सन् १९२३ ई० में दो उन्मेषों वाला वह संस्करण प्रकाशित हुआ।

इसका दूसरा संस्करण सन् १९२८ ई० में 'डॉ० दे' महोदय ने संशोधित, परिवर्धित एवं पुनःसंपादित रूप में प्रकाशित कराया। इस संस्करण में प्रथम दो उन्मेषों के अतिरिक्त तृतीय उन्मेष का केवल तृतीयांश संपादित है तथा तृतीय उन्मेष का अवशिष्टांश एवं चतुर्थ उन्मेष असंपादित रूप में ही परिशिष्ट के अंतर्गत दिए गए हैं। इस संस्करण के प्रकाशन में 'डॉ० दे' महोदय को 'जैसलमेर' के जैन भांडार से प्राप्त ग्रंथ की प्रतिलिपि से बड़ी सहायता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिली। इस प्रतिलिपि का पाठ पूर्व-प्रतियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध था। परंतु यह प्रति भी अपूर्ण थी। 'वक्रोक्तिजीवितम्' के द्वितीय संस्करण में, जहाँ तक तृतीय उन्मेष का अंश संपादित है, वहीं तक संभवतः यह प्रति थी। इस प्रति की सहायता से भी पूर्ण ग्रंथ का संपादन अपूर्ण ही रहा। फलतः 'डॉ० दे' महोदय ने, जैसा बताया जा चुका है, यथासंभव संशोधित-प्रतिसंस्कृत रूप में इसे प्रकाशित किया।

आठ-दस वर्षों के निरंतर प्रयत्न के पश्चात् भी, ढाका विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष, डॉ० सुशीलकुमार दे, इस ग्रंथ की पूर्ण एवं शुद्ध पांडुलिपि प्राप्त करने में समर्थ न हो सके और ग्रंथ का संपादन तृतीय उन्मेष के कुछ अंश तक ही हो सका। इस उन्मेष के नवीन संपादित अंश का कार्य भी पूर्णतः संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। इसके अंतिम दो-तीन पृष्ठ तो विशेषरूप से पाठ की अशुद्धियों और त्रुटित पाठों से भरे हुए हैं। क्योंकि आधारभूत पांडुलिपियों के सहारे उतना ही कार्य संभव था, जितना 'प्रो० दे' महाशय ने किया।

इस संस्करण के प्रकाशन के पश्चात् अबतक कोई पांडुलिपि या प्रतिलिपि उपलब्ध नहीं हुई है। अतः ग्रंथ के संशोधन या प्रतिसंपादन का पुनः प्रयास संभव नहीं हो सकता। इस संस्करण के प्रकाशित होने के पूर्व जैलमेर के किसी अध्यापक के यहाँ 'पाँच उन्मेषवाले' 'वक्रोक्तिजीवितम्' के होने का पता 'डॉ० दे' को सन् १९२५ में पंडित रामकृष्ण कवि के एक पत्र द्वारा मिला था। यह भी सूचना मिली थी कि वह पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली है। इस समाचार को पाकर भी 'डॉ० दे' महाशय संपादन कार्य करते रहे, हतोत्साह होकर उसे त्याग नहीं दिया। अन्यथा इस द्वितीय संस्करण का प्रकाशन ही न हो पाता। पांच उन्मेषवाला तथाकथित ग्रंथ आजतक प्रकाशित न हुआ और अब तो ऐसा जान पड़ता है कि उक्त सूचना में कुछ रहस्य था।

पूर्व दो संस्करणों के विषय में विस्तार से कहने का सारांश केवल इतना ही है कि उपलब्ध सामग्री के आधार पर वैज्ञानिक पांडुलिपिमूलक पद्धति से संपादन-कार्य जितना पूर्ण हो सकता था, 'डॉ० दे महोदय' ने यथाशक्ति उसे संपन्न किया। उस पद्धति से और अधिक कुछ हो ही नहीं सकता था। आजतक भी कोई दूसरी हस्तलिखित पूर्ण प्रति कहीं उपलब्ध नहीं हो सकी। अतः उक्त अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ, उसी अपूर्ण त्रुटित-खंडित, अंशतः असंपादित-असंशोधित रूपमें पड़ा रहा।

प्रस्तुत संस्करण

डॉ० नगेंद्र के अनुरोध पर, हिंदी अनुसंधान परिषद् दिल्ली के लिए सिद्धांतशिरोमणि आचार्य विश्वेश्वर ने इस ग्रंथ के पुनःसंपादन एवं हिंदी व्याख्याकरण का उत्तरदायित्व स्वीकार किया और प्रस्तुत रूप में यह 'हिंदी वक्रोक्तिजीवित' पुनः संपादित होकर प्रकाशित हुआ।

संस्कृतांश के संपादन-कर्ता एवं हिंदी-व्याख्याकार हैं आचार्य विश्वेश्वर तथा ग्रंथमाला के संपादक डॉ० नगेंद्र ग्रंथ के संपादक हैं।

ग्रंथ की भूमिका

डॉ० नगेंद्र (ग्रंथ-संपादक) द्वारा ग्रंथ के आरंभ में एक अत्यंत विस्तृत एवं विवेचनापूर्ण समालोचनात्मक भूमिका २८२ पृष्ठों में लिखी गई है। इस भूमिकांश में लेखक ने विद्वत्तापूर्ण ढंग से 'वक्रोक्ति'-सिद्धांत के उद्भव, पूर्ववृत्त, विकास आदि का सुस्पष्ट परिचय दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुंतक के पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों ने जिस रूप में 'वक्रोक्ति' का उल्लेख किया और परिचय दिया है, भूमिका के आरंभ में उसका निरूपण किया गया है। तदनंतर 'कुंतक' द्वारा काव्य में 'वक्रोक्ति'-सिद्धांत की स्थापना का परिचय देते हुए यह दिखाया गया है कि 'वक्रोक्ति'-सिद्धांत, के अनुसार काव्य का स्वरूप कैसा प्रतिपादित हुआ है। काव्य-प्रयोजन और काव्य-हेतु का निरूपण करने के पश्चात् भूमिका में विस्तार के साथ 'वक्रोक्ति' की परिभाषा देकर उसकी विचारात्मक व्याख्या की गई है। 'कुंतक' के मतानुसार काव्योक्तिशैली तथा शास्त्राख्यानशैली और व्यवहार-निर्वाहशैली का अंतर बताते हुए काव्यशैली के भेदक गुणधर्मों का विचार किया गया है। काव्य में कविकर्तृत्व, प्रतिभा आदि का निरूपणात्मक विवेचन विस्तार के साथ हुआ है। इसके अनंतर 'वक्रोक्ति' के षट-भेदों का पूर्ण एवं समीक्षात्मक परिचय दिया गया है। 'वक्रोक्ति' तथा अन्य भारतीय काव्य-सिद्धांतों का तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन लगभग नब्बे पृष्ठों में विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है। हिंदी के कवियों और आलंकारिकों द्वारा 'वक्रोक्ति' सिद्धांत किस सीमा तक और किस रूप में गृहीत हुआ है — इसका भी विवेचन किया गया है। इसी प्रसंग में आधुनिक कुछ कवियों-आलोचकों के मतों का भी उल्लेख किया गया है। वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल के विचारकों का भी विश्लेषणात्मक समीक्षण भूमिका - लेखक ने किया है।

इन सबके साथ-साथ पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र में काव्यगत उक्तिवक्रता के मूलभूत तत्वों का परिशीलनात्मक निरूपण और विवेचन प्रस्तुत करते हुए आलोचक ने अपने विचार भी उपस्थित किए हैं।

अंत में संपादक ने पूर्व-विवेचित अध्ययन के आधार पर वक्रोक्तिवाद का मूल्यांकन और परीक्षण-परिणाम का समीक्षणात्मक आकलन प्रस्तुत किया है। इस प्रसंग में वक्रोक्ति-सिद्धांत की व्यापकता का उल्लेख करते हुए उक्त मत के प्रतिष्ठापक आचार्य कुंतल की तत्वदर्शिनी प्रतिभा का परिचय दिया गया है। कुंतक के अनुसार, कविव्यापार-गत उपस्थापन-कौशल के अंतर्गत किस भाँति काव्यगत रमणीयता तथा भावप्रवण कल्पनाशीलता के समस्त विधाओं का अंतर्भाव होता है, अनुभूतिपक्ष, बोधपक्ष एवं कलापक्ष-इन तीनों का कैसे संनिवेश होता है, इसका संकेत किया गया है।

यह भूमिका काव्य के एक प्रौढ़ सिद्धांत का व्यापक परिचय देने के कारण स्वतंत्र रीति से अत्यंत महत्वपूर्ण है। भूमिका-लेखक ने बड़े मनोयोग और पांडित्य के साथ प्रश्न एवं अद्यतन, प्राच्य एवं पाश्चात्य दृष्टियों के प्रकाश में कुंतक के पक्ष की स्थापना की है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि अभिनवगुप्त, महिम भट्ट और मंमट आदि के सैद्धांतिक समीक्षण का पूर्णतः आकलन किया जाय तो यह दिखाई देगा कि 'कुंतक' के सिद्धांत में वह अपेक्षित एवं व्यापक पूर्णता नहीं है जो होनी चाहिए। विविध काव्य-उपादानों का जिस रीति से 'वक्रता' के अंतर्गत समावेश किया गया है, वह पूर्णतः मन में बैठता नहीं वरन् अंशतः आयासित, तर्क द्वारा साधितमात्र है। संभवतः भूमिका-संपादक ने इस तथ्य की घोषणा करने से अपने को बचाने का प्रयास किया है। फिर भी प्रस्तुत भूमिका के वस्तु-विवेचन में अंतर्भेदिनी प्रौढ़ता का परिचय मिलता है। यद्यपि इसके पूर्व भी 'भारतीय साहित्यशास्त्र' (द्वितीय भाग) में तथा 'वक्रोक्ति और अभिव्यंजना' नामक पुस्तक में इस विषय का निरूपण किया गया है तथापि प्रस्तुत विवेचना द्वारा अनेक मौलिक एवं गंभीर विचार हमारे सामने प्रस्तुत किए गए हैं जो पर्याप्त मननीय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल ग्रंथ का पुनः संपादन

आचार्य विश्वेश्वर ने समग्र प्रस्तुत ग्रंथ का और मुख्यतः त्रुटित तथा असंपादित अंश का पुनः संपादन-संशोधन किया है तथा पूरी कृति की हिंदी व्याख्या प्रस्तुत की है।

यह पहले बताया जा चुका है कि मूल ग्रंथ के तृतीय उन्मेष के तृतीयांश तक (ग्यारहवीं कारिका के कुछ भागतक) ही 'डॉ० दे' महोदय संपादन कर सके। उसमें भी अंत का कुछ अंश त्रुटित और अशुद्ध पाठों से युक्त है।

किसी अन्य नवीन पांडुलिपि या हस्तलेख के उपलब्ध न होने से आचार्य विश्वेश्वर को पूर्व-संपादित १९२८ ई० के द्वितीय संस्करण का ही अवलंबन लेना पड़ा। वैज्ञानिक या 'पांडुलिपिमूलक' संपादन-पद्धति के आधार पर जो कुछ भी संभव था वह 'डॉ० दे महोदय' द्वारा किया जा चुका था। अतः आचार्य विश्वेश्वर को अपनी संपादन-पद्धति बदलनी पड़ी।

उन्होंने इस प्रस्तावित अभिनव संस्करण के संपादन में 'विवेकाश्रित संपादन-पद्धति' का आश्रय लिया। पाठ-निर्धारण और पाठ-संशोधन के लिये उन्हें अपने बुद्धि-विवेक पर निर्भर होकर संपादन कार्य करना पड़ा और अनेक स्थलों पर पांडुलिपि पर आधारित पाठ की उपेक्षा करके विवेकानुसार पाठ की योजना और शुद्धि इस ढंग से करनी पड़ी है जिससे कि ग्रंथ का आशय स्पष्ट हो सके। पर इसके साथ ही साथ व्याख्याकार ने हस्तलेखाश्रित पाठ को भी पादटिप्पणियों में सुरक्षित रखा है। इस प्रकार श्री विश्वेश्वर ने असंपादित एवं त्रुटित अंशों का सुव्यवस्थित संपादन करके ग्रंथ को बोधगम्य बनाने का प्रयास किया है। यह कार्य जितने श्रम, अध्ययन और वैदुष्य के द्वारा साध्य हो सका है, विद्वज्जन स्वयं उसकी कल्पना कर सकते हैं। इस प्रयास के लिये व्याख्याकर अभिनंदन के पात्र हैं।

उपर्युक्त रीति से संपादन करने में व्याख्याकार ने स्वमति-प्रयोग के कार्य किये हैं। बहुत से स्थलों पर ऐसे पाठ थे जो स्थानभ्रष्ट होकर, जैसा कि ग्रंथ का आमुख पढ़ने से प्रतीत है, अन्यत्र लग गए थे। फलतः मूल ग्रंथ दोनों ही स्थलों पर दुर्ज्ञेय, दुर्बोध्य तथा अव्याखेय हो गया है। व्याख्याकार ने विवेकाश्रित संपादन-पद्धति के आधार पर ग्रंथ के ऐसे पाठ-स्थलों को व्यवस्थित किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ के मूलांश-संपादन में आचार्य विश्वेश्वर ने नीचे निर्दिष्ट विशेष उल्लेखनीय कार्य किए हैं।

(क) स्थानभ्रष्ट (अस्थान-स्थित) ग्रंथांश को ग्रंथ में यथास्थान प्रतिष्ठित करना।

यह कार्य अनेकत्र करना पड़ा जिसके उदाहरण का निर्देश 'आमुख में उल्लिखित है।

(ख) अधिक या असंगत पाठों को मूल ग्रंथ से हटा देना। यद्यपि पाद-टिप्पणी में ऐसे अंशों का उल्लेख कर दिया गया है।

(ग) कहीं-कहीं (यद्यपि बहुत ही कम स्थलों पर) लुप्त पाठ या त्रुटित पाठ को अपने विचार के अनुसार बनाकर योजित करना।

ऐसे अंश इटैलिक टाइप में दिये गए हैं। पर यह कौशल वहीं अपनाया गया है जहाँ कुछ शब्दों के योजन से आवश्यक तात्पर्य की पूर्ति होती दिखाई पड़ी जिन स्थलों पर पाठ का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक अंश त्रुटित या लुप्त है उन स्थलों को छोड़ देना ही संगत समझा गया है। वहाँ पाठांशों के सूचनार्थ पुष्प चिह्न(❀) दे दिया गया है।

ग्रंथ की प्रतीक-पद्धति

इस ग्रंथ के विषय में व्याख्याकार का अनुमान है कि तृतीय-चतुर्थ उन्मेषों के इन त्रुटिपूर्ण अंशों का जो स्वरूप उपलब्ध है, वह इसी रूप, 'प्रतीक-पद्धति' 'में ग्रंथकार द्वारा' ही लिखा गया है। उनकी कल्पना है कि ग्रंथकार ने 'प्रतीक-पद्धति' में अपने ग्रंथ की रूपरेखा पहले प्रस्तुत की रही होगी। उसी के आधार पर ग्रंथ का विस्तृत रूप में प्रणयन आरंभ किया गया जो तृतीय उन्मेष के लगभग तृतीयांश तक ही पूरा किया जा सका। किसी कारणवश (अस्वस्थता, मृत्यु या किसी अन्य कारण से) आगे का ग्रंथ प्रतीक-पद्धति में ही पड़ा रह गया, उसका परिमार्जित परिष्कृत संपादन न हो सका। ग्रंथ उसी रूप में प्रचलित रहा और लिपिकार ने उसी स्वरूप में उसकी प्रतिलिपि की तथा उसी रूप में वह हमें आज उपलब्ध हुआ है।

इस अनुमान की पुष्टि का आधार यह है कि इस भाग में कारिकाएँ पृथक् नहीं मिलती, केवल वृत्ति और उदाहरण मिलते हैं। वृत्ति में प्रतीकों द्वारा कारिकांश मिल पाता है। दूसरा आधार यह है कि अनेक उदाहरण भी पूर्णतः उल्लिखित न होकर प्रतीकमात्र में दिए गए हैं। कहीं-कहीं वृत्तिभाग के गद्य में भी इस प्रकार का लाघव प्रयुक्त है।

इसी प्रकार आचार्य विश्वेश्वर मानते हैं कि 'प्रतीक-पद्धति' में लिखित ग्रंथ पूर्ण है। क्योंकि प्रथम उन्मेष के अट्ठारहवें श्लोक में वर्णित षड्विध वक्रताओं का निरूपण प्रतीकात्मक रूप में यहाँ समाप्त हो जाता है। कोई निरूप्यविवेच्य अंश अवशिष्ट नहीं रहता।

कारिकाओं की योजना में भी व्याख्याकार ने प्रौढ़ अध्ययन और मनन का परिचय देते हुए वृत्तिस्थित प्रतीकों के आधार पर कारिकाओं का आकलन किया है।

अतः प्रस्तुत रूप में संस्कृत मूल का संपादन करने में ग्रंथकार ने पर्याप्त प्राज्ञता और प्रतिपत्ति का परिचय दिया है।

फिर भी इन सब प्रयत्नों का परिणाम इतना ही हो सका है कि वैदुष्यपूर्ण प्रयत्न द्वारा किसी सीमा तक कुंतल के मत को समझने योग्य ग्रंथ हो गया है। अन्यथा अधिक या असंगत पाठांश को जब कुछ अंश के त्रुटित रहने पर हटाया गया है तब उसका पूर्ण समर्थन नहीं हो सकता। क्योंकि जिस अंश को अधिक या असंगत कहकर त्रुटितांश के पूर्व हटाकर तर्कसंगत समझ लिया गया है, बहुत संभव है, पूर्ण पाठ होने पर, वहाँ से हटाया गया अंश अधिक सुसंगत तथा विषय - निरूपक होता।

इसी प्रकार त्रुटित पाठों की योजना भी केवल कामचलाऊ प्रयास है। क्योंकि कितना अंश और किस ढंग से मूल में रहता, इसका ठीक-ठीक अनुमान करना अत्यंत दुष्कर अथवा असंभवप्राय है।

ग्रंथ की 'प्रतीक-पद्धति' का सिद्धांत स्वीकार करके ग्रंथ का यही स्वरूप कुंतककृत मानने का अनुमान भी पुष्ट आधार से समर्थित नहीं कहा जा सकता। कुंतक ने कारिकाओं की रचना अवश्य की रही होगी। वृत्तियों में प्राप्त प्रतीक इसके प्रमाण हैं। इस तथ्य को आचार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वेश्वर भी मानते हैं। यदि कुंतककृत अपूर्ण-पूर्ण समग्र ग्रंथ इतना ही है तब उसीके साथ कारिकांश का भी उपलब्ध होना आवश्यक था।

इस अनुमान के लिये कि प्रस्तुत स्वरूप ग्रंथकारकृत रचिष्यमाण ग्रंथ की रूपरेखा है, कोई सबल हेतु नहीं है। हमारे सामने मूल हस्तलेख नहीं हैं — अतः यह कहना तो संभव नहीं है कि वास्तविक परिस्थिति क्या है, पर दस-दस पंद्रह-पंद्रह पंक्तियों की लंबी-चौड़ी वृत्तियों को देखकर यह अनुमान करना अधिक स्वाभाविक जान पड़ता है कि ग्रंथकार द्वारा यह पूरा ग्रंथ संभवतः प्रथम दो उन्मेषों की व्याख्यात्मक पद्धति में ही निर्मित हुआ रहा होगा।

इस अनुमान को यदि ठीक मान लिया जाय तो यह भी स्वतः सिद्ध हो जाता है कि ग्रंथ की समाप्ति में कम से कम उपसंहारांश अवश्य लुप्त है। 'डॉ० दे महोदय' कहते हैं और आचार्य विश्वनाथ ने भी बताया है कि प्रथम उन्मेष में उल्लिखित षड्विध वक्रता का प्रस्तुत ग्रंथ में प्रायः निरूपण हो चुका है। अतः ग्रंथ पूर्ण है। फिर भी जिस धूमधाम से ग्रंथ का उपक्रम किया गया है, उसी शैली में और उसी विस्तार के साथ ग्रंथ के उपसंहार की कल्पना करना असमीचीन न होगा।

अतः ग्रंथ के पांच उन्मेषवाली बात चाहे कोरी कल्पना भले ही हो और ग्रंथ चाहे मूलतः चार ही उन्मेष का रहा हो फिर भी ग्रंथ की समाप्ति में कम से कम प्रौढ़ एवं अनुरूप उपसंहारांश अवश्य रहा होगा जो प्रस्तुत रूप में खंडित है, ऐसा जान पड़ता है।

हिंदी-व्याख्या

ग्रंथ की हिंदी व्याख्या के विषय में अधिक कुछ नहीं कहना है। सिद्धांतशिरोमणि आचार्य विश्वेश्वर के प्रौढ़ पांडित्य और अथक प्रयास ने ग्रंथ के मर्म-प्रकाशन में जो सफलता पाई है, उसको सभी स्वीकार करेंगे। आचार्य जी ने जो हिंदी रूपांतर किया है वह केवल वाक्यानुवाद नहीं है वरन् मर्मप्रकाशिनी व्याख्या है। इस ग्रंथ में हिंदी व्याख्या के माध्यम से विषय का सुस्पष्ट निरूपण हुआ है। यदि संस्कृत से पूर्ण अनभिज्ञों की सुबोध्यता के विचार से इसे थोड़ा और सरल बनाया गया होता तो ग्रंथ का आकार चाहे कुछ और बड़ा हो जाता पर ग्रंथ की उपयोगिता अवश्य बढ़ जाती। क्योंकि अनेक स्थल इस नूतन काव्यवाद में ऐसे अस्पष्ट एवं दुरूह हैं, जिनकी व्याख्या ऐसे ढंग से होनी चाहिए जो सुबोध हो तथा असंस्कृतज्ञों के भी समझ में आ सके। विश्वास है, आचार्य जी अगले संस्करण में इसे कुछ और सरल एवं सुबोध बना देंगे।

अपनी अस्वस्थता के कारण सिद्धांत शिरोमणि जी जो प्रूफ संशोधन का कार्य न कर सके उसके कारण संस्कृतांश में मुद्रण-संबंधी बहुत सी भूलें रह गई हैं। 'जड', 'प्रौढ', 'क्रीडा' 'रूढ' आदि शब्दों के स्थान पर 'जड़', 'प्रौढ़', 'क्रीड़ा' आदि सर्वत्र मुद्रित हैं। आकर संस्कृत में 'ड़ ढ़' ध्वनियाँ होती ही नहीं, वैदिक संस्कृत में होती हैं, पाली में प्रयुक्त हैं तथा हिंदी में है। अगले संस्करण में इसे अवश्य दूर कर देना चाहिए। इसी प्रकार प्राकृतांशों की संस्कृतच्छाया में संधि-विषयक अनेक मुद्रण त्रुटियाँ संशोधित होने से छूट गई हैं। विश्वास है अवश्य ही द्वितीय संस्करण में इनका भी पूर्ण संशोधन हो जायगा।

अपना आलोचनात्मक निवेदन समाप्त करने के पूर्व आचार्य विश्वेश्वर का ध्यान एक बात की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम और 'राजानक' उपाधि के कारण यह अनुमित बात मानी जाती है कि संभवतः कुंतक काश्मीरी थे। यह भी कल्पना की जाती है कि 'वक्रोक्तिजीवितकार' या तो अभिनव गुप्त के कुछ पूर्ववर्ती हैं वा समकालीन अथवा आसपास के हैं। अतः इनकी दार्शनिक दृष्टि संभवतः 'शैव' सिद्धांत से अवश्यमेव प्रभावित रही होगी। आरंभिक मंगलाचरण में—

जगत्त्रितयवैचित्र्यचित्रकर्मविधायिनाम्।
शिवं शक्तिपरिस्पन्द मात्रोपकरणं नुमः॥

प्रयुक्त 'शिव' 'शक्ति', 'परिस्पद' शब्द इस अनुमान के परिपोषक हैं। प्रथम कारिका में भी 'परिस्पन्द' शब्द आया है। अन्यत्र भी 'स्पंद' शब्द अनेक बार प्रयुक्त है। अतः साक्षात् न सही, परंपरया ही, शब्द-अर्थ तथा काव्यसर्जना के संबंध में काश्मीर शैव-दर्शन की दृष्टि से अवश्यमेव कुंतक का सिद्धांत प्रभावित था। इस विषय पर अभी मैंने निर्णयात्मक निष्कर्ष तो नहीं निकाला है, पर ऐसा भान होता है कि 'कुंतक' का अध्ययन करते समय इस ओर भी ध्यान देना चाहिए। आशा है आचार्य विश्वेश्वर इस पर भी विचार करेंगे।

अंत में पुनः मैं आचार्य विश्वेश्वर और डॉ० नगेंद्र का इस चिर-प्रतीक्षित ग्रंथ-प्रकाशन के लिये अभिनंदन करता हूँ और आशा है कि हिंदी जगत् इस रचना से समुचित लाभ उठाएगा।[1]

—करुणापति त्रिपाठी

चार नए कहानी संग्रह

यदि आज के कहानीकार के संबंध में कोई यह कहता है कि अमुक गाँव या कस्बे का कहानीकार है तो वह बेहद नाराज हो जाता है। उसको नाराजगी का मुख्य कारण यह मालूम होता है कि समीक्षक उसके अनुभूतिक्षेत्र को सीमित कर देता है। वह कहानियों में कहानियाँ न ढूँढ़कर गाँव या कस्बा ढूँढ़ने लगता है। पर क्या उन कहानियों में गाँव या कस्बा नहीं होता? उस वातावरण में उगनेवाली जिंदगी में वह वातावरण तो होगा ही। मेरी दृष्टि में इसमें नाराज होने की जरूरत नहीं है। जिसको वह कमजोरी समझता है वह उसकी मजबूती है। आज के जीवन की विविधता में आँख मूँदकर हाथ पाँव मारना खतरे से खाली नहीं है। आज के कहानीकार अपने क्षेत्र और सीमा को पहचान कर काम कर रहे हैं, यह उनकी ईमानदारी ही कही जायगी। अपने क्षेत्र के बाहर जाने पर ही वे प्रायः भटकते हुए दिखाई पड़ते हैं। किसी खास क्षेत्र की कहानियाँ लिखते समय भी संग्रह-त्याग

१. हिंदी वक्रोक्तिजीवित — संपादक, डॉ० नगेंद्र, व्याख्याकार आचार्य श्रीविश्वेश्वर, सिद्धांत शिरोमणि। प्रकाशक – हिंदी - अनुसंधान - परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली। पृ० सं० २८२+२७+५५८। मू० १६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और सूझ-बूझ का परिचय देना पड़ता है। खास क्षेत्र या खित्ते की जिंदगी को कहानी में बाँधते समय उसका दायित्व दुहरा हो जाता है। वह स्थानीय जिंदगी एक ओर स्थानीय होती है दूसरी ओर स्थानीय सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती है। जिस लेखक में जितनी सर्जनात्मक प्रतिभा होगी उसमें यह विशेषता उतनी ही उभर कर आएगी। एक बात और। अपने क्षेत्र से विषयवस्तु का चुनाव करते समय लेखक को अपनी निजी अनुभूतियों से ऊपर उठना होगा, उसे निर्वैयक्तिक होना पड़ेगा। इसके अभाव में वह कहानी के नाम अपने बाप दादे या टोले मुहल्ले की घिसी पिटी बासी बातें कह जायगा। अब उसको कौन समझावे कि रहे होंगे आपके पुरखे कहानियों से अधिक आकर्षक, पर जनाब की निजी उटपटांग बातों से पाठकों का मतलब ! निर्वैयक्तिकता को समझना भी तो सरल नहीं है। इसको वही समझ सकता है जिसके पास व्यक्तित्व हो। व्यक्तित्व का नकाब लगाकर उसको कोई खाक समझेगा !

पर हमारे आलोच्य कहानी संग्रहों के लेखक मोहन राकेश, शिवप्रसाद सिंह, कमलेश्वर और ओंकारनाथ श्रीवास्तव अरसे से कहानियाँ लिख रहे हैं। हाँ, ओंकारनाथ अपेक्षाकृत नए हैं। 'जानवर-जानवर' मोहन राकेश का तीसरा, 'कर्मनाशा की हार' शिवप्रसाद सिंह का दूसरा और 'कस्बे का आदमी' कमलेश्वर का दूसरा कहानी संग्रह है। इसलिये समीक्षक के लिये आवश्यक है कि वह इन संग्रहों की निरपेक्ष छानबीन न कर यह भी देखे कि ये उन्हें विकास की किस मंजिल पर छोड़ते हैं।

मोहन राकेश ने जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, 'जीवन की पंकिल गहराइयों' में प्रवेश करने की कोशिश की है।

मोहन राकेश ने 'जीवन की पंकिल गहराइयों' में प्रवेश करने का प्रयास किया है। पंक को उन्होंने प्रायः भागती हुई जिंदगी में देखा है जो रिस्टोरेंट, बसस्टैंड, गिरिजाघर, सराय, होटल आदि में आती जाती रहती है। पर सवाल यह है कि इन पंकिल गहराइयों में उन्होंने क्या देखा है ? जीवन के किन लमहों ने उनकी अनुभूतियों को प्रेरणा दी है ? 'जानवर-जानवर' संग्रह के विश्लेषण से यह लगता है वे जीवन की विवशताओं के कहानीकार हैं। इन विवशताओं का एक छोर अर्थ है तो दूसरा छोर सेक्स। 'काला रोजगार', 'मिस्टर भाटिया' 'आखिरी सामान' और 'जानवर-जानवर' कहानियों में इन छोरों को देखा जा सकता है। किंतु इन छोरों के संनिवेश मात्र से कहानियों को श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। कहानियों की सच्ची कसौटी प्रभावान्विति है और प्रभावान्विति - कहानी की वस्तु सदा शिल्प पर निर्भर है। कहना न होगा कि वस्तु और शिल्प में कोई तात्विक अंतर नहीं होता। इस दृष्टि से 'जानवर और जानवर' इस संग्रह की सर्वोत्तम कहानी है। इसका व्यंग्य इतना तीखा हैं, विवशता इतनी मूक है और शिल्प इतना सजग है कि कहानी सप्राण हो उठी है। आखिर में गिरजे का 'डिंग - डांग', डिंग - डांग' कहानी की व्यंजना को और भी प्रखर बना देता है। 'काला रोजगार' और 'आखिरी सामान' में चित्रित विवशता भी पाठकों की सहानुभूति प्राप्त कर लेती है। 'आखिरी सामान' का दर्द अधिक गहरा है। 'आर्द्रा' दूसरी तरह की कहानी है जो प्राणवत्ता की दृष्टि से अन्य कहानियों को पीछे छोड़ देती है। 'मवाली' में भी विवशता है जो अपने क्षोभ के कारण सजीव बन गई है। 'वासना की छाया में', 'परमात्मा का कुत्ता' तथा कुछ अन्य कहानियाँ भरती की कहानियाँ हैं। पर 'नए बादल' में जो पंक है उसकी गहराइयों में जिंदगी की जो विविधता और शक्ति दिखाई पड़ती है वह जानवर - जानवर में किंचित मंद पड़ गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

110768

शिवप्रसाद सिंह का 'कर्मनाशा की हार' शीर्षक उनके कहानी संग्रह को ही प्रतीकात्मक अर्थ नहीं देता है बल्कि वह लेखक के जीवनदर्शन का भी द्योतक है। इस दर्शन के कारण ही 'आर पार की माला' के बाद यह संग्रह उसके विकास की दूसरी मंजिल बन सका है। वह मनुष्य की शक्ति का विश्वासी और उसके संघर्षों के प्रति आस्थावान है। संभवतः अपने इसी संबल के कारण विकास के मार्ग में उसमें मंथरता नहीं दिखाई पड़ती, चौराहों और मोड़ों पर भी अपना रास्ता पहचानने में उसे भटकना नहीं पड़ता है। इन आस्थाओं और विश्वासों ने उसकी अनुभूतियों को प्रेरणा दी है। इसका मतलब यह नहीं है कि वह किसी 'वाद' विशेष का हिमायती है। वादों से उसका कोई मतलब नहीं है — मतलब है तो मनुष्य की कमजोरियों में लिपटी हुई महानता से।

उपर्युक्त कथन के सबूत में 'कर्मनाशा की हार', 'पापजीवी', 'बिंदामहराज' और 'वशीकरण' को उद्धृत किया जा सकता है। ये सभी कहानियाँ लेखक के जाने-पहचाने क्षेत्र की कहानियाँ हैं। इनमें लेखक ने उन मर्मस्पर्शी लमहों को पकड़ा है जो जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाने के साथ साथ कहानी के कहानीपन में कहीं पर भी विकृति नहीं ले आ पाते। इसका कारण यह है कि ये क्षण ही लेखक की अनुभूतियाँ हैं।

शिवप्रसाद सिंह की कहानियों के मूल में पैठने पर यह दिखाई पड़ता है कि वे अंधविश्वासों और क्षुद्र स्वार्थों से ढँकी जीवन की अग्नि को पुनः प्रज्वलित कर देना चाहते हैं। 'कर्मनाशा की हार' में फुलमत के मूक प्रेम को जिन संकेतों से व्यक्त किया गया है वे कहानी की भावात्मकता को घनत्व प्रदान करते हैं और स्थान स्थान पर प्रयुक्त प्रतीक संपूर्ण कहानी पर बौद्धिकता का हलका रंग चढ़ा देते हैं। फिर भी इस कहानी को मोड़ देने में जो सतर्कता बरती गई है वह परिलक्षित हो जाती है। किंतु 'पापजीवी' 'बिंदामहराज' और 'वशीकरण' अत्यंत स्वाभाविक ढंग से उगती और विकसित होती हैं। 'पापजीवी' समूचे समाज को कसकर तमाचा जड़ती है क्योंकि 'पापजीवी', का दायित्व उसी पर है। एक पीढ़ी का 'पापजीवी' दूसरी पीढ़ी के 'पापजीवी' से भिन्न हो गया है। इस भिन्नता को कहानीशिल्प के भीतर से ही व्यंजित किया गया है जो उमड़ती हुई नई जिंदगी का एक दृढ़ संकेत देती है। 'बिंदामहराज' में समाज की उपेक्षा और अंधविश्वासों के पाटों में पिसते हुए व्यक्ति का दर्द भरा संगीत है तो 'वशीकरण' में प्यार की विकृतियों से मुरझाए हुए होठों पर मुस्कराती हुई जिंदगी का चंद्रातप। इस शीतलता को भैया, भाभी, मा, मित्री सभी अनुभव करते हैं। सहानुभूति के अभाव में आज की पारिवारिक जिंदगी कितनी भारी और जड़ बनती जा रही है, उसके आ जाने पर परिवार स्वर्ग बन सकता है। यह कहानी इस संग्रह की सर्वोत्कृष्ट कहानी है। इसमें न तो कहीं आरोपित आग्रह है और न शिल्पगत चमत्कार। वस्तु और शिल्प का अलगाव इसमें समाप्त हो गया है। भाभी और देवर के शिष्ट विनोद से कहानी और चमक गई है। यह कहानी लेखक की एक उपलब्धि है।

जिन कहानियों की चर्चा ऊपर की गई है वे अन्य कहानियों को थोड़ा बहुत श्रीहीन कर देती हैं। 'प्रायश्चित्त' कहानी के संयम ने इसे बहुत कुछ सँभाल लिया है। फिर भी इसका दर्द पाठक को अछूता नहीं छोड़ता। यदि इसके अंतिम दो तीन वाक्य निकाल दिये जायँ तो इसकी प्रभावोत्पादकता और बढ़ जाय। 'केवड़े का फूल' का प्राणतत्त्व केवल उसका प्रतीक है।

जिस क्षेत्र या रेंज की चर्चा ऊपर की गई है उसके बाहर जाने पर शिवप्रसाद सिंह की कहानियाँ बहुत अच्छी नहीं बन पड़ी हैं। उदाहरण के लिये 'कहानियों की कहानी',-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'भग्नप्राचीर', 'हाथ का दाग' आदि का नाम लिया जा सकता है। यद्यपि इनमें लेखक शिल्प द्वारा अनुभूतियों की कमी की पूर्ति करना चाहता है फिर भी वे स्वाभाविक प्रवाह में नहीं बँध पाई हैं।

कमलेश्वर के 'कस्बे के आदमी' की अधिकांश कहानियों में कुछ 'मूडों' को अच्छी तरह बाँधा गया है। 'तीन दिन पहले की रात', 'गर्मियों के दिन' 'चायघर', 'सीखचे', 'सचभूठ' ऐसी ही कहानियाँ हैं। मूलतः इनमें एक ही तरह की मनोवृत्ति चित्रित हुई है पर उनके शेड्स भिन्न भिन्न है। इन भागते हुए मूडों में जो अंतर-संघर्ष चित्रित हुआ है वह निषेधात्मक होते हुए भी यथार्थ और रोचक हैं। 'सीखचे' कहानी में अपेक्षाकृत ठहराव अधिक है और अपने प्रतीक के कारण यह अन्य कहानियों से अधिक प्राणवान बन पड़ी है। 'चायघर' और 'सचभूठ' घुटनपूर्ण जिंदगी के उन लमहों की कहानियाँ हैं जो क्षण विशेष में तलखी भर देती हैं। अपने क्षेत्र के बाहर जाकर कमलेश्वर ने जो कहानियाँ लिखी हैं वे स्वयं लेखक की अनुभूतियाँ नहीं पा सकी हैं। 'इंसान हैवान', 'थानेदारसाहब', 'बेकार आदमी' इसी तरह की कहानियाँ हैं।

जिन लोगों ने कमलेश्वर का 'राजा निरबंसिया' संग्रह पढ़ा है उन्हें 'कस्बे का आदमी' किसी तरह संतोषप्रद नहीं लगेगा। 'कस्बे का आदमी' देखते देखते, 'देवा की माँ', 'मुर्दों की दुनिया' और 'राजा निरबंसियां' की छायाएँ उभर उभर आती हैं। फिर तो उनके गहरे धुंध में कस्बे के आदमी के चेहरे बहुत कुछ अनदेखे ही रह जाते हैं। कमलेश्वर को कहानी कहने की कला खूब मालूम है पर उन्हें सजग होकर अपने पहले कहानीसंग्रह की परंपरा को आगे बढ़ाना चाहिए।

'काल सुंदरी' ओंकारनाथ श्रीवास्तव का पहला कहानी संग्रह है। इस संग्रह में भी तीन ही ऐसी कहानियाँ हैं जो हमारा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट कर पाती है — 'काल सुंदरी', 'बाली और बुंदे' और 'सर्वहारा'। लड़कों के ऊधम, बड़ों के हँसी - मजाक के बीच पलनेवाले मूक, पर सच्चे प्रेम को 'काल सुंदरी' में आकर्षक ढंग से चित्रित किया गया है। 'बाले और बुन्दे' में मा-बेटे और बहिन के बीच जिस त्यागमूलक प्रेम को चित्रित किया गया है उसमें एक विशेष ताजगी है। आज की दमघोंट प्रेम कहानियों से परिचित पाठकों को यहाँ पर ताजी हवा का वह हल्का स्पर्श मिलता है जो जिंदगी को गुदागुदा देता है। सर्वहारा में भी निस्वार्थ प्रेम का वह पहलू अंकित किया गया है जो त्याग का विश्वासी है। पर मनोवैज्ञानिक प्रतीकों की भूलभुलैया में 'नागपूजा' की कहानी भटक गई है, भोंपू को कहानी का भोंपू ही समझना चाहिए। 'यही जिंदगी हकीकत, यही जिंदगी फसाना' के सम्बंध में हकीम आगा जैन ऐश का यह कहना पर्याप्त समझना चाहिए — 'मगर इनका कहा यह, आप समझें या खुदा समझें।' जो हो, पर ओंकारनाथ में संभावनाएँ हैं। हाँ, यदि वे बुरा न समझें तो भाषा के संबंध में उन्हें अधिक सचेत होने की जरूरत है।

इन संग्रहों का लेखा जोखा लगाने पर संक्षेप में यही कहना होगा कि हिंदी कहानी साहित्य तेजी से आगे बढ़ रहा है। इस दौड़धूप में इसके चरण प्रायः लड़खड़ा जाते हैं, मार्ग अनचीन्हा रह जाता है और लक्ष्य अपरिचित। राष्ट्रीय आकांक्षाओं की भी इनमें प्रायः उपेक्षा हो गई है। शिल्प की दृष्टि से हिंदी कहानी के विकास के संबंध में दो मत हो नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकते। पर वस्तु (कॉटेंट) की दृष्टि से उनमें वे तत्त्व बहुत कम आ पाए हैं जिन्हें निःसंकोच भारतीय कहा जा सके। इनके प्रति कुछ कहानियाँ जरूर सजग हैं और भावी कहानी की उनसे बड़ी आशाएँ हैं।[1]

—बच्चन सिंह

❀

उर्मिला

इस प्रबंध काव्य में उर्मिला को केंद्र बनाकर श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने रामायण की कथा अपने ढंग से कही है। यह सोचकर कि रामकथा सुप्रसिद्ध है, कवि ने इसे घटनाबहुल नहीं बनाया, क्योंकि उसमें मौलिकता के प्रदर्शन का कोई अवकाश नहीं था। और यह तो एक निर्विवाद सत्य है कि वाल्मीकि या तुलसी ने कथा को जो रूप दिया है, उससे श्रेष्ठतर रूप में रामकथा को प्रस्तुत करना संभव नहीं है, अतः कुछ चुनी हुई महत्वपूर्ण घटनाओं की मानसिक प्रतिक्रियाओं का विस्तृत एवं कल्पनाप्रसूत वर्णन ही इस काव्यग्रंथ की विशेषता है। मिथिला, अयोध्या और लंका में जिन नये और अनूठे प्रसंगों की उद्भावना कवि ने की है वे उसकी मौलिक प्रतिभा के परिचायक हैं और काव्य-सृजन की सार्थकता को सिद्ध करते हैं।

इस ग्रंथ में रामकथा के विशाल पट को एक परिवार तक, परिवार में भी दंपति के संयोग-वियोग तक, 'नवीन' जी ने सीमित कर दिया है, लेकिन प्रेम का जैसा सांगोपांग और सूक्ष्म वर्णन उन्होंने किया है, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन है। लक्ष्मण और उर्मिला यदि संयोग-वियोग में हैं तो फिर प्रकृति का एक एक कण संयोग-वियोग में है। इस प्रकार व्यक्तिगत प्रेम को विराट प्रेमतत्व से संबद्ध कर कवि ने उसे बहुत ऊँचा उठा दिया है। कवि का यही उदात्त दृष्टिकोण समस्त काव्य का मूलाधार है। भेद में अभेद की प्रतिष्ठा करना, द्वैत से अद्वैत की ओर जाना, स्थूल को आध्यात्मिक स्तर तक उठाना, उसका स्वभाव ही बन गया है। संक्षेप में जीवन को उसकी दार्शनिक पीठिका में स्थापित कर 'नवीन' जी ने उसे महिमान्वित कर दिया है।

राम-रावण-युद्ध को कवि ने आर्य-अनार्य-संस्कृतियों के संघर्ष के रूप में स्वीकार किया है। इसमें राम हैं अध्यात्मवाद के पोषक और रावण जड़वाद का समर्थक। इस जड़वाद को नवीन जी ने पदार्थवाद, भोगवाद और राक्षसवाद के नाम से भी पुकारा है। राज्याभिषेक के समय राम ने विभीषण को उपदेश देते हुए इस बात पर खेद प्रकट किया है कि वे प्रयत्न

१. जानवर - जानवर, ले० मोहन राकेश, प्र० राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली
कर्मनाशा की हार, ले० शिवप्रसादसिंह, प्र० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
कस्बे का आदमी, ले० कमलेश्वर, प्र० श्रमजीवी प्रकाशन, इलाहाबाद
काल सुंदरी, ले० ओंकारनाथ श्रीवास्तव, प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने पर भी रावण का हृदयपरिवर्तन न कर सके। यह हृदय परिवर्तन आधुनिक युग की पुकार है और इस उदार भावना पर गांधीवाद का प्रभाव है। इस प्रकार के दोषों से किसी भी युग के कवियों का बचना कठिन है।

यह काव्य ग्रंथ घटनाप्रधान न होकर भावनाप्रधान है, अतः विशिष्ट प्रकार के पाठक ही इसमें रस ले सकेंगे। भावनाओं के चित्रण में भी कवि ने अनुपात का ध्यान नहीं रखा है। अनेक स्थलों पर ऐसा लगता है कि कवि कथा के अनुरोध से नहीं, बल्कि वर्णन के लिए ही वर्णन कर रहा है, अतः पाठक यहाँ वहाँ ऊब का अनुभव करने लगता है। अलंकरण प्राचीन ढंग का है और भाषा अनेक स्थलों पर अपरिमार्जित है। दोहों का वाग्वैदग्ध्य भी रीतिकालीन अधिक है।

यह कृति राम कथा की एक मार्मिक घटना के मानसिक पक्ष का उज्ज्वल चित्र प्रस्तुत करती है। इसके अध्ययन से पाठक उच्च स्तर की एक ऐसी भावभूमि में प्रवेश करता है जहाँ वह सृष्टि के अनेकमुखी क्रियाकलाप को एक सामंजस्य में पाकर अलौकिक आनंद का अनुभव कर सके। यदि रामचरितमानस के उपरांत रामचंद्रिका और साकेत की रचना की कोई सार्थकता है तो उर्मिला के प्रणयन की अनिवार्यता पर भी संदेह नहीं किया जा सकता।[1]

—विश्वंभर 'मानव'

❀

हिंदी-नाटक

'हिंदी-नाटक' डा० बच्चनसिंह की नाट्यालोचन संबंधी नवीनतम रचना है। इसमें लेखक ने कुछ अधिक गहरे पैठकर हिंदी नाटकों की समीक्षा की है और बहिरंग की अपेक्षा उसके अंतरंग के विवेचन-विश्लेषण पर अधिक बल दिया है।

पूरी पुस्तक कुल १७ अध्यायों में विभक्त है। अंत में चार उपयोगी परिशिष्ट भी जोड़ दिए गए हैं। परिशिष्ट १–२ के विषय में एक बात ध्यान देने की है कि 'हिंदी एकांकी' तथा 'रेडियो नाटक (ध्वनि एकांकी)' को मूल पुस्तक के साथ विवेचित न कर उन्हें परिशिष्ट में स्थान दिया गया है। एकांकी को एक अलग विधा मानते हुए भी हिंदी की नाट्यालोचन-संबंधी पुस्तकों में नाटकों के साथ ही एकांकी नाटकों का विवेचन किया जाता है। ऐसा करना मूलतः अवैज्ञानिक है। अंग्रेजी में भी अनेकांकी नाटकों पर विचार करते हुए एकांकी नाटकों का विचार नहीं किया गया है। डा० बच्चनसिंह ने 'हिंदी एकांकी' और 'रेडियो एकांकी' को (जो नाटक की दो भिन्न और स्वतंत्र विधाएँ हैं) परिशिष्ट में रखकर पहली बार इस अवैज्ञानिकता को मिटाने का प्रयास किया है।

१. उर्मिला — प्रबंध काव्य, लेखक – बालकृष्ण शर्मा नवीन, प्रकाशक — अतरचंद्र कपूर एंड संस दिल्ली, पृष्ठ डिमाई साइज के ६१६, मूल्य १२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल पुस्तक के प्रथम अध्याय में हिंदी नाटकों के उद्भव के पूर्व की अवस्थाओं का विचार किया गया है। संस्कृत नाटकों की परंपरा और उसके हिंदी नाटकों पर पड़नेवाले प्रभाव का विवेचन करते हुए हिंदी नाटकों के मूल को 'लोकनाटकों' में खोजने के प्रयास का खंडन किया गया है। इस संबंध में लेखक का मत है कि 'वस्तुतः लोकनाटकों से हिंदी नाटकों को प्रभावित नहीं कहा जा सकता। इन लोक नाटकों और हिंदी नाटकों के बीच पारसी थिएटर कंपनियों का समय आता है। पारसी कंपनियों पर लोक नाटकों के कुरुचिपूर्ण वातावरण का प्रभाव अवश्य पड़ा और इन कंपनियों का जो कुछ थोड़ा बहुत प्रभाव हिंदी नाटकों पर पड़ा उसके संबंध में कोई विवाद नहीं रह गया है।" (पृष्ठ १७)। इस निष्कर्ष तक पहुँचने में लेखक ने सूक्ष्म विश्लेषण और तर्क का सहारा लिया है। हिंदी नाटकों के आरंभ काल की राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवस्थाओं का विवेचन कर उनके उदय की पृष्ठभूमि का सुंदर और व्यवस्थित रीति से विचार किया गया है।

दूसरा अध्याय भारतेंदु हरिश्चंद्र से संबद्ध है। भारतेंदुयुग की संक्रमणात्मक स्थिति की गहराई में पैठकर लेखक ने कुछ बहुत ही महत्व के निष्कर्ष निकाले हैं। भारतेंदु के अनूदित नाटकों के विषय में प्रकट किए गए उसके विचार काफी बहुमूल्य और वजनी हैं, और लेखक की सूझ-बूझ तथा विश्लेषणक्षमता को स्पष्ट करते हैं। भारतेंदु ने 'रत्नावली', 'मुद्राराक्षस', 'कर्पूरमंजरी' आदि का ही अनुवाद क्यों किया? इस विषय में लेखक के अपने तर्क हैं। भारतेंदुजी प्रकृति से ही रसिक और सहृदय थे, रीतिकालीन प्रभाव भी उनकी रुचि पर कम न थे। अतः दरबारी नाटक उन्हें पसंद थे, साथ ही रत्नावली आदि नाटक अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं तथा पंचसंधियों की दृष्टि से संस्कृत नाटकों में अप्रतिम थे। निश्चय ही इन्हीं कारणों से उक्त नाटकों के अनुवाद भारतेंदुजी ने किए। साथ ही भारतेंदुजी रूढ़िवादिता के कट्टर विरोधी थे। 'मुद्राराक्षस' नाटक के अनुवाद के मूल में भारतेंदु जी की यही धारणा काम करती दीख पड़ती है। इस नाटक में शास्त्रीय व्यवधानों का अतिक्रमण किया गया है अतः अपने नवागत युग के लिए यह नाटक भारतेंदुजी को पसंद आ गया हो, इसकी अधिक संभावना है। भारतेंदु की प्रकृति को समझते हुए अनुवादों के संबंध में डा० बचनसिंह द्वारा लगाए गए अंदाज वजनी और एक नए विचारक्षितिज का उद्घाटन करते हैं।

भारतेंदु की सामाजिक चेतना बहुत प्रबल थी। 'विद्यासुंदर' के छायानुवाद के मूल में डा० बचनसिंह ने भारतेंदुजी की इसी प्रवृत्ति को लक्ष्य किया है और स्वीकार किया है कि 'प्रेमविवाह को माता पिता द्वारा अनुमोदित बाह्यविवाह की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर सिद्ध करने के लिए ही इस नाटक का अनुवाद हुआ।'

भारतेंदु के मौलिक नाटकों के वस्तुविन्यास, चरित्रचित्रण तथा अभिनेयता का विचार भी अधिक नई और वैज्ञानिक रीति से किया गया है। अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं तथा पंचसंधियों आदि की चूल बैठाने का प्रयास न करके उनके साहित्यिक मूल्यांकन को ही दृष्टि में रक्खा गया है। ऐसा करने में ही भारतेंदु जी के साथ न्याय किया जा सकता है क्योंकि वे स्वयं इन शास्त्रीय बंधनों को हिंदी नाटकों के लिये बहुत कुछ अनावश्यक मानते थे। अपने 'नाटक' शीर्षक के निबंध में भारतेंदु जी ने स्पष्ट लिखा है — 'संस्कृत नाटकों की भाँति हिंदी नाटकों में इनका (प्रकरी, विलोभन, पचसंधि आदि का) अनुसंधान करना, वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिंदी नाटक लिखना व्यर्थ है।' (सभा, भारतेंदु ग्रंथावली खंड १, पृ० ७२२)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतेंदुजी के नाटकों की समाजशास्त्रीय दृष्टि से परीक्षा करते हुए डा० बचनसिंह ने इस बात का भी स्पष्टीकरण किया है कि भारतेंदु ने संस्कृत के वर्गविशेष का प्रतिनिधित्व करनेवाले पात्रों (राजाओं आदि) के साथ ही सामान्यजीवन के विविध पात्रों को क्यों लिया ? वे इतना तो स्वीकार करते हैं कि 'चरित्रसृष्टि की दृष्टि से भारतेंदु का विशेष महत्व नहीं आंका जा सकता' किंतु राजाओं - महाराजाओं के साथ ही दलाल, कुंजड़िन, कवि, एडिटर जैसे पात्रों को भारतेंदु जी ने अपने नाटकों में स्थान दिया है उसे 'संस्कृत की पिटी हुई परंपरा को पीछे छोड़कर एक क्रांतिकारी कदम' माना जा सकता है। (दे० पृ० ३३)।

'भारतेंदुयुग : नाटक की विविध दिशाएँ' शीर्षक अध्याय में रोमांटिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, राष्ट्रीय और व्यंग्यात्मक नाटकों का प्रौढ़ विवेचन किया गया है और विश्लेषण-परीक्षण के सहारे कितने ही बहुमूल्य तथ्यों का उद्‌घाटन किया जा सका है।

'प्रसाद – नाटक की नयी दिशा' में खूब जमकर विचार किया गया है। वस्तुयोजना के संबंध में प्रसाद के नाटकों का विवेचन बहुत व्यवस्थित, सुगठित और पर्याप्त मौलिक है। प्रसाद जी के नाटकों में अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं और संधियों की संगति खोजने से डा० बचनसिंह ने अपना विरोध प्रकट किया है — 'कोई श्रेष्ठ नाटककार इन बंधनों को स्वीकार नहीं कर सका। जब संस्कृत के नाटक इस साँचे में अपने को नहीं ढाल सके तब हिंदी नाटकों पर इनका आरोप जबरदस्ती नहीं, तो और क्या है ?' (पृ० ५६)। इसी प्रसंग में अन्वितित्रयी (थ्री यूनीटीज) के सिद्धांत का खंडन करते हुए उन्होंने लिखा हैं — 'एक समय की इन रूढ़ियों के आधार पर प्रसाद के रोमैंटिक नाटकों का आकलन करना अपने आप में एक असंगति है।' (पृ० ५७)।

प्रसाद के नाटकों के लिये इस प्रकार की विश्लेषणात्मक आलोचना (एनेलिटिक क्रिटिसिज्म) की उपयुक्तता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। डा० बचनसिंह की विश्लेषणात्मक आलोचना से प्रसाद के नाटकों की बहुत सी विशेषताएँ अधिक उभर कर सामने आ सकी है।

प्रसाद के समसामयिकों का विचार करते हुए पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र को प्रसाद का परवर्ती कहना ठीक नहीं। मिश्र जी के 'संन्यासी', 'राक्षस का मंदिर' (१९३१ ई०) तथा 'मुक्ति का रहस्य' (१९३२) के पूर्व १९२५ में ही उनका 'अशोक' प्रकाशित हो चुका था। 'अशोक' के पहले प्रसाद जी का केवल एक नाटक 'जनमेजय का नागयज्ञ' प्रकाशित हुआ था। माना कि 'अशोक' बहुत कमजोर है पर इसी नाते उसे छोड़ा नहीं जा सकता।

'प्रसाद के परवर्ती नाटक' के अंतर्गत प्रसाद के परवर्ती ऐतिहासिक नाटकों की प्रवृत्तियों का विचार हुआ है। इन नाटकों को इनकी प्रधान प्रवृत्ति के अनुसार दो श्रेणियों में बाँटा गया है — ऐतिहासिक-राष्ट्रीय, और ऐतिहासिक-सांस्कृतिक। आगे के तीन अध्यायों में इन्हीं का विवेचन-विश्लेषण किया गया है। स्वतंत्रता के पूर्व भी ऐतिहासिक-राष्ट्रीय नाटक लिखे गए और बाद में भी, किंतु इनमें एक मौलिक भेद हैं जिसे लेखक ने बड़ी सफाई से लक्ष्य किया है। स्वतंत्रता के पूर्व लिखे गए ऐतिहासिक-राष्ट्रीय नाटकों का 'मुख्य उद्देश्य था देश की राष्ट्रीय चेतना को उद्‌बुद्ध करना' जब कि बाद के नाटकों का 'प्रधान उद्देश्य जनता में स्वराष्ट्र-रक्षा की भावना भरना तथा देश को पतन के गर्त में ढकेलनेवाले उपकरणों के प्रति हमें सचेत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना' और 'जनसंघटन पर बल देना' है। स्वतंत्रता के पूर्व गांधीजी के प्रभाव से पुराने नैतिक तथा सामाजिक मूल्यों में, जाति तथा वर्णभेद के बंधनों में, नारी के प्रति हमारे दृष्टिकोण में कैसे कैसे परिवर्तन आए, इन्हें नाटकों के विश्लेषण द्वारा जानने का प्रयास अपने में काफ़ी मूल्यवान है। स्वतंत्रता के बादवाले ऐतिहासिक-राष्ट्रीय नाटकों में नायक के रूप में अंकित राजकुमारों तक को जनसेवक रूप में चित्रित करने की प्रवृत्ति की प्रमुखता देखी जाती है।

चौदहवें अध्याय में हिंदी के समस्यानाटकों पर विचार हुआ है और इब्सन, शा आदि के समानांतर रखकर पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्यानाटकों की समीक्षा की गई है। यहाँ मिश्र जी के समस्यानाटकों के उन पक्षों पर तर्कयुक्त विचार किया गया है जो उन्हें बुद्धिवादी नाटककार न होने देकर पुनरुत्थानवादी नाटककार बना देते हैं।

एलिगोरिकल ड्रामा को डा० बचनसिंह ने अन्यापदेशिक नाटक कहा है और नाट्यरूपक, रूपक कथात्मक नाटक, प्रतीकात्मक नाटक एवं अध्यवसित रूपक न कहकर अन्यापदेशिक नाटक कहने के पक्ष में उन्होंने बुद्धिसंगत तर्क उपस्थित किए हैं। हिंदी में देव का 'देवमाया प्रपंच' अन्यापदेशिक नाटक है। संस्कृत में 'प्रबोधचंद्रोदय' (११वीं शती) के अतिरिक्त, इस प्रकार के नाटकों की परंपरा में और कोई रचना नहीं मिलती फिर भी लेखक का अनुमान है कि 'प्रबोधचंद्रोदय के बाद इस श्रेणी के कुछ नाटक अवश्य लिखे गए पर नाट्यसाहित्य में उन्हें उल्लेखनीय नहीं माना गया।' (पृ० १५६)। हिंदी अन्यापदेशिक नाटकों को संस्कृत के 'प्रबोधचंद्रोदय', 'देवमायाप्रपंच' और अंग्रेजी के एलिगोरिकल तथा मोरैल्टीप्लेज के समानांतर रखकर परीक्षा की गई है। लेखक का यह मत ठीक है कि 'हिंदी के अन्यापदेशिक नाटक— कामना, ज्योत्स्ना और नवरस 'प्रबोधचंद्रोदय' तथा 'देवमाया प्रपंच' के उतने निकट नहीं हैं, जितने अंग्रेजी के 'मारेल्टीप्लेज' के।' (पृ० १५८)।

सोलहवें, सत्रहवें अध्याय में क्रमशः 'गीतिनाट्य' और 'सामाजिक नाटक की विवेचना की गई है। गीतिनाट्य की संभावनाओं और विशेषताओं की परीक्षा तथा सामाजिक नाटकों पर किया गया विचार भी कई दृष्टियों से उल्लेख्य है।

चार परिशिष्टों में से प्रथम दो में क्रमशः एकांकी नाटक और रेडियो एकांकी के रचनातंत्र (टेकनीक) आदि का विवेचन है। परिशिष्ट ३ में हिंदी के रंगमंच पर प्रकाश डाला गया है। इस संबंध में काशी की 'नागरी नाट्यकला प्रवर्तक मंडली' का उल्लेख महत्वपूर्ण है। परिशिष्ट ४ में नाटक के सिद्धांतपक्ष की चर्चा है। संस्कृत के नाट्यशास्त्रीय सिद्धांतों, अरस्तू आदि की मान्यताओं तथा अन्य देशी विद्वानों के महत्वपूर्ण विचारों की इसमें सम्यक् विवेचना और परीक्षा की गई है। इससे नाटक के सिद्धांतपक्ष को समझने में निश्चय ही सहायता मिलेगी। निस्संदेह 'हिंदी नाटक' लिखकर डा० बचनसिंह ने हिंदी नाट्यालोचन संबंधी आधुनिक और वैज्ञानिक समीक्षापुस्तक की कमी को दूर किया है।[1]

—राजदेवसिंह

❀

१. हिंदीनाटक—लेखक डा० बचनसिंह; प्रकाशक — साहित्य भवन (प्राइवेट) लि०, प्रयाग, पृष्ठ संख्या २४६, मूल्य ४)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

110768
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेणुका

राष्ट्रीय चेतना को ओजस्वी स्वर देनेवाले हिंदी कवियों में कवि दिनकर का श्रेष्ठ स्थान रहा है। यौवन की स्फूर्ति से युक्त राष्ट्रीय भावना और प्रेम की उमंग की सरल-सुंदर परिणति उनके रेणुका नामक कविता संग्रह में हुई है। इसका पहला संस्करण सन् १९३५ में हुआ था और हिंदी जगत में इसका स्वागत भी खूब हुआ था। ३५ के बाद 'रेणुका' का कई बार मुद्रण हुआ। सन् ५४ में कवि ने इसका नया संस्कार किया है। पहले संस्करण में तीस कविताएँ थीं, इस संस्करण में इकतालीस। इसमें कुछ पुरानी कविताएँ नहीं हैं, चौदह नई कविताएँ जोड़ दी गई हैं। नई रचनाओं में से कुछ विदेशी कविताओं के स्वतंत्र अनुवाद हैं और कुछ मौलिक। इस संस्करण में श्री माखनलाल चतुर्वेदी की भूमिका भी नहीं है। इस प्रकार यह संस्करण नए रूप में प्रकाशित हुआ है।

श्री दिनकर मुख्यतः ओजस्विता और उमंग के कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। ये विशेषताएँ अधिकतर राष्ट्रीयतामूलक भाववस्तु के संदर्भ में प्रकट हुई हैं तो प्रेम के सुकुमार प्रसंगों में भी इनके कारण एक नई दमक आ गई है। छायावादी कविता की स्वातंत्र्यचेतना, जो वर्तमान, भूत और भविष्य से एक साथ संबद्ध है, रेणुका की प्रमुख रचनाओं में सरल-सहज रूप में प्रकाशित है। भावावेग और कल्पना की क्रीड़ा का चमत्कार इन सभी रचनाओं में है। जोड़ी गई नई रचनाओं में शैलीशिल्प का अधिक परिष्कृत रूप मिलता है पर भाववस्तु में कोई खास अंतर नहीं है। कविताप्रेमियों को रेणुका का यह नया रूप प्रियतर लगेगा इसमें संदेह नहीं।[1]

— विद्याविनोद

❀

दिल्ली

इसमें कवि की दिल्ली पर लिखी गई चार कविताएँ — 'नई दिल्ली के प्रति' (१९३३), 'दिल्ली और मास्को' (१९४५), 'हक की पुकार' (१९५२) और 'भारत का यह रेशमी नगर' (१९५४) संकलित हैं।

भूमिका में लिखा है — 'दिल्ली पर लिखी चारो कविताओं को एक साथ पढ़ने पर लोग मेरे दृष्टिकोण को कुछ अधिक न्याय के साथ ग्रहण कर सकेंगे, इसलिए उनका अलग संग्रह

१. रेणुका — ले० दिनकर; प्र० उदयाचल, पटना; पृ० सं० १३९, मू० २॥) ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकाल देने की बात मुझे पसंद आई।' ठीक लिखा है। श्री दिनकर देश और समाज की भावनाओं को वाणी देनेवाले कवि हैं। युग के जीवन के प्रति उनमें अडिग आस्था रही है। इन कविताओं में दिल्ली को केंद्र मानकर युग की भावनाओं को व्यक्त किया गया है क्योंकि यह नगरी भारत के शासकों का केंद्र रहती आई है। विभिन्न समयों में इसके प्रति देशवासियों के मन में विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हुई हैं और कवि ने आवेगमयी शैली में उनकी तदनुरूप अभिव्यक्ति की है।

पहली रचना में विदेशी शासन के दमनचक्र और दिल्ली के विलासमय रूप की कटुता व्यंजित है। दूसरी में रूसियों के नव अभ्युत्थान, वीरत्व और साम्यभाव के प्रति जनता की ललक और दिल्ली के शोषणचक्र के दुष्परिणामों के प्रति आक्रोश व्यक्त करके जनता का उद्बोधन किया गया है। शेष दो रचनाओं में स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद की दिल्ली के प्रति जनसमूह की प्रतिक्रिया व्यक्त की गई है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी देश की प्रगति कितनी मंद है, जनता का दुखदर्द बना ही रह गया और उधर दिल्ली अब भी वारविलासिनी की भाँति ही चटकमटक से भरी है। यही सब बातें ऐसे ढंग से लिखी गई हैं जो पढ़नेसुनने में अच्छी लगती हैं, साथ ही कवि की जनभावना की असंदिग्ध पहचान भी सूचित करती हैं। पाठकों को आधुनिक दिल्ली के विविध रूपों की झाँकी देखने के लिये एक बार यह संग्रह पढ़ देखना चाहिए।[1]

— विद्याविनोद

*

नीम के पत्ते

'नीम के पत्ते' कवि की पंद्रह कविताओं का संग्रह है। इसमें देश की स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद की विभिन्न स्थितियों के प्रति कवि या जनता के आक्रोश और असंतोष की बहुविध अभिव्यक्ति हुई है। देश का विभाजन, स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद राजनीतिज्ञों के पद-लोभ, स्वार्थममता, अधिकारलिप्सा, गांधी जी की हत्या आदि अनेक विषयों ने कवि की भावनाओं को उद्रिक्त किया है, और उसका दुख दर्द, आशा - निराशा, मानव जीवन के विकास में उसकी अटल आस्था आदि मार्मिक ढंग से व्यंजित हुए हैं। कविताएँ बहुत ही रोचक और सजीव हैं।[2]

— विद्याविनोद

*

१. **दिल्ली** — ले० दिनकर ; डिमाई, पृ० २३, मू० ।।।); प्रका०, उदयाचल, पटना।
२. **नीम के पत्ते** — ले० दिनकर; क्रा० पृ० ३६, प्र० उदयाचल, पटना मू० ।।।)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकों का युद्ध

यह एच० जी०. वेल्स के प्रसिद्ध वैज्ञानिक उपन्यास 'वार आफ द वर्ल्ड्स' का रूपांतर है। इस उपन्यास के संबंध में कुछ लिखना अनावश्यक है क्योंकि अंगरेजी उपन्यास के प्रेमी इसके महत्त्व से परिचित हैं। हाँ अनुवाद के संबंध में यह कहना जरूरी है कि वह बहुत ही शिथिल और अशुद्धियों से भरा है। स्थानाभाव के कारण यहाँ उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं। इस प्रकार के अनुवादों से उनका न होना ही अच्छा है।[1]

— क ख ग

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

१. लोकों का युद्ध — मूल लेखक – एच० जी० वेल्स; अनुवादक — रमेश बिसारिया एम० ए०; पृ० २३८; मू० ४); प्रकाशक — राजपाल ऐण्ड संस, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश के कुछ महत्वपूर्ण प्रकाशन

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या	मूल्य
बुद्ध जयन्ती चित्रावली	...	...	६.००
फ्रीडम स्ट्रगल इन उत्तर प्रदेश भाग १	आधारभूत सामग्री	५१४	१०.००
,, ,, भाग २	,, ,,	७३६	१०.००
थाट्स आन एजूकेशन एण्ड एलाईड प्राब्लम्स	डा० संपूर्णानन्द	८१	३.००
ट्रायल्स आफ आवर डिमोक्रेसी	,, ,,	३५	०.७५
इंडियन इंटेलेक्चुअल	,, ,,	३२	०.७५
स्पेस ट्रेवल	,, ,,	२६	०.७५
साइंटिफिक फाउंडेशन आफ अस्ट्रालाजी	,, ,,	२०	०.७५
स्पार्क्स फ्राम ए गवर्नर्स ऐनविल भाग १	श्री क० मा० मुंशी	३६६	५.००
,, ,, ,, भाग २	,,	६१३	८.००
म्युजिशियन्स आई हैव मेट	डा. एस.के. चौबे	१०८	३.००
ग़दर के फूल	श्रीअमृतलाल नागर	२६२	४.५०
संघर्षकालीन नेताओं की जीवनियाँ (द्वितीय संस्करण)	अनेक विद्वानों द्वारा लिखित		१.००
समाजवाद	डा० सम्पूर्णानन्द	३६	०.७५
भारतीय बुद्धिजीवी	,, ,,	३१	०.७५
चन्द्रसखी के लोकगीत और भजन	श्री प्रभुदयाल मीतल	६१	२.००
राष्ट्रीय कविताएँ (संकलन)		११७	०.५०
कालिदास (बालोपयोगी)		१२	०.१०
अमीर खुसरू (बालोपयोगी)		२०	०.२५
जगदीशचन्द्र बसु (बालोपयोगी)		१६	०.१०

स्वच्छ छपाई और आकर्षक आवरण इन ग्रंथों की अपनी विशेषता है। पुस्तक-विक्रेता बिक्री के नियमादि के लिये कृपया पत्र व्यवहार करें।

प्राप्ति स्थान—

१. प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ

२. सूचना साहित्य, फरीदी बिल्डिंग, हजरतगंज, लखनऊ

३. समस्त जिला सूचना अधिकारी, उत्तर प्रदेश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

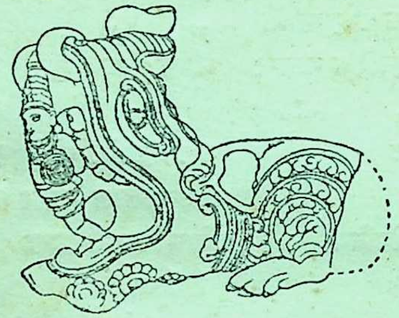

प्रकाशक — डा० राजबली पांडेय, प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी.

मुद्रक — महताब राय, नागरी मुद्रण, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRANCE BOOK

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar